स्वर्गीय न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य
श्रीमद्विजयानन्द सूरि

स्वर्गीय न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य
श्रीमद्विजयानन्द सूरि

नम्र निवेदन

प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री १००८ श्री विजयानन्द सूरीश्वर प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज की गुजरात देश की बड़ोदा राजधानी में [चैत्र शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९९३] बड़े समारोह से मनाई जाने वाली जन्म शताब्दी के मनाने का अधिकार यद्यपि सब से पहिले पंजाब को था, क्योंकि स्वर्गीय गुरुदेव के उपकारों का सब से अधिक ऋणी पंजाब ही है। इस के अतिरिक्त आप श्री के पुनीत जन्म का असाधारण गौरव भी पंजाब ही को प्राप्त है। यदि सच कहा जाय तो आप के सुविनीत वल्लभ की तरह ही आप को पंजाब वल्लभ था। इसी लिये स्वर्ग लोक को अभिनन्दित करने से पहिले ही आप ने अपने वल्लभ देश को अपने प्यारे वल्लभ के सुपुर्द कर दिया था। इस से भी पंजाब ही को इस शताब्दि रूप पुण्य यज्ञ के अनुष्ठान में सब से पहिले दीक्षित होने का अधिकार था। परंतु कई एक अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने से पंजाब इस गौरवान्वित गुरुभक्ति से वञ्चित रहा, जिस का उसे अत्यन्त खेद है। यदि उस को पूज्य गुरुदेव की शताब्दि मनाने का गौरव प्राप्त होना होता तो आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि जी महाराज पंजाब के किसी निकट प्रदेश में अवश्य विराजते होते।

नम्र निवेदन

प्रातः स्मरणीय पूज्य गुरुदेव न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्री १००८ श्री विजयानन्द सूरीश्वर प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज की गुजरात देश की बड़ोदा राजधानी में [चैत्र शुक्ला प्रतिपदा संवत् १९९३] बड़े समारोह से मनाई जाने वाली जन्म शताब्दी के मनाने का अधिकार यद्यपि सब से पहिले पंजाब को था, क्योंकि स्वर्गीय गुरुदेव के उपकारों का सब से अधिक ऋणी पंजाब ही है। इस के अतिरिक्त आप श्री के पुनीत जन्म का असाधारण गौरव भी पंजाब ही को प्राप्त है। यदि सच कहा जाय तो आप के सुविनीत वल्लभ की तरह ही आप को पंजाब वल्लभ था। इसी लिये स्वर्ग लोक को अभिनन्दित करने से पहिले ही आप ने अपने वल्लभ देश को अपने प्यारे वल्लभ के सुपुर्द कर दिया था। इस से भी पंजाब ही को इस शताब्दि रूप पुण्य यज्ञ के अनुष्ठान में सब से पहिले दीक्षित होने का अधिकार था। परंतु कई एक अनिवार्य कारणों के उपस्थित होने से पंजाब इस गौरवान्वित गुरुभक्ति से वञ्चित रहा, जिस का उसे अत्यन्त खेद है। यदि उस को पूज्य गुरुदेव की शताब्दि मनाने का गौरव प्राप्त होना होता तो आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि जी महाराज पंजाब के किसी निकट प्रदेश में अवश्य विराजते होते।

था। तो भी सभा की कार्यकारिणी समिति ने श्रीमान् पं० हंसराज जी शास्त्री, तथा श्रीयुत भाई हंसराज जी एम. ए. पर इस कार्य का भार डाला। उन्होंने इतने थोड़े समय में भी दिन रात लगातार परिश्रम करके इस कार्य को सम्पूर्ण करने का जो कष्ट उठाया, उस के लिये महासभा उन दोनों सज्जनों की बहुत आभारी है।

लगभग १२०० पृष्ठों की पुस्तक के दोनों भागों का दाम केवल आठ आना ही रक्खा गया है, जब कि असल लागत डेढ़ रुपया के करीब आई है। इस का एक मात्र उद्देश्य सर्व साधारण में प्रचार ही है। यदि सर्व सज्जन इसे पढ़ कर लाभ उठायेंगे, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

आभार प्रदर्शन—

श्रीमान् डाक्टर बनारसी दास जी M. A. P. H. D. प्रोफैसर ओरियंटल कालेज लाहौर का भी यह सभा आभार मानती है, जिन्हों ने हमारी प्रेरणा पर "महाराज साहब की भाषा" शीर्षक लेख लिख कर देने की कृपा की है, जो कि इस पुस्तक में दिया गया है।

परमपूज्य जैनाचार्य श्री विजयवल्लभसूरि जी की प्रेरणा से जिन सज्जनों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में धन की सहायता दी है, उन को यह महासभा हार्दिक धन्यवाद देती है।

१०००) सूरत निवासी सेठ नगीनचन्द कपूरचन्द जी जौहरी की धर्मपत्नी श्रीमती रुकमणी बहन

था। तो भी सभा की कार्यकारिणी समिति ने श्रीमान् पं० हंसराज जी शास्त्री, तथा श्रीयुत भाई हंसराज जी एम. ए. पर इस कार्य का भार डाला। उन्होंने इतने थोड़े समय में भी दिन रात लगातार परिश्रम करके इस कार्य को सम्पूर्ण करने का जो कष्ट उठाया, उस के लिये महासभा उन दोनों सज्जनों की बहुत आभारी है।

लगभग १२०० पृष्ठों की पुस्तक के दोनों भागों का दाम केवल आठ आना ही रक्खा गया है, जब कि असल लागत डेढ़ रुपया के करीब आई है। इस का एक मात्र उद्देश्य सर्व साधारण में प्रचार ही है। यदि सर्व सज्जन इसे पढ़ कर लाभ उठायेंगे, तो हम अपना प्रयास सफल समझेंगे।

आभार प्रदर्शन—

श्रीमान् डाक्टर बनारसी दास जी M. A. P. H. D. प्रोफैसर ओरियंटल कालेज लाहौर का भी यह सभा आभार मानती है, जिन्हों ने हमारी प्रेरणा पर "महाराज साहब की भाषा" शीर्षक लेख लिख कर देने की कृपा की है, जो कि इस पुस्तक में दिया गया है।

परमपूज्य जैनाचार्य श्री विजयवल्लभसूरि जी की प्रेरणा से जिन सज्जनों ने इस पुस्तक के प्रकाशन में धन की सहायता दी है, उन को यह महासभा हार्दिक धन्यवाद देती है।

१०००) सूरत निवासी सेठ नगीनचन्द कपूरचन्द जी जौहरी की धर्मपत्नी श्रीमती रुकमणी बहन

प्रासङ्गिक वक्तव्य ।

ग्रन्थकार—

प्रस्तुत ग्रंथ के रचियता स्वनामधन्य आचार्य श्री १००८ श्री विजयानंद सूरि प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज बीसवीं सदी के एक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। आप की सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास, निर्भयता और प्रतिभासम्पत्ति ने जैन समाज के जीर्णतम कलेवर में नवीन रक्त का संचार करने में सचमुच ही एक अद्भुत रसायन का काम किया। आज जैन समाज में धार्मिक और सामाजिक जितनी भी जागृति नज़र आती है, उस का प्रारम्भिक श्रेय अधिक से अधिक आप ही को है। आप की वाणी और लेखिनी ने समाज के जीवन-क्षेत्र में क्रांति के बीज को वपन करके उसे पल्लवित करने में एक श्रमशील चतुर माली का काम किया है। आज समाज के अंदर विचार-स्वतंत्रता का जो वातावरण फैल रहा है, तथा रूढिवाद का अन्त करने के लिये जो तुमुल धर्म युद्ध किया जा रहा है, यह सब इसी का परिणाम है।

पंजाब की मातृभूमि को इस बात का गर्व है कि उस ने वर्तमान युग में एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया कि जो अहिंसा त्याग और तपश्चर्या की सजीव मूर्ति होते हुए अपनी सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास और प्रतिभाबल से

प्रासङ्गिक वक्तव्य

ग्रन्थकार—

प्रस्तुत ग्रंथ के रचियता स्वनामधन्य आचार्य श्री १००८ श्री विजयानंद सूरि प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज वीसवीं सदी के एक युगप्रधान आचार्य हुए हैं। आप की सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास, निर्भयता और प्रतिभासम्पत्ति ने जैन समाज के जीर्णतम कलेवर में नवीन रक्त का संचार करने में सचमुच ही एक अद्भुत रसायन का काम किया। आज जैन समाज में धार्मिक और सामाजिक जितनी भी जागृति नज़र आती है, उस का आरम्भिक श्रेय अधिक से अधिक आप ही को है। आप की वाणी और लेखिनी ने समाज के जीवन-क्षेत्र में क्रांति के बीज को वपन करके उसे पल्लवित करने में एक श्रमशील चतुर माली का काम किया है। आज समाज के अंदर विचार-स्वतंत्रता का जो वातावरण फैल रहा है, तथा रूढिवाद का अन्त करने के लिये जो तुमुल धर्म युद्ध किया जा रहा है, यह सब इसी का परिणाम है।

पंजाब की मातृभूमि को इस बात का गर्व है कि उस ने वर्तमान युग में एक ऐसे महापुरुष को जन्म दिया कि जो अहिंसा त्याग और तपश्चर्या की सजीव मूर्ति होते हुए अपनी सत्यनिष्ठा, आत्मविश्वास और प्रतिभाबल से

और सम्यक्त्वशल्योद्धार, ये विशेष स्थान रखते हैं । अंत में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आप ने जैन संसार के धर्म क्षेत्र में शासन की जो बहुमूल्य सेवायें की हैं, उन के लिये वर्तमान जैन समाज आप का सदैव ऋणी रहेगा ।

ग्रन्थनाम—

प्रस्तुत ग्रंथ का जो नाम रक्खा है, वह विषय निरूपण के सर्वथा अनुरूप है । क्योंकि इस ग्रंथ में जैन धर्म के प्रसिद्ध देव, गुरु और धर्म इन तीन तत्त्वों का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है । और धर्मतत्त्वनिरूपण में जीव अजीव आदि तत्त्वों का भी भलीभांति विवेचन आया है । इस लिये जैनतत्त्वों के वर्णन करने में आदर्शस्वरूप होने से प्रस्तुत ग्रन्थ का 'जैनतत्वादर्श' यह नामकरण बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है ।

विषय विभाग—

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों को १२ परिच्छेदों में

नोट—स्वर्गीय आचार्य श्री के आदर्श जीवन का साद्यन्त स्वाध्याय करने की इच्छा रखने वाले निम्न लिखित पुस्तकों को पढ़ें ।

१. आत्मचरित्र (उर्दू)

२. श्री विजयानन्द सूरि (गुजराती)

३. क्रांतिकारी जैनाचार्य (हिन्दी)

और सम्यक्त्वशल्योद्धार, ये विशेष स्थान रखते हैं । अंत में इतना ही कहना पर्याप्त है कि आप ने जैन संसार के धर्म क्षेत्र में शासन की जो बहुमूल्य सेवायें की हैं, उन के लिये वर्तमान जैन समाज आप का सदैव ऋणी रहेगा ।

ग्रन्थनाम—

प्रस्तुत ग्रंथ का जो नाम रक्खा है, वह विषय निरूपण के सर्वथा अनुरूप है । क्योंकि इस ग्रंथ में जैन धर्म के प्रसिद्ध देव, गुरु और धर्म इन तीन तत्त्वों का विवेचन बड़े विस्तार से किया गया है । और धर्मतत्त्वनिरूपण में जीव अजीव आदि तत्त्वों का भी भलीभांति विवेचन आया है । इस लिये जैनतत्त्वों के वर्णन करने में आदर्शस्वरूप होने से प्रस्तुत ग्रन्थ का 'जैनतत्वादर्श' यह नामकरण बहुत ही उपयुक्त प्रतीत होता है ।

विषय विभाग—

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों को १२ परिच्छेदों में

नोट—स्वर्गीय आचार्य श्री के आदर्श जीवन का साद्यन्त स्वाध्याय करने की इच्छा रखने वाले निम्न लिखित पुस्तकों को पढ़ें ।

१. आत्मचरित्र (उर्दू)

२. श्री विजयानन्द सूरि (गुजराती)

३. क्रांतिकारी जैनाचार्य (हिन्दी)

नवमे और दशवें परिच्छेद में श्रावक का दिनकृत्य पूजाभक्ति, रात्रिकृत्य, पाक्षिक कृत्य, चौमासी और संवत्सरी आदि कृत्यों का विस्तृत विवेचन है।

ग्यारहवें परिच्छेद में भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक का संक्षिप्त इतिहास दिया है।

और बारहवें परिच्छेद में भगवान् महावीर स्वामी के गौतम आदि ग्यारह गणधरों की तात्त्विक चर्चा का उल्लेख करके भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद का उपयोगी इतिवृत्त दिया है। जिस में तत्कालीन प्रमाणिक जैनाचार्यों की कतिपय जीवन घटनाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार यह ग्रन्थ बारह परिच्छेदों में समाप्त किया है।

भाषा—

प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा आज कल की परिष्कृत अथवा छटी हुई हिन्दी भाषा से कुछ विभिन्नता और कुछ समानता रखती हुई हैं। आज से पचास वर्ष पहिले प्रचलित बोलचाल की भाषा से अधिक सम्बन्ध रखने वाली और साहचर्य वशात् पंजाबी, गुजराती और मारवाडी के मुहाविरे के कतिपय शब्दों को साथ लिये हुए है। परन्तु इस से इस के महत्व में कोई कमी नहीं आती। भाषाओं के इतिहास को जानने वाले इस बात की पूरी साक्षी देंगे, कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की भांति भाषा और लिपि में भी परिवर्तन बराबर होता रहता है। परिवर्तन का यह नियम केवल हिन्दी भाषा

नवमे और दशवें परिच्छेद में श्रावक का दिनकृत्य पूजाभक्ति, रात्रिकृत्य, पाक्षिक कृत्य, चौमासी और संवत्सरी आदि कृत्यों का विस्तृत विवेचन है।

ग्यारहवें परिच्छेद में भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक का संक्षिप्त इतिहास दिया है।

और बारहवें परिच्छेद में भगवान् महावीर स्वामी के गौतम आदि ग्यारह गणधरों की तात्त्विक चर्चा का उल्लेख करके भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद का उपयोगी इतिवृत्त दिया है। जिस में तत्कालीन प्रमाणिक जैनाचार्यों की कतिपय जीवन घटनाओं का भी उल्लेख है। इस प्रकार यह ग्रन्थ बारह परिच्छेदों में समाप्त किया है।

भाषा—

प्रस्तुत ग्रंथ की भाषा आज कल की परिष्कृत अथवा छटी हुई हिन्दी भाषा से कुछ विभिन्नता और कुछ समानता रखती हुई है। आज से पचास वर्ष पहिले प्रचलित बोलचाल की भाषा से अधिक सम्बन्ध रखने वाली और साहचर्य वशात् पंजाबी, गुजराती और मारवाडी के मुहाविरे के कतिपय शब्दों को साथ लिये हुए है। परन्तु इस से इस के महत्व में कोई कमी नहीं आती। भाषाओं के इतिहास को जानने वाले इस बात की पूरी साक्षी देंगे, कि अन्य प्राकृतिक वस्तुओं की भांति भाषा और लिपि में भी परिवर्तन बराबर होता रहता है। परिवर्तन का यह नियम केवल हिन्दी भाषा

भगवद्गीता और आत्मपुराण की रचना शैली को देखें। इन में वाक्य रचना और विषय निरूपण में एक ही प्रकार की पद्धति का अनुसरण किया गया है, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की रचनाशैली में विभिन्नता होने पर भी उस की उपादेयता में कोई अंतर नहीं पड़ता।

ग्रंथ की प्रमाणिकता—

प्रस्तुत ग्रन्थ में जितने भी विषयों का निरूपण किया गया है, और जिस अंश तक उन का विवेचन किया है, वे सब प्रामाणिक जैनाचार्यों के ग्रन्थों के आधार से किया गया है, और उन प्राचीन शास्त्रों के आधार के विना प्रस्तुत ग्रन्थ में एक बात का भी उल्लेख नहीं, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता में अणुमात्र भी सन्देह करने को स्थान नहीं।

ग्रंथ की उपादेयता—

प्रस्तुत ग्रंथ का रचनासमय भी एक विचित्र समय था, उस समय सांप्रदायिक संघर्ष आज कल की अपेक्षा भी अधिक था। एक सम्प्रदाय वाला दूसरे सम्प्रदाय पर आक्षेप करते समय सभ्यता को भी अपने हाथ से खो बैठता था। तात्पर्य कि उस समय साम्प्रदायिक विचारों का प्रवाह ज़ोर शोर से वह रहा था। और कभी २ तो तटस्थ विचार वालों की भी पगडियें उछाली जाती थीं। ऐसी दशा में एक सुधारक धर्माचार्य को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा, इस की कल्पना सहज ही में की जा सकती है। इस के अतिरिक्त उस काल में जैन धर्म

भगवद्गीता और आत्मपुराण की रचना शैली को देखें। इन में वाक्य रचना और विषय निरूपण में एक ही प्रकार की पद्धति का अनुसरण किया गया है, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की रचनाशैली में विभिन्नता होने पर भी उस की उपादेयता में कोई अंतर नहीं पड़ता।

ग्रंथ की प्रमाणिकता—

प्रस्तुत ग्रन्थ में जितने भी विषयों का निरूपण किया गया है, और जिस अंश तक उन का विवेचन किया है, वे सब प्रामाणिक जैनाचार्यों के ग्रन्थों के आधार से किया गया है, और उन प्राचीन शास्त्रों के आधार के विना प्रस्तुत ग्रन्थ में एक बात का भी उल्लेख नहीं, इस लिये प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता में अणुमात्र भी सन्देह करने को स्थान नहीं।

ग्रंथ की उपादेयता—

प्रस्तुत ग्रंथ का रचनासमय भी एक विचित्र समय था, उस समय सांप्रदायिक संघर्ष आज कल की अपेक्षा भी अधिक था। एक सम्प्रदाय वाला दूसरे सम्प्रदाय पर आक्षेप करते समय सभ्यता को भी अपने हाथ से खो बैठता था। तात्पर्य कि उस समय साम्प्रदायिक विचारों का प्रवाह ज़ोर शोर से वह रहा था। और कभी २ तो तटस्थ विचार वालों की भी पगडियें उछाली जाती थीं। ऐसी दशा में एक सुधारक धर्माचार्य को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता होगा, इस की कल्पना सहज ही में की जा सकती है। इस के अतिरिक्त उस काल में जैन धर्म

श्री आत्मानन्द जैन महासभा की कार्यकारिणी समिति ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नवीन संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया, और उसे कम से कम मूल्य में वितीर्ण करने का भी निश्चय किया। तदनुसार इस के सम्पादन का कार्य हम दोनों को सौंप दिया गया। हम ने भी समय की स्वल्पता, कार्य की अधिकता और अपनी स्वल्प योग्यता का कुछ भी विचार न करके केवल गुरुभक्ति के वशीभूत हो कर महासभा के आदेशानुसार पूर्वोक्त कार्य को अपने हाथ में लेने का साहस कर लिया। और उसी के भरोसे पर इस में प्रवृत्त हो गये।

हमारी कठिनाइयां—

इस कार्य में प्रवृत्त होने के बाद हम को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन का ध्यान इस से पूर्व हमें बिल्कुल नहीं था। एक तो हमारा प्रस्तुत ग्रंथ का साद्यन्त अवलोकन न होने से उसे नवीन ढंग से सम्पादन करने के लिये जिस साधन सामग्री का संग्रह करना हमारे लिये आवश्यक था, वह न हो सका। दूसरे, समय बहुत कम होने से प्रस्तुत पुस्तक में प्रमाणरूप से उद्धृत किये गये प्राकृत और संस्कृत वाक्यों के मूलस्थल का पता लगाने में पूर्ण सफलता नहीं हुई। तीसरे, इधर पुस्तक का संशोधन करना और उधर उसे प्रेस में देना। इस बढ़ी हुई कार्य-व्यग्रता के कारण प्रस्तुत पुस्तक में आये हुए कठिन स्थलों पर नोट में टिप्पणी या परिशिष्ट में स्वतन्त्र विवेचन लिखने से हम वंचित रह गये हैं। एवं समय के अधिक

श्री आत्मानन्द जैन महासभा की कार्यकारिणी समिति ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नवीन संस्करण प्रकाशित करने का निर्णय किया, और उसे कम से कम मूल्य में वितीर्ण करने का भी निश्चय किया। तदनुसार इस के सम्पादन का कार्य हम दोनों को सौंप दिया गया। हम ने भी समय की स्वल्पता, कार्य की अधिकता और अपनी स्वल्प योग्यता का कुछ भी विचार न करके केवल गुरुभक्ति के वशीभूत हो कर महासभा के आदेशानुसार पूर्वोक्त कार्य को अपने हाथ में लेने का साहस कर लिया। और उसी के भरोसे पर इस में प्रवृत्त हो गये।

हमारी कठिनाइयां—

इस कार्य में प्रवृत्त होने के बाद हम को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, उन का ध्यान इस से पूर्व हमें बिल्कुल नहीं था। एक तो हमारा प्रस्तुत ग्रंथ का साद्यन्त अवलोकन न होने से उसे नवीन ढंग से सम्पादन करने के लिये जिस साधन सामग्री का संग्रह करना हमारे लिये आवश्यक था, वह न हो सका। दूसरे, समय बहुत कम होने से प्रस्तुत पुस्तक में प्रमाणरूप से उद्धृत किये गये प्राकृत और संस्कृत वाक्यों के मूलस्थल का पता लगाने में पूर्ण सफलता नहीं हुई। तीसरे, इधर पुस्तक का संशोधन करना और उधर उसे प्रेस में देना। इस बढ़ी हुई कार्य-व्यग्रता के कारण प्रस्तुत पुस्तक में आये हुए कठिन स्थलों पर नोट में टिप्पणी या परिशिष्ट में स्वतन्त्र विवेचन लिखने से हम वंचित रह गये हैं। एवं समय के अधिक

अशुद्ध पाठों को मूल ग्रंथों के अनुसार शुद्ध किया गया है।

(४) तथा ग्रंथ की भाषा में रही हुई प्रेस की भूलों का सुधार किया गया है। इस के अतिरिक्त मूलग्रन्थ की भाषा में अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया। हां! अनुस्वार के अनावश्यक प्रयोग को प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया गया।

आभार—

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में समय की न्यूनता और कार्य की अधिकता को देख कर अपनी सहायता के लिये हम ने आरम्भ में श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल के स्नातक प० रामकुमार जी और उन के बाद उक्त गुरुकुल के स्नातक (वर्तमान में अध्यापक) पं० ईश्वरलाल जी को कष्ट दिया। इन दोनों सज्जनों ने इस कार्य में हमारी यथाशक्ति सहायता करने में किसी प्रकार की कमी नहीं की, अतः हम इन दोनों स्नातक सज्जनों के कृतज्ञ हैं।

इन के अतिरिक्त हम मुनि श्री पुण्यविजय जी का भी पुण्य स्मरण किये बिना नहीं रह सकते, कि जिन्हों ने प्रस्तुत ग्रन्थ में आये हुए बहुत से प्राकृत पाठों के मूल स्थलों को बतलाकर हमें अनुगृहीत किया है।

तथा भाई सुन्दरदास जी ने इस सम्पादन कार्य में हमारी बड़ी भारी सहायता की है, तदर्थ हम इन के विशेष

अशुद्ध पाठों को मूल ग्रंथों के अनुसार शुद्ध किया गया है।

(४) तथा ग्रंथ की भाषा में रही हुई प्रेस की भूलों का सुधार किया गया है। इस के अतिरिक्त मूलग्रन्थ की भाषा में अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया। हां! अनुस्वार के अनावश्यक प्रयोग को प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान नहीं दिया गया।

आभार—

प्रस्तुत पुस्तक के सम्पादन में समय की न्यूनता और कार्य की अधिकता को देख कर अपनी सहायता के लिये हम ने आरम्भ में श्री आत्मानंद जैन गुरुकुल के स्नातक प० रामकुमार जी और उन के बाद उक्त गुरुकुल के स्नातक (वर्तमान में अध्यापक) पं० ईश्वरलाल जी को कष्ट दिया। इन दोनों सज्जनों ने इस कार्य में हमारी यथाशक्ति सहायता करने में किसी प्रकार की कमी नहीं की, अतः हम इन दोनों स्नातक सज्जनों के कृतज्ञ हैं।

इन के अतिरिक्त हम मुनि श्री पुण्यविजय जी का भी पुण्य स्मरण किये बिना नहीं रह सकते, कि जिन्हों ने प्रस्तुत ग्रन्थ में आये हुए बहुत से प्राकृत पाठों के मूल स्थलों को बतलाकर हमें अनुगृहीत किया है।

तथा भाई सुन्दरदास जी ने इस सम्पादन कार्य में हमारी बड़ी भारी सहायता की है, तदर्थ हम इन के विशेष

महाराज साहिब की भाषा

बोल चाल की भाषा

महाराज जी के पूर्वज चिर काल से पिण्डदादनख़ां (ज़िला जेहलम) में निवास करते थे *। उन के माता पिता का जन्म इसी प्रदेश में हुआ था, अतः दृढ अनुमान है कि वे यहां की ही भाषा बोलते होंगे। सर् जार्ज ग्रियर्सन् की जांच के अनुसार इस प्रदेश की भाषा एक प्रकार की लहन्दी है †। जिस की कुछ विशेषताएं नीचे दी जाती हैं। महाराज जी के जन्म से कुछ समय पहले उन के माता पिता सरकारी नौकरी के कारण हरी के पत्तन में आ रहे थे, और रिटायर होने पर वहीं रहने लगे। कुछ काल के पश्चात् ज़ीरा के निकट लहरा ग्राम (ज़िला फ़ीरोज़पुर) में आ रहे, जहां महाराज जी का जन्म हुआ *। यहां की भाषा मालवई पञ्जाबी है §। महाराज का शैशव काल लहरा ग्राम में ही बीता, वहीं उन का भरण पोषण हुआ। इस से हम कह सकते हैं कि दीक्षा लेने के पूर्व महाराज जी दो भाषाएं बोलते होंगे-घर में माता पिता के साथ लहन्दी और गांव

---

* देखिये—"तत्त्वनिर्णयप्रासाद"–जीवन चरित, पृ० ३३-३४

† देखिये—सर् जार्ज ग्रियर्सन् द्वारा सम्पादित, "लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया" पुस्तक ८, भाग १।

§ देखिये—लिंग्विस्टिक....पृ० ६, भाग १।

महाराज साहिब की भाषा

बोल चाल की भाषा

महाराज जी के पूर्वज चिर काल से पिण्डदादनख़ां (ज़िला जेहलम) में निवास करते थे *। उन के माता पिता का जन्म इसी प्रदेश में हुआ था, अतः दृढ अनुमान है कि वे यहां की ही भाषा बोलते होंगे । सर् जार्ज ग्रियर्सन् की जांच के अनुसार इस प्रदेश की भाषा एक प्रकार की लहन्दी है †। जिस की कुछ विशेषताएं नीचे दी जाती हैं। महाराज जी के जन्म से कुछ समय पहले उन के माता पिता सरकारी नौकरी के कारण हरी के पत्तन में आ रहे थे, और रिटायर होने पर वहीं रहने लगे। कुछ काल के पश्चात् जीरा के निकट लहरा ग्राम (ज़िला फीरोज़पुर) में आ रहे, जहां महाराज जी का जन्म हुआ *। यहां की भाषा मालवई पञ्जाबी है §। महाराज का शैशव काल लहरा ग्राम में ही बीता, वहीं उन का भरण पोषण हुआ । इस से हम कह सकते हैं कि दीक्षा लेने के पूर्व महाराज जी दो भाषाएं बोलते होंगे-घर में माता पिता के साथ लहन्दी और गांव

---

* देखिये—"तत्त्वनिर्णयप्रासाद"–जीवन चरित, पृ० ३३-३४

† देखिये—सर् जार्ज ग्रियर्सन् द्वारा सम्पादित, "लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया" पुस्तक ८, भाग १ ।

§ देखिये—लिंग्विस्टिक...पु० ६, भाग १ ।

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
अष्ट	अट्ठ	आठ	अट्ठ	अट्ठ
शिक्षा	सिक्खा	सीख	सिक्ख	सिक्ख
दुग्ध	दुद्ध	दूध	दुद्ध	दुद्धं
		इत्यादि	(उच्चारण दुद्द उ उच्चस्वर)	

(३) संस्कृत का 'त्र' हिंदी, पंजाबी में 'त' 'त्त' परन्तु लहन्दी में त्र रहता है।

संस्कृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
त्रयः त्रीणि	तीन	त्रै	तिन्न
त्रुट्यते	टूटना	त्रुट्टणा	टुट्टना
पुत्र	पूत	पुत्तर	पुत्त

(४) लहन्दी में भविष्य काल के प्रत्यय सी, सां आदि होते हैं।

जैसे—हिंदी—करेगा, करूंगा, आदि

लहन्दी—करसी, करसां ,,

पंजाबी—करूगा, करांगा ,,

साहित्यिक भाषा

प्रायः प्रत्येक लिखे पढ़े व्यक्ति की कम से कम दो भाषाएं हुआ करती हैं—१. बोल चाल की साधारण भाषा, २. लिखने पढ़ने की साहित्यिक भाषा। इन में परिस्थिति

संस्कृत	प्राकृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
अष्ट	अट्ठ	आठ	अट्ठ	अट्ठ
शिक्षा	सिक्खा	सीख	सिक्ख	सिक्ख
दुग्ध	दुद्ध	दूध	दुद्ध	दुद्धं
		इत्यादि	(उच्चारण दुद्द उ उच्चस्वर)	

(३) संस्कृत का 'त्र' हिंदी, पंजाबी में 'त' 'त्त' परन्तु लहन्दी में त्र रहता है।

संस्कृत	हिंदी	लहन्दी	पंजाबी
त्रयः त्रीणि	तीन	त्रै	तिन्न
त्रुट्यते,	टूटना	त्रुट्टणा	टुट्टना
पुत्र	पूत	पुत्तर	पुत्त

(४) लहन्दी में भविष्य काल के प्रत्यय सी, सां आदि होते हैं।

जैसे—हिंदी—करेगा, करूंगा, आदि

लहन्दी—करसी, करसां ,,

पंजाबी—करूगा, करांगा ,,

साहित्यिक भाषा

प्रायः प्रत्येक लिखे पढ़े व्यक्ति की कम से कम दो भाषाएं हुआ करती हैं—१. बोल चाल की साधारण भाषा, २. लिखने पढ़ने की साहित्यिक भाषा। इन में परिस्थिति

१३—"विगतो मलोऽस्य—विमलः, विमलज्ञानादियोगाद्वा विमलः"—दूर हुवा है अष्टकर्मरूपमल जिसका सो विमल, अथवा निर्मल ज्ञानादि योग से विमल। "यद्वा गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमलः"—अथवा भगवान जब गर्भ में थे, तब माता की बुद्धि अरु शरीर ए दोनों निर्मल होगये इस कारण से विमल नाम जानना।

१४—"न विद्यते गुणानामन्तोऽस्य—अनन्तः, अनन्त कर्मांशजयाद्वानन्तः, अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्तः"—नहीं है गुणों का अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनन्त कर्मांश जीतने से अनन्त, अथवा अनन्त हैं ज्ञानादि गुण जिसके सो अनन्त। "रयणविचित्त—रयणखचियं अणंतं—अइमहप्पमाणं दामं सुमिणे जणणीए दिट्ठं तओ अणंतोत्ति"—[आ० नि०, हारि० टी०, गा० १०८६] रत्न विचित्र—रत्न जडित अति मोटी दाम-माला स्वप्न में माता ने देखी तिस कारण अनन्त।

१५—"दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः"—दुर्गति में पड़ते जीवों के समूह को जो धारण करे सो धर्म। तथा "गर्भस्थे जननी दानादिधर्मपरा जातेति धर्मः"—परमेश्वर के गर्भ में आवने से माता दानादिक धर्म में तत्पर भयी, इस कारण से धर्म नाम।

१६—"शान्तियोगात्तत्कर्तृकत्वाच्चायं शान्तिः"—शान्ति के योग से वा शान्तिरूप होने से वा शान्ति करने से शान्ति।

हिंदी या 'खड़ी बोली' जिस में आजकल उपन्यास, गल्प, नाटक आदि लिखे जाते हैं, तथा जो पत्र पत्रिकाओं में व्यवहृत होती है, का जन्म आज से कोई डेढ़ सौ बरस पहले हुआ। इस ने निश्चित और परिच्छिन्न रूप तो अभी बीसवीं सदी में धारण किया है।

(२) तीस चालीस बरस पहले यू० पी०, पंजाब और मारवाड़ में साधु महात्मा अपना उपदेश हिंदुस्तानी भाषा में देते थे, जिस में वे अपनी रुचि या परिस्थिति (शिक्षा, भ्रमण, देश, परिषदा आदि) के अनुसार दूसरी भाषाओं का मिश्रण कर देते थे। जब कभी उन को गद्य लिखना होता था तो भी वे इसी भाषा में लिखते थे। शिक्षा के प्रचार से अब इस प्रकार की मिश्रित हिंदी का व्यवहार घटता जाता है।

(३) महाराज साहिब ने प्रारम्भिक शिक्षा पंजाब में पाई थी परन्तु उच्च शिक्षा के लिये उन्हें जयपुर, आगरा, अजमेर, जोधपुर आदि नगरों में देर तक रहना पड़ा *। श्वेताम्बर संप्रदाय का ज़ोर मारवाड़ गुजरात में होने से अन्य देशों में रहने वाले श्वेताम्बर जैनों की भाषा में भी गुजराती मारवाडी के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं।

---

* देखिये—तत्त्वनिर्णय प्रासाद—जीवन चरित—पृ० ४०—४६

के प्रयोग दिखाई देते हैं । इन की पद्यरचना में भावुकता और भक्ति का स्रोत बहता है । जहां तहां उचित अलंकारों का प्रयोग किया गया गया है । "द्वादश भावना" में अनुप्रास ने वैराग्य रस का पोषक हो कर खूब ही रंग बांधा है । "चतुर्विंशतिस्तवन" में करुणा, विलाप और प्रभु भक्ति कूट २ भरी है । उदाहरण के लिये श्री नमिनाथस्तवन को देखिये—

तारो जी मेरे जिनवर साईं, बांह पकड़ कर मोरी ।
कुगुरु कुपन्थ फन्द थी निकसी, सरण गही अब तोरी ॥ ता०॥१॥
नित्य अनादि निगोद में रुलतां, झुलतां भवोदधि मांही ।
पृथ्वी अप तेज वात सरूपी, हरितकाय दुख पाई ॥ ता० ॥२॥
बितिचउरिन्द्री जात भयानक, संख्या दुख की न काई ।
हीन दीन भयो परबस परके, ऐसे जनम गमाई ॥ ता० ॥३॥
मनुज अनारज कुल में उपनो, तोरी खबर न काई ।
ज्यूं त्यूं कर अब मग प्रभु परख्यो, अब क्यों बेर लगाई ॥ ता०॥४॥
तुम गुण कमल भमर मन मेरो, उड़त नहीं है उड़ाई ।
तृषित मनुज अमृतरस चाखी, रुच से तृपत बुझाई ॥ ता०॥५॥
भवसागर की पीर हरो सब, मेहर करो जिन राई ।
दृग करुणा की मोह पर कीजो, लीजो चरण छुहाई ॥ ता०॥६॥
विप्रानन्दन जग दुख कन्दन, भगत बछल सुखदाई ।
आतमराम रमण जगस्वामी, कामत फल बरदाई ॥ ता०॥७॥

जब महाराज साहिब इस को अपने मधुर स्वर से गाते

के प्रयोग दिखाई देते हैं । इन की पद्यरचना में भावुकता और भक्ति का स्रोत बहता है । जहां तहां उचित अलंकारों का प्रयोग किया गया गया है । "द्वादश भावना" में अनुप्रास ने वैराग्य रस का पोषक हो कर खूब ही रंग बांधा है । "चतुर्विंशतिस्तवन" में करुणा, विलाप और प्रभु भक्ति कूट २ भरी है । उदाहरण के लिये श्री नमिनाथस्तवन को देखिये—

तारो जी मेरे जिनवर साईं, बांह पकड़ कर मोरी ।
कुगुरु कुपन्थ फन्द थी निकसी, सरण गही अब तोरी ॥ ता०॥१॥
नित्य अनादि निगोद में रुलतां, झुलतां भवोदधि मांही ।
पृथ्वी अप तेज वात सरूपी, हरितकाय दुख पाई ॥ ता० ॥२॥
बितिचउरिन्द्री जात भयानक, संख्या दुख की न काई ।
हीन दीन भयो परबस परके, ऐसे जनम गमाई ॥ ता० ॥३॥
मनुज अनारज कुल में उपनो, तोरी खबर न काई ।
ज्यूं त्यूं कर अब मग प्रभु परख्यो, अब क्यों वेर लगाई ॥ ता०॥४॥
तुम गुण कमल भमर मन मेरो, उड़त नहीं है उड़ाई ।
तृषित मनुज अमृतरस चाखी, रुच से तृपत बुझाई ॥ ता०॥५॥
भवसागर की पीर हरो सब, मेहर करो जिन राई ।
दृग करुणा की मोह पर कीजो, लीजो चरण छुहाई ॥ ता०॥६॥
विप्रानन्दन जग दुख कन्दन, भगत बछल सुखदाई ।
आतमराम रमण जगस्वामी, कामत फल बरदाई ॥ ता०॥७॥

जब महाराज साहिब इस को अपने मधुर स्वर से गाते

६. प्रयोग की विषमता। जैसे—पुत्र के शरीर में कीड़े आदि जीव उत्पन्न होवे (पृ० ३१९), यहां "होवें" के स्थान में "होवे"। इत्यादि।

ओरियण्टल कालेज
लाहौर
फाल्गुन शुक्ला० ११, सं० १९९२

बनारसीदास जैन

नोट—पूर्वोक्त विशेषताएं भाषा के दोष नहीं कहे जा सकते। इन से यह सिद्ध होता है कि अभी हिन्दी ने निश्चित रूप धारण नहीं किया था। इस प्रकार की विशेषताएं उस समय के अन्य लेखकों में भी पाई जाती हैं।

६. प्रयोग की विषमता। जैसे—पुत्र के शरीर में कीड़े आदि जीव उत्पन्न होवे (पृ० ३१९), यहां "होवें" के स्थान में "होवे"। इत्यादि।

ओरियण्टल कालेज
लाहौर
फाल्गुन शुक्ला० ११, सं० १९९२

बनारसीदास जैन

नोट—पूर्वोक्त विशेषताएं भाषा के दोष नहीं कहे जा सकते। इन से यह सिद्ध होता है कि अभी हिन्दी ने निश्चित रूप धारण नहीं किया था। इस प्रकार की विशेषताएं उस समय के अन्य लेखकों में भी पाई जाती हैं।

तत्त्वा० अ० = तत्त्वार्थसूत्र अध्याय
तै० उ० = तैत्तिरीय उपनिषद्
दशवै० नि० = दशवैकालिकनिर्युक्ति
द्वा० द्वा० = द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
न्या० द० अ० आ० = न्यायदर्शन अध्याय, आह्निक
नं० सू० टीका जीव० सि० = नन्दी सूत्र टीका जीव सिद्धि (प्रकरण)
पं० लिं० = पंचलिंगी
पंचा० प्रतिमाधि० = पंचाशक प्रतिमाधिकार
पं० नि० = पंचनिर्ग्रन्थी
पिंड० नि० = पिंडनिर्युक्ति
प्रव० सा० = प्रवचनसारोद्धार
प्रज्ञा० सू० = प्रज्ञापनासूत्र
भ० गी० = भगवद्गीता
भक्ता० स्तो० = भक्तामर स्तोत्र
भग० सू० = भगवती सूत्र
म० स्मृ० = मनुस्मृति
मीमांसा श्लो० वा० = मीमांसाश्लोकवार्तिक
या० व० स्मृ० = याज्ञवल्क्य स्मृति
यो० शा० = योगशास्त्र
वाल्मी० रा० = वाल्मीकि रामायण
श० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण

तत्त्वा० अ० = तत्त्वार्थसूत्र अध्याय
तै० उ० = तैत्तिरीय उपनिषद्
दशवै० नि० = दशवैकालिकनिर्युक्ति
द्वा० द्वा० = द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका
न्या० द० अ० आ० = न्यायदर्शन अध्याय, आह्निक
नं० सू० टीका जीव० सि० = नन्दी सूत्र टीका जीव सिद्धि (प्रकरण)
पं० लिं० = पंचलिंगी
पंचा० प्रतिमाधि० = पंचाशक प्रतिमाधिकार
पं० नि० = पंचनिर्ग्रन्थी
पिंड० नि० = पिंडनिर्युक्ति
प्रव० सा० = प्रवचनसारोद्धार
प्रज्ञा० सू० = प्रज्ञापनासूत्र
भ० गी० = भगवद्गीता
भक्ता० स्तो० = भक्तामर स्तोत्र
भग० सू० = भगवती सूत्र
म० स्मृ० = मनुस्मृति
मीमांसा श्लो० वा० = मीमांसाश्लोकवार्तिक
या० व० स्मृ० = याज्ञवल्क्य स्मृति
यो० शा० = योगशास्त्र
वाल्मी० रा० = वाल्मीकि रामायण
श० ब्रा० = शतपथ ब्राह्मण

विषयानुक्रमाणिका

प्रथम परिच्छेद

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

विषय	पृष्ठ

तृतीय परिच्छेद

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ
बौद्ध मत का स्वरूप	२७०
बुद्ध भगवान् के अनेक नाम	२७१
बौद्धों के नाम	२७२
चार आर्यसत्य	२७४
द्वादश आयतन	२७४
नैयायिक मत का स्वरूप	२७४
वैशेषिक मत का स्वरूप	२७६
सांख्य मत	२७८
दुःखत्रय	२८१
तीन गुणों का स्वरूप	२८२
पच्चीस तत्त्वों का स्वरूप	२८४
पुरुष तत्त्व का स्वरूप	२८७
मीमांसक मत का स्वरूप	२९०
सर्वज्ञ चर्चा	२९२
नोदना का व्याख्यान	२९७
चार्वाक मत का स्वरूप	२९८
चार्वाक मत की उत्पत्ति	२९९
चार्वाक की मान्यताएं	३०१
बौद्ध मत में पूर्वापर विरोध	३०९
बौद्ध मत का खण्डन	३१२

विषय | पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

※ ॐ नमः स्याद्वादवादिने ※

न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य

श्री विजयानन्द सूरीश्वर (प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी) विरचित

जैनतत्त्वादर्श

पूर्वार्द्ध

प्रथम परिच्छेद

स्यात्कारमुद्रितानेक-सदसद्भाववेदिनम् ।
प्रमाणरूपमव्यक्तं भगवन्तमुपास्महे ॥

देव, गुरु और धर्म तत्त्व का स्वरूप ।

प्राक्कथन

विदित हो कि जो यह * जैनमत है, तिसका स्वरूप श्री तीर्थंकर, गणधर और पूर्वाचार्यादिकों ने आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका और प्रकरण तर्कादि अनेक ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट † निर्टंकन किया है। परन्तु पूर्वाचार्यरचित सर्व ग्रन्थ

---

* जैन धर्म । † निर्णय ।

* ॐ नमः स्याद्वादवादिने *

न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य

श्री विजयानन्द सूरीश्वर (प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी) विरचित

जैनतत्त्वादर्श

पूर्वार्द्ध

प्रथम परिच्छेद

स्यात्कारमुद्रितानेक-सदसद्भाववेदिनम् ।
प्रमाणरूपमव्यक्तं भगवन्तमुपास्महे ॥

देव, गुरु और धर्म तत्त्व का स्वरूप ।

प्राक्कथन

विदित हो कि जो यह * जैनमत है, तिसका स्वरूप श्री तीर्थंकर, गणधर और पूर्वाचार्यादिकों ने आगम, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका और प्रकरण तर्कादि अनेक ग्रन्थों द्वारा स्पष्ट † निर्णय किया है। परन्तु पूर्वाचार्यरचित सर्व ग्रन्थ

---

* जैन धर्म। † निर्णय।

अब पूर्वोक्त तीनों तत्त्वों में से प्रथम देवतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—देव नाम परमेश्वर का है। सो परमेश्वर के स्वरूप में अनेक प्रकार के विकल्प मतान्तरीय पुरुष करते हैं, सो जैनमत में परमेश्वर का क्या स्वरूप मान्या है, तिस परमेश्वर का स्वरूप, नाम, रूप और विशेषण संयुक्त लिखते हैं। जैनमत में जो परमेश्वर मान्या है, सो बारह गुण संयुक्त और अष्टादश दूषण रहित अर्हन्त परमेश्वर है और जो परमेश्वर उक्त बारह गुण रहित तथा अष्टादश दूषण सहित होगा तिस में कदापि परमेश्वरता सिद्ध नहीं होगी। यह कथन आगे चलकर लिखेंगे।

देव-अरिहंत के बारह गुण

अब प्रथम बारह गुण लिखते हैं * अशोकवृक्षादि अष्ट † महाप्रातिहार्य (सर्व जैन लोगों में प्रसिद्ध हैं) तथा चार मूलातिशय एवं सर्व बारह गुण हैं तिस में चार मूलातिशय का नाम कहते हैं—१. ज्ञानातिशय २. वागतिशय ३. अपायापगमातिशय ४. पूजातिशय। तत्र प्रथम ज्ञानातिशय

* अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

अर्थ—१. अशोकवृक्ष, २. देवों द्वारा फूलों की वर्षा, ३. दिव्य ध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. दुन्दुभि ८. छत्र—यह जिनेश्वर के आठ प्रातिहार्य हैं।

† प्रातिहार्य शब्द की व्युत्पत्तिः—

'प्रतिहारा इन्द्रवचनानुसारिणो देवास्तैः कृतानि प्रातिहार्याणि'—इन्द्र

अब पूर्वोक्त तीनों तत्त्वों में से प्रथम देवतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—देव नाम परमेश्वर का है। सो परमेश्वर के स्वरूप में अनेक प्रकार के विकल्प मतान्तरीय पुरुष करते हैं, सो जैनमत में परमेश्वर का क्या स्वरूप मान्या है, तिस परमेश्वर का स्वरूप, नाम, रूप और विशेषण संयुक्त लिखते हैं। जैनमत में जो परमेश्वर मान्या है, सो बारह गुण संयुक्त और अष्टादश दूषण रहित अर्हन्त परमेश्वर है और जो परमेश्वर उक्त बारह गुण रहित तथा अष्टादश दूषण सहित होगा तिस में कदापि परमेश्वरता सिद्ध नहीं होगी। यह कथन आगे चलकर लिखेंगे।

देव-अरिहंत के बारह गुण

अब प्रथम बारह गुण लिखते हैं * अशोकवृक्षादि अष्ट † महाप्रातिहार्य (सर्व जैन लोगों में प्रसिद्ध हैं) तथा चार मूलातिशय एवं सर्व बारह गुण हैं तिस में चार मूलातिशय का-नाम कहते हैं—१. ज्ञानातिशय २. वागतिशय ३. अपायापगमातिशय ४. पूजातिशय। तत्र प्रथम ज्ञानातिशय

* अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनञ्च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥

अर्थ—१. अशोकवृक्ष, २. देवों द्वारा फूलों की वर्षा, ३. दिव्य ध्वनि, ४. चामर, ५. सिंहासन, ६. भामण्डल, ७. दुन्दुभि ८. छत्र—यह जिनेश्वर के आठ प्रातिहार्य हैं।

† प्रातिहार्य शब्द की व्युत्पत्तिः—

'प्रतिहारा इन्द्रवचनानुसारिणो देवास्तैः कृतानि प्रातिहार्याणि'—इन्द्र

सर्व वाजित्रों के साथ मिलता शब्द, ६. "दक्षिणत्वम्"-सरलता संयुक्त, ७. ※"उपनीतरागत्वम्"—मालव, कौशिक्यादि ग्राम, राग संयुक्त। ए सात अतिशय तो शब्द की अपेक्षा से जानना और अन्य अतिशय जो हैं सो अर्थाश्रय जानना। ८. "महार्थता"-बड़ा—मोटा-जिसमें अभिधेय अर्थात् कहने योग्य अर्थ है, ९. "अव्याहतत्वम्"-पूर्वापर विरोध रहित, १०. †"शिष्टत्वम्"-अभिमतासिद्धान्तोक्तार्थता—एतावता अभिमत सिद्धान्त जो कहना सोइ वक्ता के शिष्टपने का सूचक है, ११. "संशयानामसंभवः"—जिनों के कहने में श्रोता को संशय नहीं होता, १२. "निराकृताऽन्योत्तरत्वम्"—जिनों के कथन में कोई भी दूषण नहीं अर्थात् न तो श्रोता को शंका उत्पन्न होवे न भगवान दूसरी वार उत्तर देवें, १३. "हृदयंगमता"—हृदय ग्राह्यत्व-हृदय में ग्रहण करने योग्य, १४. "मिथःसाकांक्षता"—परस्पर-आपस में पद वाक्यों का सापेक्षपना, १५. §"प्रस्तावौचित्यम्"—देशकाल करके रहितपना नहीं १६. ‡"तत्त्वनिष्ठता"—विवक्षित वस्तु के स्वरूपानुसारिपना, १७.

※ जिसमें शुद्ध संगीत की प्रधानता होती है।

† अभिमत सिद्धान्त को कहने वाला, अर्थात् अभिमत सिद्धान्त का प्रतिपादन करना ही वक्ता की शिष्टता का सूचक है।

§ जो देशकाल के अनुसार हो।

‡ विवक्षित विषय के अनुकूल होता है अर्थात् अप्रासङ्गिक नहीं होता।

सर्व वाजित्रों के साथ मिलता शब्द, ६. "दक्षिणत्वम्"-सरलता संयुक्त, ७. *"उपनीतरागत्वम्"—मालव, कौशिक्यादि ग्राम, राग संयुक्त। ए सात अतिशय तो शब्द की अपेक्षा से जानना और अन्य अतिशय जो हैं सो अर्थाश्रय जानना। ८. "महार्थता"-बड़ा—मोटा-जिसमें अभिधेय अर्थात् कहने योग्य अर्थ है, ९. "अव्याहतत्वम्"-पूर्वापर विरोध रहित, १०. †"शिष्टत्वम्"-अभिमतसिद्धान्तोक्तार्थता—एतावता अभिमत सिद्धान्त जो कहना सोइ वक्ता के शिष्टपने का सूचक है, ११. "संशयानामसंभवः"—जिनों के कहने में श्रोता को संशय नहीं होता, १२. "निराकृताऽन्योत्तरत्वम्"—जिनों के कथन में कोई भी दूषण नहीं अर्थात् न तो श्रोता को शंका उत्पन्न होवे न भगवान दूसरी वार उत्तर देवें, १३. "हृदयंगमता"—हृदय ग्राह्यत्व-हृदय में ग्रहण करने योग्य, १४. "मिथःसाकांक्षता"—परस्पर-आपस में पद वाक्यों का सापेक्षपना, १५. §"प्रस्तावौचित्यम्"—देशकाल करके रहितपना नहीं १६. ‡"तत्त्वनिष्ठता"—विवक्षित वस्तु के स्वरूपानुसारिपना, १७.

---

* जिसमें शुद्ध संगीत की प्रधानता होती है।

† अभिमत सिद्धान्त को कहने वाला, अर्थात् अभिमत सिद्धान्त का प्रतिपादन करना ही वक्ता की शिष्टता का सूचक है।

§ जो देशकाल के अनुसार हो।

‡ विवक्षित विषय के अनुकूल होता है अर्थात् अप्रासङ्गिक नहीं होता।

साहसकारी वर्णन संयुक्त, ३३. * "वर्णपदवाक्यविविक्तता"। वर्णादिकों का विच्छिन्नपना, ३४ § "अव्युच्छित्तिः"—विवक्षितार्थ की सम्यक् सिद्धि जहां लग न होवे तहां ताईं अव्यवच्छिन्न वचन का प्रमेयपना, ३५. "अखेदित्वम्"–थकेवां–थकावट रहित। यह भगवंत के दूसरे वचनातिशय के पैंतीस भेद हैं। तीसरा "अपायापगमातिशय"—एतावता उपद्रव निवारक अतिशय है। और चौथा पूजातिशय अर्थात् भगवान् तीन लोक के पूजनीक हैं। इन दोनों अतिशयों के विस्तार रूप चौंतीस अतिशय होते हैं, सो लिखते हैं:—

चौंतीस अतिशय

१. तीर्थङ्कर भगवान् की देह का रूप और सुगन्ध सर्वोत्कृष्ट और देह रोग रहित तथा पसीना और मल करी वर्जित है, २. श्वास निःश्वास पद्म–कमल की तरें सुगन्धवाला, ३. रुधिर और मांस गोदुग्धवत् उज्ज्वल, ४. आहार नीहार की विधि चर्मचक्षुवाले को नहीं दीखे। ए चार अतिशय जन्म से ही साथ होते हैं। १. एक योजन प्रमाण ही समवसरण का क्षेत्र है, परन्तु तिसमें देवता, मनुष्य, और तिर्यञ्च की कोटाकोटि भी समाय सकती है अर्थात् भीड़ नहीं होती, २. वाणी–भाषा †अर्धमागधी देवता,

---

* जिसमें वर्ण, पद तथा वाक्य अलग अलग रहते हैं।

§ जिसका प्रवाह विवक्षितार्थ की सिद्धि पर्यन्त जारी रहे।

† तीर्थङ्कर भगवान् जिस भाषा में उपदेश देते हैं, उसका नाम अर्धमागधी भाषा है। विशेष स्वरूप के लिये देखो परिशिष्ट नं० १–क।

साहसकारी वर्णन संयुक्त, ३३. * "वर्णपदवाक्यविविक्तता"। वर्णादिकों का विच्छिन्नपना, ३४ § "अव्युच्छित्तिः"—विवक्षितार्थ की सम्यक् सिद्धि जहां लग न होवे तहां तांई अव्यवच्छिन्न वचन का प्रमेयपना, ३५. "अखेदित्वम्"—थकेवां-थकावट रहित। यह भगवंत के दूसरे वचनातिशय के पैंतीस भेद हैं। तीसरा "अपायापगमातिशय"—एतावता उपद्रव निवारक अतिशय है। और चौथा पूजातिशय अर्थात् भगवान् तीन लोक के पूजनीक हैं। इन दोनों अतिशयों के विस्तार रूप चौंतीस अतिशय होते हैं, सो लिखते हैं:—

चौंतीस अतिशय

१. तीर्थङ्कर भगवान् की देह का रूप और सुगन्ध सर्वोत्कृष्ट और देह रोग रहित तथा पसीना और मल करी वर्जित है, २. श्वास निःश्वास पद्म-कमल की तरें सुगन्धवाला, ३. रुधिर और मांस गोदुग्धवत् उज्ज्वल, ४. आहार नीहार की विधि चर्मचक्षुवाले को नहीं दीखे। ए चार अतिशय जन्म से ही साथ होते हैं। १. एक योजन प्रमाण ही समवसरण का क्षेत्र है, परन्तु तिसमें देवता, मनुष्य, और तिर्यञ्च की कोटाकोटि भी समाय सकती है अर्थात् भीड़ नहीं होती, २. वाणी-भाषा †अर्धमागधी देवता,

---

* जिसमें वर्ण, पद तथा वाक्य अलग अलग रहते हैं।

§ जिसका प्रवाह विवक्षितार्थ की सिद्धि पर्यन्त जारी रहे।

† तीर्थंङ्कर भगवान् जिस भाषा में उपदेश देते हैं, उसका नाम अर्धमागधी भाषा है। विशेष स्वरूप के लिये देखो परिशिष्ट नं० १—क।

से दुन्दुभि भुवनव्यापक नादध्वनि करता है, १३. पवन सुखदाई चलता है १४. पक्षी प्रदक्षिणा देते हैं, १५. सुगन्धमय पानी की वर्षा होती है, १६. गोडे प्रमाण पंच वर्ण के फूलों की वर्षा होती है, १७. केश, दाढी, मूंछ नख अवस्थित रहते हैं, १८. चार प्रकार के देवता जघन्य से जघन्य भगवंत के पास एक कोटी होते हैं, १९. षड्ऋतु अनुकूल होती हैं-एतावता उनके स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द ए पांचों बुरे तो लुप्त हो जाते हैं और अच्छे प्रगट हो जाते हैं। ए ओगणीश अतिशय देवता करते हैं। मतान्तर तथा वाचनान्तर में कोई कोई अतिशय अन्य प्रकार से भी हैं। ए पूर्वोक्त चार मूलातिशय और आठ प्रातिहार्य एवं वारां गुणों करी विराजमान अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर है। और अठारह दूषण करके रहित है। सो अठारह दूषणों के नाम दो श्लोक करके लिखते हैं:—

अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी॥

[अभि० चि० का० १, श्लो० ७२-७३]

इन दोनों श्लोकों का अर्थः—१. "दान देने में *अन्तराय"

---

* जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग रूप

से दुन्दुभि भुवनव्यापक नादध्वनि करता है, १३. पवन सुखदाई चलता है १४. पक्षी प्रदक्षिणा देते हैं, १५. सुगन्धमय पानी की वर्षा होती है, १६. गोडे प्रमाण पंच वर्ण के फूलों की वर्षा होती है, १७. केश, दाढी, मूंछ नख अवस्थित रहते हैं, १८. चार प्रकार के देवता जघन्य से जघन्य भगवंत के पास एक कोटी होते हैं, १९. षड्ऋतु अनुकूल होती हैं-एतावता उनके स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द ए पांचों बुरे तो लुप्त हो जाते हैं और अच्छे प्रगट हो जाते हैं। ए ओगणीश अतिशय देवता करते हैं। मतान्तर तथा वाचनान्तर में कोई कोई अतिशय अन्य प्रकार से भी हैं। ए पूर्वोक्त चार मूलातिशय और आठ प्रातिहार्य एवं बारां गुणों करी विराजमान अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर है। और अठारह दूषण करके रहित है। सो अठारह दूषणों के नाम दो श्लोक करके लिखते हैं:—

अन्तराया दानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः।
हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥
कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा चाविरतिस्तथा।
रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टादशाप्यमी॥

[अभि० चि० का० १, श्लो० ७२-७३]

इन दोनों श्लोकों का अर्थः—१. "दान देने में *अन्तराय"

* जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, वीर्य, भोग और उपभोग रूप

१२. "काम"-मन्मथ-स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों का वेद-विकार, १३. "मिथ्यात्व"-दर्शन मोह-विपरीत श्रद्धान, १४. "अज्ञान"-मूढपनां, १५. "निद्रा"-सोना, १६. "अविरति"-प्रत्याख्यान से रहित पना, १७. "राग"-पूर्व सुखों का स्मरण और पूर्व सुख वा तिसके साधन में गृद्धिपना, १८. "द्वेष"-पूर्व दुःखों का स्मरण और पूर्व दुःख वा तिसके साधन विषय क्रोध। यह अठारह दूषण जिनमें नहीं सो अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर है। इन अठारह दूषण में से एक भी दूषण जिसमें होगा सो कभी भी अर्हन्त भगवंत परमेश्वर नहीं हो सकता।

अठारह दोषों की मीमांसा

प्रश्नः—दानान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर दान देता है? अरु लाभांतराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर को लाभ होता है? तथा वीर्यान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर शक्ति दिखलाता है? तथा भोगान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर भोग करता है? उपभोगान्तराय के नष्ट

---

(४) भोग के साधन मौजूद हों, वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं को भोग न सके वह "भोगान्तराय" है।

(५) उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न कर सके वह "उपभोगान्तराय" है।

१२. "काम"-मन्मथ-स्त्री, पुरुष, नपुंसक इन तीनों का वेद-विकार, १३. "मिथ्यात्व"-दर्शन मोह-विपरीत श्रद्धान, १४. "अज्ञान"-मूढपनां, १५. "निद्रा"-सोना, १६. "अविरति"-प्रत्याख्यान से रहित पना, १७. "राग"-पूर्व सुखों का स्मरण और पूर्व सुख वा तिसके साधन में गृद्धिपना, १८. "द्वेष"-पूर्व दुःखों का स्मरण और पूर्व दुःख वा तिसके साधन विषय क्रोध। यह अठारह दूषण जिनमें नहीं सो अर्हन्त भगवन्त परमेश्वर है। इन अठारह दूषण में से एक भी दूषण जिसमें होगा सो कभी भी अर्हन्त भगवंत परमेश्वर नहीं हो सकता।

अठारह दोषों की मीमांसा

प्रश्नः—दानान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर दान देता है? अरु लाभांतराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर को लाभ होता है? तथा वीर्यान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर शक्ति दिखलाता है? तथा भोगान्तराय के नष्ट होने से क्या परमेश्वर भोग करता है? उपभोगान्तराय के नष्ट

---

(४) भोग के साधन मौजूद हों, वैराग्य भी न हो, तो भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य वस्तुओं को भोग न सके वह "भोगान्तराय" है।

(५) उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न कर सके वह "उपभोगान्तराय" है।

आदि के ऊपर प्रीतिमान् होगा । जो प्रीतिमान होगा सो अवश्य उस पदार्थ की लालसा वाला होगा, अरु जो लालसा वाला होगा सो अवश्य उस पदार्थ की अप्राप्ति से दुःखी होगा। वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे हो सकता है ?

आठवां दूषण "अरति" है—जिसकी पदार्थों के ऊपर अप्रीति होगी, सो तो आपही अप्रीतिरूप दुःखकरी दुःखी है। सो अर्हन्त भगवन्त कैसे हो सके ?

नववां दूषण "भय" है—सो जिसने अपना ही भय दूर नहीं किया वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे होवे ?

दशवां दूषण "जुगुप्सा" है—सो मलीन वस्तु को देखके घृणा करनी–नाक चढ़ानी, सो परमेश्वर के ज्ञान में सर्व-वस्तु का भासन होता है। जो परमेश्वर में जुगुप्सा होवे तो बड़ा दुःख होवे। इस कारण ते जुगुप्सामान अर्हन्त भगवन्त कैसे होवे ?

ग्यारवां दूषण "शोक" है—सो जो आपही शोक वाला है सो परमेश्वर नहीं।

बारवां दूषण "काम" है–सो जो आपही विषयी है, स्त्रियों के साथ भोग करता है, तिस विषयाभिलाषी को कौन बुद्धि-मान पुरुष परमेश्वर मान सकता है ?

तेरवां दूषण "मिथ्यात्व" है–सो जो दर्शनमोहकरी लिप्त है सो भगवन्त नहीं।

चौदवां दूषण "अज्ञान" है–सो जो आपही मूढ है सो अर्हन्त भगवन्त कैसे ?

आदि के ऊपर प्रीतिमान् होगा । जो प्रीतिमान होगा सो अवश्य उस पदार्थ की लालसा वाला होगा, अरु जो लालसा वाला होगा सो अवश्य उस पदार्थ की अप्राप्ति से दुःखी होगा । वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे हो सकता है ?

आठवां दूषण "अरति" है—जिसकी पदार्थों के ऊपर अप्रीति होगी, सो तो आपही अप्रीतिरूप दुःखकरी दुःखी है । सो अर्हन्त भगवन्त कैसे हो सके ?

नववां दूषण "भय" है—सो जिसने अपना ही भय दूर नहीं किया वह अर्हन्त परमेश्वर कैसे होवे ?

दशवां दूषण "जुगुप्सा" है—सो मलीन वस्तु को देखके घृणा करनी—नाक चढ़ानी, सो परमेश्वर के ज्ञान में सर्व-वस्तु का भासन होता है । जो परमेश्वर में जुगुप्सा होवे तो बड़ा दुःख होवे । इस कारण ते जुगुप्सामान अर्हन्त भगवन्त कैसे होवे ?

ग्यारवां दूषण "शोक" है—सो जो आपही शोक वाला है सो परमेश्वर नहीं ।

बारवां दूषण "काम" है—सो जो आपही विषयी है, स्त्रियों के साथ भोग करता है, तिस विषयाभिलाषी को कौन बुद्धि-मान पुरुष परमेश्वर मान सकता है ?

तेरवां दूषण "मिथ्यात्व" है—सो जो दर्शनमोहकरी लिप्त है सो भगवन्त नहीं ।

चौदवां दूषण "अज्ञान" है—सो जो आपही मूढ है सो अर्हन्त भगवन्त कैसे ?

वन्त परमेश्वर है अपर कोई परमेश्वर नहीं।

अथ अर्हन्त के नाम दो श्लोकों करि लिखते हैं:—

अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालवित्,
क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः।
शम्भुः स्वयम्भुर्भगवान् जगत्प्रभु-
स्तीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वरः॥
स्याद्वाद्यभयदसार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शिकेवलिनौ।
देवाधिदेवबोधिदपुरुषोत्तमवीतरागाप्ताः॥

[अभि० चि०—कां० १, श्लो० २४-२५]

इन दोनों श्लोकों का अर्थः-१. "अर्हन्"—चौंतीस अतिशय करी, सबसे अधिक होने से, तथा सुरेन्द्र आदिकों की करी हुई अष्ट महाप्रातिहार्य, और जन्मस्नात्रादि पूजा के योग्य होने से अर्हन्, अथवा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म-

परमात्मा के विविध नाम

रूप वैरी को हनने से अर्हन्, अथवा बध्यमान कर्म रज के हनने से अर्हन्, अथवा नहीं है कोई पदार्थ छाना जिन्हों के ज्ञान में सो अर्हन्। तथा नामान्तर में अरुहन्—नहीं उत्पन्न होता भवरूपी अंकुर जिनों के सो अरुहन्। २. "जिनः"—जीते हैं राग, द्वेष, मोहादि अष्टादश दूषण जिसने सो जिन। ३. "पारगतः"—जो संसार के अथवा प्रयोजन जात के—प्रयोजन मात्र के पार-अन्त को गत-प्राप्त हुआ है, एतावता संसार में जिसका कोई प्रयोजन नहीं सो पारगत। ४. "त्रिकालवित्"—

वन्त परमेश्वर है अपर कोई परमेश्वर नहीं।

अथ अर्हन्त के नाम दो श्लोकों करि लिखते हैं:—

अर्हन् जिनः पारगतस्त्रिकालवित्,
क्षीणाष्टकर्मा परमेष्ठ्यधीश्वरः।
शम्भुः स्वयम्भुर्भगवान् जगत्प्रभु-
स्तीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वरः॥
स्याद्वाद्यभयदसार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शिकेवलिनौ।
देवाधिदेवबोधिदपुरुषोत्तमवीतरागाप्ताः॥

[अभि० चि०—कां० १, श्लो० २४-२५]

परमात्मा के विविध नाम

इन दोनों श्लोकों का अर्थः-१. "अर्हन्"—चौंतीस अतिशय करी, सबसे अधिक होने से, तथा सुरेन्द्र आदिकों की करी हुई अष्ट महाप्रातिहार्य, और जन्मस्नानादि पूजा के योग्य होने से अर्हन्, अथवा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म-रूप वैरी को हनने से अर्हन्, अथवा बध्यमान कर्म रज के हनने से अर्हन्, अथवा नहीं है कोई पदार्थ छाना जिन्हों के ज्ञान में सो अर्हन्। तथा नामान्तर में अरुहन्—नहीं उत्पन्न होता भवरूपी अंकुर जिनों के सो अरुहन्। २. "जिनः"—जीते हैं राग, द्वेष, मोहादि अष्टादश दूषण जिसने सो जिन। ३. "पारगतः"—जो संसार के अथवा प्रयोजन जात के-प्रयोजन मात्र के पार-अन्त को गत-प्राप्त हुआ है, एतावता संसार में जिसका कोई प्रयोजन नहीं सो पारगत। ४. "त्रिकालवित्"-

चार प्रकार का संघ, अथवा प्रथम गणधर, तिसके जो. करने वाला सो तीर्थङ्कर। १३. "जिनेश्वरः"—रागादिकों के जीतने हारे सो जिन—केवली, तिनका जो ईश्वर सो जिनेश्वर। १४. "स्याद्वादी"—'स्यात्' एह जो अव्यय है सो अनेकान्त का वाचक है, वस्तु को अनेकान्तपने-अनेक स्वरूपे कहने का शील है जिसका सो स्याद्वादी। १५. *"अभयदः"-भय सात प्रकार का है:—१. मनुष्यादि को मनुष्यादि स्वजातीय से अर्थात् एक मनुष्य को अन्य मनुष्य सेती जो भय होवे सो "इहलोकभय," २. विजातीय तिर्यञ्च, देवतादिक सेती जो भय होवे सो "परलोकभय," ३. आदानभय—आदान कहिये धन, तिस धन के कारणे चोरादिक सेती जो भय होवे सो "आदानभय",४. वाहिरले निमित्त विना घरादि में बैठे को जो भय होवे सो "अकस्मात् भय", ५. आजीविकाभय-मैं निर्धन हूँ,

---

* अभि० चि०, कां० १, श्लो० २५ की टीका से उद्धृतः—

भयं इहपरलोकादानाकस्मादाजीवमरणाश्लाघाभेदेन सप्तधा, एतत् प्रतिपक्षतोऽभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यं निःश्रेयसधर्मनिबन्धनभूमिकाभूतं, तत् गुणप्रकर्षादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वात् ददातीति अभयदः।

भावार्थ—सप्तविध भय से विलक्षण जो आत्मा की विशिष्ट निराकुलता है उसका नाम अभय है। वह मोक्षप्राप्ति के साधनभूत धर्म की भूमिका—आधारशिला है। अनन्तवीर्य आदि गुणों के प्रकर्ष से सर्वशक्तिमान् और परोपकारी होने से उसे जो देता है उसको अभयद कहते हैं।

चार प्रकार का संघ, अथवा प्रथम गणधर, तिसके जो. करने वाला सो तीर्थङ्कर। १३. "जिनेश्वरः"—रागादिकों के जीतने हारे सो जिन—केवली, तिनका जो ईश्वर सो जिनेश्वर। १४. "स्याद्वादी"—'स्यात्' एह जो अव्यय है सो अनेकान्त का वाचक है, वस्तु को अनेकान्तपने-अनेक स्वरूपे कहने का शील है जिसका सो स्याद्वादी। १५. *"अभयदः"-भय सात प्रकार का है:—१. मनुष्यादि को मनुष्यादि स्वजातीय से अर्थात् एक मनुष्य को अन्य मनुष्य सेती जो भय होवे सो "इहलोकभय," २. विजातीय तिर्यञ्च, देवतादिक सेती जो भय होवे सो "परलोकभय," ३. आदानभय—आदान कहिये धन, तिस धन के कारणे चोरादिक सेती जो भय होवे सो "आदानभय",४. वाहिरले निमित्त विना घरादि में वैठे को जो भय होवे सो "अकस्मात् भय", ५. आजीविकाभय-मैं निर्धन हूँ,

---

* अभि० चि०, कां० १, श्लो० २५ की टीका से उद्धृतः—

भयं इहपरलोकादानाकस्मादाजीवमरणाश्लाघाभेदेन सप्तधा, एतत् प्रतिपक्षतोऽभयं विशिष्टमात्मनः स्वास्थ्यं निःश्रेयसधर्मनिवन्धनभूमिकाभूतं, तत् गुणप्रकर्षादचिन्त्यशक्तियुक्तत्वात् सर्वथा परार्थकारित्वात् ददातीति अभयदः।

भावार्थ—सप्तविध भय से विलक्षण जो आत्मा की विशिष्ट निराकुलता है उसका नाम अभय है। वह मोक्षप्राप्ति के साधनभूत धर्म की भूमिका—आधारशिला है। अनन्तवीर्य आदि गुणों के प्रकर्ष से सर्वशक्तिमान् और परोपकारी होने से उसे जो देता है उसको अभयद कहते हैं।

ग्रन्थों के अनुसार तथा समवायाङ्ग, राजप्रश्नीय प्रमुख शास्त्रों के अनुसार संक्षेप से लिखा है, अन्यथा जिनसहस्रनाम ग्रन्थ में तो एक हजार आठ नाम अन्वयार्थ सहित कहे हैं। सर्व नाम व्युत्पत्ति सहित अर्हन्त परमेश्वर के हैं। सो अर्हन्त पद तो एक और अनादि अनन्त है, परन्तु इस पद के धारक जीव तो अतीत काल में अनन्त हो गये हैं। क्योंकि एक एक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में भारतवर्ष में चौवीस चौवीस जीव, अर्हन्त पद को धारकर पीछे सिद्धि पद को प्राप्त हो चुके हैं।

गत चौवीसी के तीर्थंकर

इस वर्तमान अवसर्पिणी से पिछली उत्सर्पिणी में जो जीव अरिहन्त पद के धारक हुए हैं, तिन के नाम यह हैं:—१. केवलज्ञानी २. निर्वाणी ३. सागर ४. महायश ५. विमलनाथ ६. सर्वानुभूति ७. श्रीधर ८. दत्त ९. दामोदर १०. सुतेज ११. स्वामी १२. मुनिसुव्रत १३. सुमति १४. शिवगति १५. अस्ताग १६. नेमीश्वर १७. अनिल १८. यशोधर १९. कृतार्थ २०. जिनेश्वर २१. शुद्धमति २२. शिवकर २३. स्यन्दन २४. सम्प्रति।

वर्तमान चौवीसी के तीर्थंकर

अथ वर्तमान चौवीस अर्हन्तों के नामः—१. श्रीऋषभनाथ २. श्री अजितनाथ ३. श्री सम्भवनाथ ४. श्री अभिनन्दननाथ ५. श्री सुमतिनाथ ६. श्री पद्मप्रभ ७. श्री सुपार्श्वनाथ ८. श्री चन्द्रप्रभ ९. श्री सुविधिनाथ अपर नाम पुष्पदन्त १०.

ग्रन्थों के अनुसार तथा समवायाङ्ग, राजप्रश्नीय प्रमुख शास्त्रों के अनुसार संक्षेप से लिखा है, अन्यथा जिनसहस्रनाम ग्रन्थ में तो एक हजार आठ नाम अन्वयार्थ सहित कहे हैं। सर्व नाम व्युत्पत्ति सहित अर्हन्त परमेश्वर के हैं। सो अर्हन्त पद तो एक और अनादि अनन्त है, परन्तु इस पद के धारक जीव तो अतीत काल में अनन्त हो गये हैं। क्योंकि एक एक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में भारतवर्ष में चौवीस चौवीस जीव, अर्हन्त पद को धारकर पीछे सिद्धि पद को प्राप्त हो चुके हैं।

गत चौवीसी के तीर्थंकर

इस वर्तमान अवसर्पिणी से पिछली उत्सर्पिणी में जो जीव अरिहन्त पद के धारक हुए हैं, तिन के नाम यह हैं:—१. केवलज्ञानी २. निर्वाणी ३. सागर ४. महायश ५. विमलनाथ ६. सर्वानुभूति ७. श्रीधर ८. दत्त ९. दामोदर १०. सुतेज ११. स्वामी १२. मुनिसुव्रत १३. सुमति १४. शिवगति १५. अस्ताग १६. नेमीश्वर १७. अनिल १८. यशोधर १९. कृतार्थ २०. जिनेश्वर २१. शुद्धमति २२. शिवकर २३. स्यन्दन २४. सम्प्रति।

वर्तमान चौवीसी के तीर्थंकर

अथ वर्तमान चौबीस अर्हन्तों के नामः—१. श्रीऋषभनाथ २. श्री अजितनाथ ३. श्री सम्भवनाथ ४. श्री अभिनन्दननाथ ५. श्री सुमतिनाथ ६. श्री पद्मप्रभ ७. श्री सुपार्श्वनाथ ८. श्री चन्द्रप्रभ ९. श्री सुविधिनाथ अपर नाम पुष्पदन्त १०.

माता मरुदेवी ने चौदह स्वप्न की आदि में बैल का स्वप्न देखा था, तिस कारण से ऋषभ ऐसा नाम दिया। ऐसे ही सर्व तीर्थङ्करों का प्रथम सामान्यार्थ और दूसरा विशेषार्थ जानना।

२—"परीषहादिभिर्न जितः इत्यजितः"–बावीस *परीषह, आदि शब्द से चार † कषाय, आठ ‡ कर्म, चार प्रकार का §उपसर्ग–इनों करके जो न जीत्या गया सो अजित, "यद्वा गर्भस्थेऽस्मिन् द्यूते राज्ञा जननी न जितेत्यजितः"—अथवा जब भगवान गर्भ में थे तब जूआ खेलता हुआ राजा रानी को न जीत सका, इस हेतु से अजित नाम दिया।

३—"शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते सः शम्भवः"—शं नाम सुख का है, सुख होवे जिसकी स्तुति करने पर सो शम्भव, "यद्वा गर्भगतेप्यस्मिन्नभ्यधिकसस्यसंभवात् सम्भवोपि"—अथवा भगवान जब गर्भ में थे तब पृथिवी में अधिक धान्य

---

* १. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक–डांस और मच्छर ६. नग्नत्व, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कारपुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान, २२. अदर्शन। विशेष स्वरूप के लिये देखो परि० नं० १—ग।

† १. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ।

‡ १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।

§ १. देवकृत, २. मनुष्यकृत, ३. तिर्यञ्चकृत, ४. कर्मजनित।

माता मरुदेवी ने चौदह स्वप्न की आदि में बैल का स्वप्न देखा था, तिस कारण से ऋषभ ऐसा नाम दिया। ऐसे ही सर्व तीर्थङ्करों का प्रथम सामान्यार्थ और दूसरा विशेषार्थ जानना।

२—"परीषहादिभिर्न जितः इत्यजितः"–बावीस *परीषह, आदि शब्द से चार † कषाय, आठ ‡ कर्म, चार प्रकार का §उपसर्ग–इनों करके जो न जीत्या गया सो अजित, "यद्वा गर्भस्थेऽस्मिन् द्यूते राज्ञा जननी न जितेत्यजितः"—अथवा जब भगवान गर्भ में थे तब जूआ खेलता हुआ राजा रानी को न जीत सका, इस हेतु से अजित नाम दिया।

३—"शं सुखं भवत्यस्मिन् स्तुते सः शम्भवः"—शं नाम सुख का है, सुख होवे जिसकी स्तुति करने पर सो शम्भव, "यद्वा गर्भगतेप्यस्मिन्नभ्यधिकसस्यसंभवात् सम्भवोपि"—अथवा भगवान जब गर्भ में थे तब पृथिवी में अधिक धान्य

---

* १. क्षुधा, २. पिपासा, ३. शीत, ४. उष्ण, ५. दंशमशक–डांस और मच्छर ६. नग्नत्व, ७. अरति, ८. स्त्री, ९. चर्या, १०. निषद्या, ११. शय्या, १२. आक्रोश, १३. वध, १४. याचना, १५. अलाभ, १६. रोग, १७. तृणस्पर्श, १८. मल, १९. सत्कारपुरस्कार, २०. प्रज्ञा, २१. अज्ञान, २२. अदर्शन। विशेष स्वरूप के लिये देखो परि० नं० १–ग।

† १. क्रोध, २. मान, ३. माया, ४. लोभ।

‡ १. ज्ञानावरणीय, २. दर्शनावरणीय, ३. वेदनीय, ४. मोहनीय, ५. आयु, ६. नाम, ७. गोत्र, ८. अन्तराय।

§ १. देवकृत, २. मनुष्यकृत, ३. तिर्यञ्चकृत, ४. कर्मजनित।

सुपार्श्वाभूदिति सुपार्श्वः"—अथवा भगवान के गर्भ में स्थित हुये माता के दोनों पासे बहुत सुन्दर होगये इस कारण से सुपार्श्व।

८—"चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्य-चन्द्रप्रभः"—चन्द्रमा की तरें है प्रभा-कान्ति-सौम्य लेश्या-विशेष इसकी सो चन्द्रप्रभ। तथा "गर्भस्थे देव्याश्चन्द्रपानदोहदोऽभूदिति चन्द्रप्रभः"-गर्भ में जब भगवान थे तब माता को चन्द्रमा पीने का दोहद उत्पन्न हुआ था, इस कारण से चन्द्रप्रभ।

९—"शोभनो विधिर्विधानमस्य—सुविधिः"—भली है विधि इसकी सो सुविधि। "यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्य-प्येवमिति सुविधिः"—अथवा गर्भ में भगवान् के रहने से माता भी शोभनीक विधिवाली होती भई, इस कारण से सुविधि।

१०—"सकलसत्त्वसन्तापहरणाच्छीतलः"-सर्व जीवों का संताप हरने से शीतल। तथा "गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वोत्पन्नाचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतलः"-भगवन्त के गर्भ में आने से, भगवन्त के पिता के शरीर में पित्तदाह रोग था, वैद्यों से जिसकी शान्ति न हुई परन्तु भगवन्त की माता के हाथ का स्पर्श होते ही राजा का शरीर शीतल होगया, इस कारण से शीतल।

११—"श्रेयान् समस्तभुवनस्यैव हितकरः, प्राकृत शैल्या

सुपार्श्वाभूदिति सुपार्श्वः"—अथवा भगवान के गर्भ में स्थित हुये माता के दोनों पासे वहुत सुन्दर होगये इस कारण से सुपार्श्व ।

८—"चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेपोऽस्य-चन्द्रप्रभः"—चन्द्रमा की तरें है प्रभा-कान्ति-सौम्य लेश्या-विशेप इसकी सो चन्द्रप्रभ । तथा "गर्भस्थे देव्याश्चन्द्रपानदोह-दोऽभूदिति चन्द्रप्रभः"-गर्भ में जब भगवान थे तब माता को चन्द्रमा पीने का दोहद उत्पन्न हुआ था, इस कारण से चन्द्रप्रभ ।

९—"शोभनो विधिर्विधानमस्य—सुविधिः"—भली है विधि इसकी सो सुविधि । "यद्वा गर्भस्थे भगवति जनन्य-प्येवमिति सुविधिः"—अथवा गर्भ में भगवान् के रहने से माता भी शोभनीक विधिवाली होती भई, इस कारण से सुविधि ।

१०—"सकलसत्त्वसन्तापहरणाच्छीतलः"-सर्व जीवों का संताप हरने से शीतल । तथा "गर्भस्थे भगवति पितुः पूर्वो-त्पन्नाचिकित्स्यपित्तदाहो जननीकरस्पर्शादुपशान्त इति शीतलः"-भगवन्त के गर्भ में आने से, भगवन्त के पिता के शरीर में पित्तदाह रोग था, वैद्यों से जिसकी शान्ति न हुई परन्तु भगवन्त की माता के हाथ का स्पर्श होते ही राजा का शरीर शीतल होगया, इस कारण से शीतल ।

११—"श्रेयान् समस्तभुवनस्यैव हितकरः, प्राकृत शैल्या

१३—"विगतो मलोऽस्य—विमलः, विमलज्ञानादियोगाद्वा विमलः"—दूर हुआ है अष्टकर्मरूपमल जिसका सो विमल, अथवा निर्मल ज्ञानादि योग से विमल। "गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमलः"—अथवा भगवान जब गर्भ में थे, तब माता की बुद्धि और शरीर ए दोनों निर्मल होगये इस कारण से विमल नाम जानना।

१४—"न विद्यते गुणानामन्तोऽस्य—अनन्तः, अनन्तकर्मांशजयाद्वाऽनन्तः, अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्तः"—नहीं है गुणों का अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनन्त कर्मांश जीतने से अनन्त, अथवा अनन्त हैं ज्ञानादि गुण जिनके सो अनन्त। "रयणविचित्त—रयणगणचियं अणंतं—अइमहप्पमाणं दामं सुमिणे जणणीए दिट्ठं तओ अणंतोत्ति"—[आ० नि०, हारि० टी०, गा० १०८६] रत्न विचित्र—रत्न जड़ित अति मोटी दाम-माला स्वप्न में माता ने देखी तिस कारण अनन्त।

१५—"दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः"—दुर्गति में पड़ते जीवों के समूह को जो धारण करे सो धर्म। तथा "गर्भस्थे जननी दानादिधर्मपरा जातेति धर्मः"—परमेश्वर के गर्भ में आवने से माता दानादिक धर्म में तत्पर भयी, इस कारण से धर्म नाम।

१६—"शान्तियोगात्तदात्मकत्वात्कर्तृत्वाद्वा शान्तिः"—शान्ति के योग से वा शान्तिरूप होने से वा शान्ति करने से शान्ति।

१३—"विगतं मलोऽस्य—विमलः, विमलज्ञानादियोगाद्वा विमलः"—दूर हुआ है अष्टकर्मरूपमल जिसका सो विमल, अथवा निर्मल ज्ञानादि योग से विमल। "यद्वा गर्भस्थे मातुर्मतिस्तनुश्च विमला जातेति विमलः"—अथवा भगवान जब गर्भ में थे, तब माता की बुद्धि और शरीर ये दोनों निर्मल होगये इस कारण से विमल नाम जानना।

१४—"न विद्यते गुणानामन्तोऽस्य—अनन्तः, अनन्तकर्मांशजयाद्वाऽनन्तः, अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येत्यनन्तः"—नहीं है गुणों का अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनन्त कर्मांश जीतने से अनन्त, अथवा अनन्त हैं ज्ञानादि गुण जिसके सो अनन्त। "रयणविचित्त—रत्नविचित्रं अणंतं—अनन्तं दामं सुमिणे जणणीए दिट्ठं तओ अणंतोत्ति"—[आ० नि०, हारि० टी०, गा० १०८६] रत्न विचित्र-रत्न जड़ित अति मोटी दाम-माला स्वप्न में माता ने देखी तिस कारण अनन्त।

१५—"दुर्गतौ प्रपतन्तं सत्त्वसंघातं धारयतीति धर्मः"—दुर्गति में पड़ते जीवों के समूह को जो धारण करे सो धर्म। तथा "गर्भस्थे जननी दानादिधर्मपरा जातेति धर्मः"—परमेश्वर के गर्भ में आवने से माता दानादिक धर्म में तत्पर भयी, इस कारण से धर्म नाम।

१६—"शान्तियोगात्तत्कर्तृत्वाद्वा शान्तिः"—शान्ति के योग से वा शान्तिरूप होने से वा शान्ति करने से शान्ति।

के गर्भ में स्थित हुवे भगवन्त की माता को सुगन्ध वाले फूलों की माला की शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न भया, सो देवता ने पूरण किया, इस कारण से मल्लि ।

२०—"मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रतः, मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः"—माने जो जगत को तीनों ही काल में सो मुनि, भले हैं व्रत जिसके सो सुव्रत, ए दोनों पद इकट्ठे करने से मुनिसुव्रत यह नाम हुवा। तथा "गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित हुये माता मुनि की तरह भले व्रतवाली होती भई, इस हेतु से मुनिसुव्रत ।

२१—"परीषहोपसर्गादिनामनात्—[* नमेस्तुर्वेतिविकल्पेनोपान्त्यस्येकाराभावपक्षे] नमिः"—परीषह तथा उपसर्ग आदि को नमावने से नमि । यद्वा "गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित होने पर वैरी राजाओं ने भी नमस्कार करी, इस कारण से नमि ।

२२—"धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः"—धर्मचक्र की धारावत् जो हो सो नेमि । तथा "गब्भगए तस्स मायाए रिट्ठरयणामओ महइमहालओ नेमी उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति तेण से रिट्ठणेमित्ति णामं कयं"–[आ० नि०, हारि० टी०, गा०

---

* क्रमितमिस्तम्भेरिच्च नमेस्तु वा [सि० है०, उणादि सू० ६१३]

के गर्भ में स्थित हुवे भगवन्त की माता को सुगन्ध वाले फूलों की माला की शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न भया, सो देवता ने पूरण किया, इस कारण से मल्लि ।

२०—"मन्यते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, शोभनानि व्रतान्यस्येति सुव्रतः, मुनिश्चासौ सुव्रतश्च मुनिसुव्रतः"—माने जो जगत को तीनों ही काल में सो मुनि, भले हैं व्रत जिसके सो सुव्रत, ए दोनों पद इकट्ठे करने से मुनिसुव्रत यह नाम हुवा । तथा "गर्भस्थे जननी मुनिवत् सुव्रता जातेति मुनिसुव्रतः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित हुये माता मुनि की तरह भले व्रतवाली होती भई, इस हेतु से मुनिसुव्रत ।

२१—"परीषहोपसर्गादिनामनात्—[* नमेस्तुर्वेतिविकल्पेनोपान्त्यस्यैकाराभावपक्षे] नमिः"—परीषह तथा उपसर्ग आदि को नमावने से नमि । यद्वा "गर्भस्थे भगवति परचक्रनृपैरपि प्रणतिः कृतेति नमिः"—भगवन्त के गर्भ में स्थित होने पर वैरी राजाओं ने भी नमस्कार करी, इस कारण से नमि ।

२२—"धर्मचक्रस्य नेमिवन्नेमिः"—धर्मचक्र की धारावत् जो हो सो नेमि । तथा "गब्भगए तस्स मायाए रिट्ठरयणामओ महइमहालओ नेमी उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति तेण से रिट्ठणेमित्ति णामं कयं"—[आ० नि०, हारि० टी०, गा०

---

* क्रमितमिस्तम्भेरिच्च नमेस्तु वा [सि० है०, उणादि सू० ६१३]

इस प्रकार यह अवसर्पिणी में जो तीर्थङ्कर हो गये हैं, तिनों के नाम अरु किस हेतु से यह नाम रक्खे गये सो प्रकरण समाप्त हुवा। ✻

तीर्थङ्करों के वंश तथा वर्ण

यह जो चौवीस तीर्थङ्कर हैं। इनमें से बावीस तो इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुवे हैं, एतावता ऋषभदेव की सन्तान में से हैं। इक्ष्वाकु कुल ऋषभदेव ही से प्रसिद्ध है, यह आगे चलकर लिखेंगे। एक तो बीसवें मुनिसुव्रत स्वामी तथा दूसरे बावीसवें श्री अरिष्ट नेमि भगवान्, ये दोनों तीर्थङ्कर हरिवंश में उत्पन्न हुए हैं। तथा इन चौवीसों तीर्थङ्करों में छठा पद्मप्रभ और बारहवां वासुपूज्य ये दोनों तीर्थङ्कर रक्तवर्ण शरीर वाले हुए हैं। आठवां चन्द्रप्रभ और नवमा सुविधिनाथ–पुष्पदन्त ए दोनों तीर्थङ्कर श्वेत वर्ण-स्फटिक के समान उज्वल शरीर वाले हुए हैं। तथा उन्नीसवां मल्लिनाथ और तेईसवां पार्श्वनाथ, ए दोनों तीर्थङ्कर हरितवर्ण शरीर वाले हुए हैं। तथा बीसवां मुनि सुव्रत स्वामी और बावीसवां अरिष्टनेमि भगवान् ए दोनों तीर्थङ्कर श्यामवर्ण–अलसी के फूल सदृश रङ्ग वाले शरीर के धारक हुए हैं। और शेष सोलां तीर्थङ्कर सुवर्ण वर्ण शरीर वाले हुए हैं।

✻ उपर्युक्त तीर्थङ्कर के नामों के सामान्य और विशेष अर्थ अभि० चि० तथा आवश्यकभाष्य की श्री हरिभद्रसूरिकृत टीकागत लेख के अनुसार किये गये हैं।

इस प्रकार यह अवसर्पिणी में जो तीर्थङ्कर हो गये हैं, तिनों के नाम अरु किस हेतु से यह नाम रक्खे गये सो प्रकरण समाप्त हुवा। ❀

तीर्थङ्करों के वंश तथा वर्ण

यह जो चौवीस तीर्थङ्कर हैं। इनमें से वावीस तो इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न हुवे हैं, एतावता ऋषभदेव की सन्तान में से हैं। इक्ष्वाकु कुल ऋषभदेव ही से प्रसिद्ध है, यह आगे चलकर लिखेंगे। एक तो बीसवें मुनिसुव्रत स्वामी तथा दूसरे वावीसवें श्री अरिष्ट नेमि भगवान्, ये दोनों तीर्थङ्कर हरिवंश में उत्पन्न हुए हैं। तथा इन चौवीसों तीर्थङ्करों में छठा पद्मप्रभ और वारहवां वासुपूज्य ये दोनों तीर्थङ्कर रक्तवर्ण शरीर वाले हुए हैं। आठवां चन्द्रप्रभ और नवमा सुविधिनाथ–पुष्पदन्त ए दोनों तीर्थङ्कर श्वेत वर्ण-स्फटिक के समान उज्वल शरीर वाले हुए हैं। तथा उन्नीसवां मल्लिनाथ और तेईसवां पार्श्वनाथ, ए दोनों तीर्थङ्कर हरितवर्ण शरीर वाले हुए हैं। तथा वीसवां मुनि सुव्रत स्वामी और वावीसवां अरिष्टनेमि भगवान् ए दोनों तीर्थङ्कर श्यामवर्ण–अलसी के फूल सदृश रङ्ग वाले शरीर के धारक हुए हैं। और शेष सोलां तीर्थङ्कर सुवर्ण वर्ण शरीर वाले हुए हैं।

❀ उपर्युक्त तीर्थङ्कर के नामों के सामान्य और विशेष अर्थ अभि० चि० तथा आवश्यकभाष्य की श्री हरिभद्रसूरिकृत टीकागत लेख के अनुसार किये गये हैं।

	नाभिरन्त्यकुलकरः"—हकार आदि की नीति
तीर्थङ्करपितृनाम	से जो अन्यायियों को दण्ड देवे है सो
	नाभि—अन्तिम कुलकर।

दूसरी मध्यम और तीसरी उत्कृष्ट अर्थात् स्वल्प अपराध में पहिली से, मध्यम अपराध में दूसरी से और उत्कृष्ट अपराध में तीसरी से दण्ड दिया जाता था।

पहिले तथा दूसरे कुलकरके समय में पहली हक्काररूप दण्डनीति का उपयोग किया जाता था। तीसरे और चौथे कुलकर के समय में दूसरी मक्काररूप दण्डनीति का उपयोग होता था। पांचवें, छठे और सातवें कुलकरके समय में तीसरी दण्डनीति का प्रयोग होता था। यथाः—

हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव दण्डनीइउ।
पढमाविइयाण पढमा तइयचउत्थाण अहिणवा विइया।
पंचमछट्ठस्स य सत्तमस्स तइया अहिणवा हु॥

[आ० नि०, गा० १६७, १६८]

हक्कारो मक्कारो धिक्कारश्चेति कुलकराणां दण्डनीतयः। तत्र प्रथम-द्वितीययोः कुलकरयोः प्रथमा हक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। तृतीय चतुर्थ-योरभिनवा द्वितीया—मक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। तथा पंचमषष्ठयोः सप्तमस्य च तृतीया अभिनवा उत्कृष्टा धिक्काराख्या दण्डनीतिः। किमुक्तं भवति? स्वल्पापराधे प्रथमया मध्यमापराधे द्वितीयया महापराधे तृतीयया च दण्डः क्रियते। एताश्च तिस्रोऽपि लघुमध्यमोत्कृष्टापराधेषु यथाक्रमं प्रवर्तिता इति भावार्थः।

[अभि० रा० ३ भाग, पृ० ५९५ के अनुसार]

नाभिरन्त्यकुलकरः"—हकार आदि को नीति
तीर्थङ्करपितृनाम से जो अन्यायियों को दराड देवे है सो
नाभि—अन्तिम कुलकर।

दूसरी मध्यम और तीसरी उत्कृष्ट अर्थात् स्वल्प अपराध में पहिली से, मध्यम अपराध में दूसरी से और उत्कृष्ट अपराध में तीसरी से दण्ड दिया जाता था।

पहिले तथा दूसरे कुलकरके समय में पहली हक्काररूप दण्डनीति का उपयोग किया जाता था। तीसरे और चौथे कुलकर के समय में दूसरी मक्काररूप दण्डनीति का उपयोग होता था। पांचवें, छठे और सातवें कुलकरके समय में तीसरी दण्डनीति का प्रयोग होता था। यथाः—

हक्कारे मक्कारे धिक्कारे चेव दण्डनीइउ।
पढमाविइयाण पढमा तइयचउत्थाण अहणिवा विइया।
पंचमछट्ठस्स य सत्तमस्स तइया अहिणवा हु॥

[आ० नि०, गा० १६७, १६८]

हक्कारो मक्कारो धिक्कारश्चेति कुलकराणां दण्डनीतयः। तत्र प्रथम-द्वितीययोः कुलकरयोः प्रथमा हक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। तृतीय चतुर्थ-योरभिनवा द्वितीया—मक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। तथा पंचमषष्ठयोः सप्तमस्य च तृतीया अभिनवा उत्कृष्टा धिक्काराख्या दण्डनीतिः। किमुक्तं भवति? स्वल्पापराधे प्रथमया मध्यमापराधे द्वितीयया महापराधे तृतीयया च दण्डः क्रियते। एताश्च तिस्रोऽपि लघुमध्यमोत्कृष्टापराधेषु यथाक्रमं प्रवर्तिता इति भावार्थः।

[अभि० रा० ३ भाग, पृ० ५९५ के अनुसार]

सिंहसेन, १५. "भानुः—भाति त्रिवर्गेण"—शोभे है जो अर्थ, काम अरु धर्म करके सो भानु, १६. "विश्वसेनराट्—विश्वव्यापिनी सेनाऽस्येति विश्वसेनः स चासौ राट् च"—जगत में व्यापने वाली है सेना जिसकी सो विश्वसेन, इस का राज् के साथ समास होने पर विश्वसेन राट्, १७. "सूरः-तेजसा सूर इव"—तेज करके जो सूर्यसमान सो सूर, १८. "सुदर्शनः—शोभनं दर्शनमस्य"—भला है दर्शन जिसका सो सुदर्शन, १६. "कुम्भः—गुणपयसामाधारभूतत्वात् कुम्भ इव"—गुणरूप पानी का आधार भूत होने से कुम्भ की तरे कुम्भ, २०. "सुमित्रः—शोभनानि मित्राण्यस्य"—भले हैं मित्र जिस के सो सुमित्र, २१. "विजयः—विजयते शत्रूनिति"—जीता है शत्रुओं को जिसने सो विजय २२. "समुद्रविजयः-गाम्भीर्येण समुद्रस्यापि विजेता"—गाम्भीर्य करी समुद्र को भी जीतने वाला—समुद्र विजय, २३. "अश्वसेनः—अश्वप्रधाना सेनास्य"—घोडों करी प्रधान है सेना जिसकी सो अश्वसेन, २४. "सिद्धार्थः—सिद्धा अर्थाः पुरुषार्था अस्य"—सिद्ध हुये हैं अर्थ-पुरुपार्थ जिसके सो सिद्धार्थ। ए ऋषभ आदि चौवीस तीर्थङ्करों के क्रम करके चौवीस पिताओं के नाम कहे हैं।

अथ चौवीस तीर्थङ्करों की माताओं के नाम लिखते हैं:—

तीर्थङ्कर मातृनाम

१. "मरुदेवा—मरुद्भिर्दीव्यते स्तूयते [पृषोदरादित्वात् तलोपः] मरुदेव्यपि"—देवताओं करी जिसकी स्तुति की गयी सो मरुदेवा,

सिंहसेन, १५. "भानुः—भाति त्रिवर्गेण"—शोभे है जो अर्थ, काम अरु धर्म करके सो भानु, १६. "विश्वसेनराट्—विश्वव्यापिनी सेनाऽस्येति विश्वसेनः स चासौ राट् च"—जगत में व्यापने वाली है सेना जिसकी सो विश्वसेन, इस का राज् के साथ समास होने पर विश्वसेन राट्, १७. "सूरः—तेजसा सूर इव"—तेज करके जो सूर्यसमान सो सूर, १८. "सुदर्शनः—शोभनं दर्शनमस्य"—भला है दर्शन जिसका सो सुदर्शन, १९. "कुम्भः—गुणपयसामाधारभूतत्वात् कुम्भ इव"—गुणरूप पानी का आधार भूत होने से कुम्भ की तरे कुम्भ, २०. "सुमित्रः—शोभनानि मित्राण्यस्य"—भले हैं मित्र जिस के सो सुमित्र, २१. "विजयः—विजयते शत्रूनिति"—जीता है शत्रुओं को जिसने सो विजय २२. "समुद्रविजयः—गाम्भीर्येण समुद्रस्यापि विजेता"—गाम्भीर्य करी समुद्र को भी जीतने वाला—समुद्र विजय, २३. "अश्वसेनः—अश्वप्रधाना सेनास्य"—घोड़ों करी प्रधान है सेना जिसकी सो अश्वसेन, २४. "सिद्धार्थः—सिद्धा अर्थाः पुरुषार्था अस्य"—सिद्ध हुये हैं अर्थ-पुरुषार्थ जिसके सो सिद्धार्थ। ए ऋषभ आदि चौवीस तीर्थङ्करों के क्रम करके चौवीस पिताओं के नाम कहे हैं।

अथ चौवीस तीर्थङ्करों की माताओं के नाम लिखते हैं:—

तीर्थंकर मातृनाम

१. "मरुदेवा—मरुद्भिर्दीव्यते स्तूयते [पृषोदरादित्वात् तलोपः] मरुदेव्यपि"—देवताओं करी जिसकी स्तुति की गयी सो मरुदेवा,

१८. "देवी-देवी इव"—देवी की तरे प्रभा है जिसकी सो देवी, १९. "प्रभावती—प्रभास्त्यस्या:"—जो प्रभावाली है सो प्रभावती, २०. "पद्मा-पद्म इव पद्मा"—पद्म की तरे पद्मावती, २१. "वप्रा—वपति धर्मबीजमिति"—बोती है जो धर्मरूपी बीज को सो वप्रा २२. "शिवा—शिवहेतुत्वात्"—कल्याण का हेतु होने से शिवा, २३. "वामा—मनोज्ञत्वाद्वामा पापकार्येषु प्रातिकूल्याद्वा वामा"—मनोज्ञ होने से वामा, अथवा पाप कार्यों के प्रतिकूल होने से वामा, २४. "त्रिशला—त्रीणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि शलयति प्राप्नोतीति"—तीन-ज्ञान दर्शन और चारित्र को जो प्राप्त होवे सो त्रिशला। इस क्रम करके ऋषभ आदि चौवीस तीर्थङ्करों की माताओं के नाम हैं। *

अब सुगमता के कारण चौवीस तीर्थङ्करों के साथ बावन बोल का जो सम्बन्ध है तिसका स्वरूप यंत्रबंध लिखते हैं। प्रथम बावन बोल का नाम लिखते हैं।

---

* तीर्थङ्करों की माता व पिता के नामों की व्युत्पत्ति अभिधान चिन्तामणि के प्रथम काण्ड में दी है।

१८. "देवी-देवी इव"—देवी की तरे प्रभा है जिसकी सो देवी, १९. "प्रभावती—प्रभास्त्यस्याः"—जो प्रभावाली है सो प्रभावती, २०. "पद्मा-पद्म इव पद्मा"—पद्म की तरे पद्मावती, २१. "वप्रा—वपति धर्मबीजमिति"—बोती है जो धर्मरूपी बीज को सो वप्रा २२. "शिवा—शिवहेतुत्वात्"—कल्याण का हेतु होने से शिवा, २३. "वामा—मनोज्ञत्वाद्वामा पापकार्येषु प्रातिकूल्याद्वा वामा"—मनोज्ञ होने से वामा, अथवा पाप कार्यों के प्रतिकूल होने से वामा, २४. "त्रिशला—त्रीणि ज्ञानदर्शनचारित्राणि शलयति प्राप्नोतीति"—तीन-ज्ञान दर्शन और चारित्र को जो प्राप्त होवे सो त्रिशला। इस क्रम करके ऋषभ आदि चौवीस तीर्थङ्करों की माताओं के नाम हैं ।*

अब सुगमता के कारण चौवीस तीर्थङ्करों के साथ बावन बोल का जो सम्बन्ध है तिसका स्वरूप यंत्रबंध लिखते हैं। प्रथम बावन बोल का नाम लिखते हैं।

---

* तीर्थङ्करों की माता व पिता के नामों की व्युत्पत्ति अभिधान चिन्तामणि के प्रथम काण्ड में दी है।

३५ वादिओं की संख्या
३६ श्रावकों की संख्या
३७ श्राविकाओं की संख्या
३८ शासनयक्ष नाम
३९ शासनयक्षणी नाम
४० प्रथम गणधर का नाम
४१ प्रथम आर्या का नाम
४२ मोक्ष प्राप्तिस्थान
४३ मोक्ष प्राप्ति की तिथि
४४ मोक्ष प्राप्ति दिवस का तप
४५ मोक्ष जाने का आसन
४६ परस्पर अन्तर का मान
४७ गण नाम
४८ योनि नाम
४९ मोक्ष परिवार
५० सम्यक्त्वप्राप्ति के बाद के भव
५१ कुल गोत्र नाम
५२ गर्भवास का कालमान

३५ वादियों की संख्या	४४ मोक्ष प्राप्ति दिवस का तप
३६ श्रावकों की संख्या	४५ मोक्ष जाने का आसन
३७ श्राविकाओं की संख्या	४६ परस्पर अन्तर का मान
३८ शासनयक्ष नाम	४७ गण नाम
३९ शासनयक्षणी नाम	४८ योनि नाम
४० प्रथम गणधर का नाम	४९ मोक्ष परिवार
४१ प्रथम आर्या का नाम	५० सम्यक्त्वप्राप्ति के बाद के भव
४२ मोक्ष प्राप्तिस्थान	५१ कुल गोत्र नाम
४३ मोक्ष प्राप्ति की तिथि	५२ गर्भवास का कालमान

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री ऋषभदेव	श्री अजितनाथ
१९	पारणे का स्थान	श्रेयांस के घर में	ब्रह्मदत्त के घर में
२०	पारणे के दिन	१ वर्ष पीछे	२ दिन पीछे
२१	दीक्षा तिथि	चैत्र व० ८	माघ व० ९
२२	छद्मस्थ काल	१००० वर्ष	१२ वर्ष
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	पुरिमताल	अयोध्या
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	३ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	वट वृक्ष	साल वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	फाल्गुन व० ११	पौष व० ११
२७	गणधर संख्या	८४	९५
२८	साधु संख्या	८४०००	१०००००
२९	साध्वी संख्या	३०००००	३३००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	२०६००	२०४००
३१	वादी संख्या	१२६५०	१२४००
३२	अवधिज्ञानी	९०००	९४००
३३	केवली	२००००	२२०००
३४	मनः पर्ययज्ञानी	१२७५०	१२५५०
३५	चौदह पूर्वधारी	४७५०	३७२०
३६	श्रावक संख्या	३५००००	२९८०००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री ऋषभदेव	श्री अजितनाथ
१९	पारणे का स्थान	श्रेयांस के घर में	ब्रह्मदत्त के घर में
२०	पारणे के दिन	१ वर्ष पीछे	२ दिन पीछे
२१	दीक्षा तिथि	चैत्र व० ८	माघ व० ९
२२	छद्मस्थ काल	१००० वर्ष	१२ वर्ष
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	पुरिमताल	अयोध्या
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	३ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	वट वृक्ष	साल वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	फाल्गुन व० ११	पौष व० ११
२७	गणधर संख्या	८४	९५
२८	साधु संख्या	८४०००	१०००००
२९	साध्वी संख्या	३०००००	३३००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	२०६००	२०४००
३१	वादी संख्या	१२६५०	१२४००
३२	अवधिज्ञानी	९०००	९४००
३३	केवली	२००००	२२०००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१२७५०	१२५५०
३५	चौदह पूर्वधारी	४७५०	३७२०
३६	श्रावक संख्या	३५००००	२९८०००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सम्भवनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
१	च्यवनतिथि	फाल्गुन शु० ८	वैशाख शु० ४
२	विमान	ऊपर का ग्रैवेयक	जयन्त
३	जन्म नगरी	सावत्थी	अयोध्या
४	जन्मतिथि	माघशु० १४	माघ शु० २
५	पिता का नाम	जितारि	संवर
६	माता का नाम	सेना	सिद्धार्था
७	जन्म नक्षत्र	मृगशिर	पुनर्वसु
८	जन्मराशि	मिथुन	मिथुन
९	लाञ्छन	अश्व	बंदर
१०	शरीरमान	४०० ध०	३५० ध०
११	आयुमान	६० लक्ष पूर्व	५० लक्ष पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	स्वर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	सावत्थी	अयोध्या
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	परमान्नक्षीर	क्षीर

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सम्भवनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
१	च्यवनतिथि	फाल्गुन शु० ८	वैशाख शु० ४
२	विमान	ऊपर का ग्रैवेयक	जयन्त
३	जन्म नगरी	सावत्थी	अयोध्या
४	जन्मतिथि	माघशु० १४	माघ शु० २
५	पिता का नाम	जितारि	संवर
६	माता का नाम	सेना	सिद्धार्था
७	जन्म नक्षत्र	मृगशिर	पुनर्वसु
८	जन्मराशि	मिथुन	मिथुन
९	लाञ्छन	अश्व	बंदर
१०	शरीरमान	४०० ध०	३५० ध०
११	आयुमान	६० लक्ष पूर्व	५० लक्ष पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	स्वर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	सावत्थी	अयोध्या
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	परमान्नक्षीर	क्षीर

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री संभवनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
३७	श्राविका संख्या	६३६०००	५२७०००
३८	शासन यक्ष नाम	त्रिमुख यक्ष	नायक यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	दुरितारि	कालिका
४०	प्रथम गणधर	चारु	वज्रनाभ
४१	प्रथम आर्या	श्यामा	अजिता
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	चैत्र शु० ५	वैशाख शु० ८
४४	मोक्ष संलेखना	६ उपवास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	१०लाखकोटि सा.	९ला०कोटि सा.
४७	गण नाम	देव	देव
४८	योनि	सर्प	छाग
४९	मोक्ष परिवार	१०००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	८ मास २८ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री संभवनाथ	श्री अभिनन्दननाथ
३७	श्राविका संख्या	६३६०००	५२७०००
३८	शासन यक्ष नाम	त्रिमुख यक्ष	नायक यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	दुरितारि	कालिका
४०	प्रथम गणधर	चारु	वज्रनाभ
४१	प्रथम आर्या	श्यामा	अजिता
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	चैत्र शु० ५	वैशाख शु० ८
४४	मोक्ष संलेखना	६ उपवास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	१०लाखकोटि सा.	९ला०कोटि सा.
४७	गण नाम	देव	देव
४८	योनि	सर्प	छाग
४९	मोक्ष परिवार	१०००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	८ मास २८ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
१९	पारणे का स्थान	पद्म के घर में	सोमदेव के०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	वैशाख शु० ९	का० व० १३
२२	छद्मस्थकाल	२० वर्ष	६ मास
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	अयोध्या	कौशाम्बी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	चौथभक्त
२५	दीक्षा वृक्ष	सालवृक्ष	छत्रवृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	चैत्र शु० ११	चैत्र शुदि १५
२७	गणधर संख्या	१००	१०७
२८	साधु संख्या	३२००००	३३००००
२९	साध्वी संख्या	५३००००	४२००००
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१८४००	१६१०८
३१	वादी संख्या	१०४०००	९६०००
३२	अवधि ज्ञानी	११०००	१००००
३३	केवली	१३०००	१२०००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१०४५०	१०३००
३५	चौदह पूर्वधारी	२४००	२३००
३६	श्रावक संख्या	२८१०००	२७६०००
३७	श्राविका संख्या	५१६०००	५०५०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुमतिनाथ	श्री पद्मप्रभ
१९	पारणे का स्थान	पद्म के घर में	सोमदेव के०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	वैशाख शु० ९	का०व० १३
२२	छद्मस्थकाल	२० वर्ष	६ मास
२३	ज्ञानप्राप्तिस्थान	अयोध्या	कौशाम्बी
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	चौथभक्त
२५	दीक्षा वृक्ष	सालवृक्ष	छत्रवृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	चैत्र शु० ११	चैत्र शुदि १५
२७	गणधर संख्या	१००	१०७
२८	साधु संख्या	३२००००	३३००००
२९	साध्वी संख्या	५३००००	४२००००
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१८४००	१६१०८
३१	वादी संख्या	१०४०००	९६०००
३२	अवधि ज्ञानी	११०००	१००००
३३	केवली	१३०००	१२०००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१०४५०	१०३००
३५	चौदह पूर्वधारी	२४००	२३००
३६	श्रावक संख्या	२८१०००	२७६०००
३७	श्राविका संख्या	५१६०००	५०५०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुपार्श्वनाथ	श्री चन्द्रप्रभ
१	च्यवन तिथि	भाद्रपद व० ८	चैत्र व० ५
२	विमान	मध्यम गैवेयक	वैजयन्त
३	जन्म नगरी	बनारस	चन्द्रपुरी
४	जन्म तिथि	ज्येष्ठ शु० १२	पौष व० १२
५	पिता का नाम	प्रतिष्ठ	महासेन
६	माता का नाम	पृथिवी	लक्ष्मणा
७	जन्म नक्षत्र	विशाखा	अनुराधा
८	जन्म राशि	तुला	वृश्चिक
९	लाञ्छन	साथिया	चन्द्र
१०	शरीरमान	२०० ध०	१५० ध०
११	आयुमान	२० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	श्वेत वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	बनारस	चन्द्रपुरी
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथमपारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुपार्श्वनाथ	श्री चन्द्रप्रभ
१	च्यवन तिथि	भाद्रपद व० ८	चैत्र व० ५
२	विमान	मध्यम ग्रैवेयक	वैजयन्त
३	जन्म नगरी	बनारस	चन्द्रपुरी
४	जन्म तिथि	ज्येष्ठ शु० १२	पौष व० १२
५	पिता का नाम	प्रतिष्ठ	महासेन
६	माता का नाम	पृथिवी	लक्ष्मणा
७	जन्म नक्षत्र	विशाखा	अनुराधा
८	जन्म राशि	तुला	वृश्चिक
९	लाञ्छन	साथिया	चन्द्र
१०	शरीरमान	२०० ध०	१५० ध०
११	आयुमान	२० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
१२	शरीर का वर्ण	स्वर्ण वर्ण	श्वेत वर्ण
१३	पदवी	राजा	राजा
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	बनारस	चन्द्रपुरी
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथमपारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुपार्श्वनाथ	श्री चन्द्रप्रभ
३७	श्राविका संख्या	४९३०००	४७९०००
३८	शासन यक्ष नाम	मातंग यक्ष	विजय यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	शान्ता	भृकुटी
४०	प्रथम गणधर	विदर्भ	दिन्न
४१	प्रथम आर्या	सोमा	सुमना
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	फाल्गुन व० ७	भाद्रपद व० ७
४४	मोक्षसंलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	९ सौ कोडि सा०	९० कोडि सा०
४७	गणनाम	राक्षस	देव
४८	योनि	मृग	मृग
४९	मोक्ष परिवार	५००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुल गोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास १९ दिन	९ मास ७ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुपार्श्वनाथ	श्री चन्द्रप्रभ
३७	श्राविका संख्या	४९३०००	४७९०००
३८	शासन यक्ष नाम	मातंग यक्ष	विजय यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	शान्ता	भृकुटी
४०	प्रथम गणधर	विदर्भ	दिन्न
४१	प्रथम आर्या	सोमा	सुमना
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	फाल्गुन व० ७	भाद्रपद व० ७
४४	मोक्षसंलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	९ सौ कोडि सा०	९० कोडि सा०
४७	गणनाम	राक्षस	देव
४८	योनि	मृग	मृग
४९	मोक्ष परिवार	५००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुल गोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास १९ दिन	९ मास ७ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुविधिनाथ	श्री शीतलनाथ
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन
१९	पारणे का स्थान	पुष्प के घर में	पुनर्वसु के घर.
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	मगसिर व० ६	मगसिर व० १२
२२	छद्मस्थ काल	४ मास	३ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	काकन्दी	भद्दिलपुर
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	सालवृक्ष	प्रियंगु वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	कार्तिक शु० ३	पौष व० १४
२७	गणधर संख्या	८८	८१
२८	साधु संख्या	२०००००	१०००००
२९	साध्वी संख्या	१२००००	१००००६
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१३०००	१२०००
३१	वादी संख्या	६०००	५८००
३२	अवधि ज्ञानी	८४००	७२००
३३	केवली	७५००	७०००
३४	मनः पर्यव ज्ञानी	७५००	७५००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री सुविधिनाथ	श्री शीतलनाथ
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन
१९	पारणे का स्थान	पुष्प के घर में	पुनर्वसु के घर.
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	मगसिर व० ६	मगसिर व० १२
२२	छद्मस्थ काल	४ मास	३ मास
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	काकन्दी	भद्दिलपुर
२४	ज्ञान सम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	सालवृक्ष	प्रियंगु वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	कार्तिक शु० ३	पौष व० १४
२७	गणधर संख्या	८८	८१
२८	साधु संख्या	२०००००	१०००००
२९	साध्वी संख्या	१२००००	१००००६
३०	वैक्रिय लब्धि वाले	१३०००	१२०००
३१	वादी संख्या	६०००	५८००
३२	अवधि ज्ञानी	८४००	७२००
३३	केवली	७५००	७०००
३४	मनः पर्यव ज्ञानी	७५००	७५००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री श्रेयांसनाथ	श्री वासुपूज्य
१	च्यवन तिथि	ज्येष्ठ व० ६	ज्येष्ठ शु० ९
२	विमान	अच्युत	प्राणत
३	जन्म नगरी	सिंहपुरी	चम्पापुरी
४	जन्म तिथि	फाल्गुन व० १२	फाल्गुन व०१४
५	पिता का नाम	विष्णु	वसुपूज्य
६	माता का नाम	विष्णु	जया
७	जन्म नक्षत्र	श्रावण	शतभिषा
८	जन्म राशि	मकर	कुम्भ
९	लाञ्छन	गैंडा	महिष
१०	शरीर मान	८० ध०	७० ध०
११	आयुमान्	८४ लाख वर्ष	७२ लाख वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	रक्त वर्ण
१३	पदवी	राजा	कुमार
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	६०० साधु
१६	दीक्षा नगरी	सिंहपुरी	चम्पापुरी
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं० बोल	श्री श्रेयांसनाथ	श्री वासुपूज्य
१ च्यवन तिथि	ज्येष्ठ व० ६	ज्येष्ठ शु० ९
२ विमान	अच्युत	प्राणत
३ जन्म-नगरी	सिंहपुरी	चम्पापुरी
४ जन्म तिथि	फाल्गुन व० १२	फाल्गुन व० १४
५ पिता का नाम	विष्णु	वसुपूज्य
६ माता का नाम	विष्णु	जया
७ जन्म नक्षत्र	श्रावण	शतभिषा
८ जन्म राशि	मकर	कुम्भ
९ लाञ्छन	गैंडा	महिष
१० शरीर मान	८० ध०	७० ध०
११ आयुमान	८४ लाख वर्ष	७२ लाख वर्ष
१२ शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	रक्त वर्ण
१३ पदवी	राजा	कुमार
१४ पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५ सहदीक्षित	१००० साधु	६०० साधु
१६ दीक्षा नगरी	सिंहपुरी	चम्पापुरी
१७ दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८ प्रथम पारणे का आहार	क्षीरभोजन	क्षीरभोजन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री श्रेयांसनाथ	श्री वासुपूज्य
३७	श्राविका संख्या	४४८०००	४३६०००
३८	शासन यक्ष नाम	मनुज या ईश्वर	कुमार
३९	शासन यक्षिणी नाम	मानवी	चण्डा
४०	प्रथम गणधर	कच्छप	सुभूम
४१	प्रथम आर्या	धारिणी	धरणी
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	चम्पापुरी
४३	मोक्ष तिथि	श्रावण व० ३	अषाढ शु० १४
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	५४ सा०	३० सा०
४७	गणनाम	देव	राक्षस
४८	योनि नाम	वानर	अश्व
४९	मोक्ष परिवार	१०००	६००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	८ मास २० दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री श्रेयांसनाथ	श्री वासुपूज्य
३७	श्राविका संख्या	४४८०००	४३६०००
३८	शासन यक्ष नाम	मनुज या ईश्वर	कुमार
३६	शासन यक्षिणी नाम	मानवी	चण्डा
४०	प्रथम गणधर	कच्छप	सुभूम
४१	प्रथम आर्या	धारिणी	धरणी
४२	मोक्ष स्थान	समेतशिखर	चम्पापुरी
४३	मोक्ष तिथि	श्रावण व० ३	अषाढ शु० १४
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तर मान	५४ सा०	३० सा०
४७	गणनाम	देव	राक्षस
४८	योनि नाम	वानर	अश्व
४६	मोक्ष परिवार	१०००	६००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकाल मान	९ मास ६ दिन	८ मास २० दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री विमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
१९	पारणे का स्थान	जय राजा के घर	विजय रा० घ०
२०	पारेण के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	माघ शु० ४	वैशाख व० १४
२२	छद्मस्थकाल	२ मास	३ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	कम्पिलपुरी	अयोध्या
२४	ज्ञानसम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	जम्बू वृक्ष	अशोकवृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	पौष शुदी ६	वैशाख व० १४
२७	गणधर संख्या	५७	५०
२८	साधु संख्या	६८०००	६६०००
२९	साध्वी संख्या	१००८००	६२०००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	९०००	८०००
३१	वादी संख्या	३६००	३२००
३२	अवधिज्ञानी	४८००	४३००
३३	केवली	५५००	५०००
३४	मनःपर्ययज्ञानी	५५००	५०००
३५	चौदहपूर्वधारी	११००	१०००
३६	श्रावक संख्या	२०८०००	२०६०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री विमलनाथ	श्री अनन्तनाथ
१९	पारणे का स्थान	जय राजा के घर	विजय रा०घ०
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	माघ शु० ४	वैशाख व०१४
२२	छद्मस्थकाल	२ मास	३ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्ति स्थान	कम्पिलपुरी	अयोध्या
२४	ज्ञानसम्बन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	जम्बू वृक्ष	अशोकवृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि	पौष शुदी ६	वैशाख व०१४
२७	गणधर संख्या	५७	५०
२८	साधु संख्या	६८०००	६६०००
२९	साध्वी संख्या	१००८००	६२०००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	९०००	८०००
३१	वादी संख्या	३६००	३२००
३२	अवधिज्ञानी	४८००	४३००
३३	केवली	५५००	५०००
३४	मनःपर्ययज्ञानी	५५००	५०००
३५	चौदहपूर्वधारी	११००	१०००
३६	श्रावक संख्या	२०८०००	२०६०००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
१	च्यवनतिथि	वैशाख शु० ७	भाद्रपद व०७
२	विमान	विजय	सर्वार्थसिद्ध
३	जन्म नगरी	रत्नपुरी	*गजपुर
४	जन्म तिथि	माघ शु० ३	ज्येष्ठ वदी १३
५	पिता का नाम	भानु	विश्वसेन
६	माता का नाम	सुव्रता	अचिरा
७	जन्म नक्षत्र	पुष्य	भरिणी
८	जन्मराशि	कर्क	मेष
९	लाञ्छन	वज्र	मृग
१०	शरीर मान	४५ ध०	४० ध०
११	आयुमान	१० लाख वर्ष	१ लाखवर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	चक्रवर्ती
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	रत्नपुरी	गजपुर

* हस्तिनापुर।

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
१	च्यवनतिथि	वैशाख शु० ७	भाद्रपद व० ७
२	विमान	विजय	सर्वार्थसिद्ध
३	जन्म नगरी	रत्नपुरी	*गजपुर
४	जन्म तिथि	माघ शु० ३	ज्येष्ठ वदी १३
५	पिता का नाम	भानु	विश्वसेन
६	माता का नाम	सुव्रता	अचिरा
७	जन्म नक्षत्र	पुष्य	भरिणी
८	जन्मराशि	कर्क	मेष
९	लाञ्छन	वज्र	मृग
१०	शरीर मान	४५ ध०	४० ध०
११	आयुमान	१० लाख वर्ष	१ लाखवर्ष
१२	शरीर का वर्ण	सुवर्ण वर्ण	सुवर्ण वर्ण
१३	पदवी	राजा	चक्रवर्ती
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	१००० साधु	१००० साधु
१६	दीक्षा नगरी	रत्नपुरी	गजपुर

* हस्तिनापुर।

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
३५	चौदह पूर्वधारी	६००	८००
३६	श्रावक संख्या	२०४०००	१६००००
३७	श्राविका संख्या	४१३०००	३६३०००
३८	शासन यत्त नाम	किन्नर यत्त	गरुड यत्त
३६	शासन यक्षिणी नाम	कन्दर्पा	निर्वाणी
४०	प्रथम गणधर	अरिष्ट	चक्र युद्ध
४१	प्रथम आर्या	आर्यशिवा	शुचि
४२	मोत्तस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	ज्येष्ठ श. ५	ज्येष्ठ व. १३
४४	मोत्त संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोत्त आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	३ सागरोपम	०॥ पल्योपम
४७	गण नाम	देव	मानव
४८	योनि	मार्जार	हस्ती
४६	मोत्त परिवार	१०८	९००
५०	भव संख्या	३ भव	१२ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकालमान	८ मास २६ दिन	९ मास ६दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री धर्मनाथ	श्री शान्तिनाथ
३५	चौदह पूर्वधारी	९००	८००
३६	श्रावक संख्या	२०४०००	१९००००
३७	श्राविका संख्या	४१३०००	३९३०००
३८	शासन यक्ष नाम	किन्नर यक्ष	गरुड यक्ष
३९	शासन यक्षिणी नाम	कन्दर्पा	निर्वाणी
४०	प्रथम गणधर	अरिष्ट	चक्र युद्ध
४१	प्रथम आर्या	आर्यशिवा	शुचि
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्ष तिथि	ज्येष्ठ श. ५	ज्येष्ठ व. १३
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	३ सागरोपम	०॥ पल्योपम
४७	गण नाम	देव	मानव
४८	योनि	मार्जार	हस्ती
४९	मोक्ष परिवार	१०८	९००
५०	भव संख्या	३ भव	१२ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकालमान	८ मास २६ दिन	९ मास ६ दिन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री कुन्थुनाथ	श्री अरनाथ
१९	पारणे का स्थान	व्याघ्रसिंह के घर	अपराजित के घर में
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	चैत्र व० ५	मगसिर शु० ११
२२	छद्मस्थ काल	१६ वर्ष	३ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्तिस्थान	गजपुर	गजपुर
२४	ज्ञान संबन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	भीलक वृक्ष	आम्र वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्तिका तिथि	चैत्र शु० ३	कातिक शु० १२
२७	गणधर संख्या	३५	३३
२८	साधु संख्या	६००००	५००००
२९	साध्वी संख्या	६०६००	६००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	५१००	७३००
३१	वादी संख्या	२०००	१६००
३२	अवधिज्ञानी	२५००	२६००
३३	केवली	३२००	२८००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	३३४०	२५५१
३५	चौदह पूर्वधारी	६७०	६१०

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री कुन्थुनाथ	श्री अरनाथ
१९	पारणे का स्थान	व्याघ्रसिंह के घर	अपरजित के घर में
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	चैत्र व० ५	मगसिर शु० ११
२२	छद्मस्थ काल	१६ वर्ष	३ वर्ष
२३	ज्ञान प्राप्तिस्थान	गजपुर	गजपुर
२४	ज्ञान संवन्धी तप	२ उपवास	२ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	भीलक वृक्ष	आम्र वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्तिका तिथि	चैत्र शु० ३	कातिक शु० १२
२७	गणधर संख्या	३५	३३
२८	साधु संख्या	६००००	५००००
२९	साध्वी संख्या	६०६००	६००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	५१००	७३००
३१	वादी संख्या	२०००	१६००
३२	अवधिज्ञानी	२५००	२६००
३३	केवली	३२००	२८००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	३३४०	२५५१
३५	चौदह पूर्वधारी	६७०	६१०

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बविन बोल

सं०	बोल	श्री मल्लिनाथ	श्री मुनिसुव्रत
३६	श्रावक संख्या	१८३०००	१७२०००
३७	श्राविका संख्या	३७००००	३५००००
३८	शासन यक्ष नाम	कुबेर यक्ष	वरुण यक्ष
३९	शासन यक्षिणी	धरणप्रिया	नरदत्ता
४०	प्रथम गणधर	अभीक्षक	मल्ली
४१	प्रथम आर्या	बधुमती	पुष्पमती
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्षतिथि	फाल्गुन शु० १२,	ज्येष्ठ व० ९
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	५४०००००वर्ष,	६००००० वर्ष
४७	गणनाम	देव	देव
४८	योनि	अश्व	वानर
४९	मोक्ष परिवार	५००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	हरिवंश
५२	गर्भकालमान	९ मास ७ दिन,	९ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री मल्लिनाथ	श्री मुनिसुव्रत
३६	श्रावक संख्या	१८३०००	१७२०००
३७	श्राविका संख्या	३७००००	३५००००
३८	शासन यक्ष नाम	कुवेर यक्ष	वरुण यक्ष
३९	शासन यक्षिणी	धरणप्रिया	नरदत्ता
४०	प्रथम गणधर	अभीक्षक	मल्ली
४१	प्रथम आर्या	वधुमती	पुष्पमती
४२	मोक्षस्थान	समेतशिखर	समेतशिखर
४३	मोक्षतिथि	फाल्गुन शु० १२,	ज्येष्ठ व० ९
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	१ मास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	कायोत्सर्ग
४६	अन्तरमान	५४०००००वर्ष,	६००००० वर्ष
४७	गणनाम	देव	देव
४८	योनि	अश्व	वानर
४९	मोक्ष परिवार	५००	१०००
५०	भव संख्या	३ भव	३ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	हरिवंश
५२	गर्भकालमान	९ मास ७ दिन,	९ मास ८ दिन

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
१९	पारणे का स्थान	दिन्न कुमार के०	वरदिन्न के घर में
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	आषाढ वदि ९,	श्रावण शु० ६
२२	छद्मस्थकाल	९ मास	५४ दिन
२३	ज्ञान प्राप्तिस्थान	मथुरा	गिरनार
२४	ज्ञान संबन्धी तप	२ उपवास	३ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	वकुल वृक्ष	वेडस वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि,	मगशिर शु० ११,	आश्विन व० अमा०
२७	गणधर संख्या	१७	११
२८	साधु संख्या	२००००	१८०००
२९	साध्वी संख्या	४१०००	४००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	५०००	१५००
३१	वादी संख्या	१०००	८००
३२	अवधिज्ञानी	१६००	१५००
३३	केवली	१६००	१५००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१२५०	१०००
३५	चौदह पूर्वधारी	४५०	४००

प्रत्येक तीर्थङ्कर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री नमिनाथ	श्री नेमिनाथ
१९	पारणे का स्थान	दिन्न कुमार के०	वरदिन्न के घर में
२०	पारणे के दिन	२ दिन	२ दिन
२१	दीक्षा तिथि	आषाढ वदि ९,	श्रावण शु० ६
२२	छद्मस्थकाल	९ मास	५४ दिन
२३	ज्ञान प्राप्तिस्थान	मथुरा	गिरनार
२४	ज्ञान संबन्धी तप	२ उपवास	३ उपवास
२५	दीक्षा वृक्ष	बकुल वृक्ष	वेडस वृक्ष
२६	ज्ञानोत्पत्ति की तिथि,	मगशिर शु० ११,	आश्विन व० अमा०
२७	गणधर संख्या	१७	११
२८	साधु संख्या	२००००	१८०००
२९	साध्वी संख्या	४१०००	४००००
३०	वैक्रियलब्धि वाले	५०००	१५००
३१	वादी संख्या	१०००	८००
३२	अवधिज्ञानी	१६००	१५००
३३	केवली	१६००	१५००
३४	मनः पर्यवज्ञानी	१२५०	१०००
३५	चौदह पूर्वधारी	४५०	४००

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महावीर
१	च्यवनतिथि	चैत्रवदी ४	आषाढ़ शु० ६
२	विमान	प्राणत	प्राणत
३	जन्म नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
४	जन्मतिथि	पौष व० १०	चैत्र शु० १३
५	पिता का नाम	अश्वसेन	सिद्धार्थ
६	माता का नाम	वामा	त्रिशला
७	जन्मनक्षत्र	विशाखा	उत्तरा फाल्गुनी
८	जन्मराशि	तुला	कन्या
९	लाञ्छन	सर्प	सिंह
१०	शरीरमान	९ हाथ	७ हाथ
११	आयुमान	१०० वर्ष	७२ वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	नीला	पीला
१३	पदवी	कुमार	कुमार
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	३०० साधु	एकाकी
१६	दीक्षा नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणेका आ०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महावीर
१	च्यवनतिथि	चैत्रवदी ४	आषाढ़ शु० ६
२	विमान	प्राणत	प्राणत
३	जन्म नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
४	जन्मतिथि	पौष व० १०	चैत्र शु० १३
५	पिता का नाम	अश्वसेन	सिद्धार्थ
६	माता का नाम	वामा	त्रिशला
७	जन्मनक्षत्र	विशाखा	उत्तरा फाल्गुनी
८	जन्मराशि	तुला	कन्या
९	लाञ्छन	सर्प	सिंह
१०	शरीरमान	९ हाथ	७ हाथ
११	आयुमान	१०० वर्ष	७२ वर्ष
१२	शरीर का वर्ण	नीला	पीला
१३	पदवी	कुमार	कुमार
१४	पाणिग्रहण	हुवा	हुवा
१५	सहदीक्षित	३०० साधु	एकाकी
१६	दीक्षा नगरी	वाराणसी	क्षत्रियकुण्ड
१७	दीक्षा तप	२ उपवास	२ उपवास
१८	प्रथम पारणेका आ०	क्षीर भोजन	क्षीर भोजन

प्रत्येक तीर्थंकर के बावन बोल

सं०	बोल	श्री पार्श्वनाथ	श्री महावीर
३६	श्रावक सं०	१६४०००	१५६०००
३७	श्राविका सं०	३३९०००	३१८०००
३८	शासन यक्षनाम	पार्श्व यक्ष	मातङ्ग यक्ष
३९	शासनयक्षिणी नाम	पद्मावती	सिद्धायिका
४०	प्रथम गणधर	आर्यदिन्न	इन्द्रभूति
४१	प्रथम आर्या	पुष्प चूडा	चन्दनबाला
४२	मोक्षस्थान	समेत शिखर	पावापुरी
४३	मोक्ष तिथि	श्रावण शु० ८	कार्तिक व०अमा०
४४	मोक्ष संलेखना	१ मास	२ उपवास
४५	मोक्ष आसन	कायोत्सर्ग	पद्मासन
४६	अन्तरमान	२५०	चरम जिनेश्वर
४७	गणनाम	राक्षस	मानव
४८	योनि	मृग	महिष
४९	मोक्ष परिवार	३३	एकाकी
५०	भव सं०	१० भव	२७ भव
५१	कुलगोत्र	इक्ष्वाकु	इक्ष्वाकु
५२	गर्भकालमान	९ मास ६ दिन	९मास ७दिन

२. नह्येतत्त्वं विदितं नृषु भावं, तत्त्वमसि २ राजन् !
३. विश्वोत्पत्त्यादिविधिहेतुभूतं, तत्त्वमसि २ राजन् !
४. सर्वं चिदात्मकं सर्वमद्वैतं, तत्त्वमसि २ राजन् !
५. परतार्किकैरीश्वरसर्वहेतु–स्तत्त्वमसि २ राजन् !
६. यद्वेदांतादिभिर्ब्रह्म सर्वस्थं, तत्त्वमसि २ राजन् !
७. यज्जैमिनिनोक्तमखिलंकर्म, तत्त्वमसि २ राजन् !
८. यत्पाणिनिः प्राह शब्दस्वरूपं, तत्त्वमसि २ राजन् !
९. यत् सांख्यानां मतहेतुभूतं, तत्त्वमसि २ राजन् !
१०. अष्टांगयोगेन अनंतरूपं, तत्त्वमसि २ राजन् !
११. सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म, तत्त्वमसि २ राजन् !
१२. नह्येतद् दृश्यप्रपंचं, तत्त्वमसि २ राजन् !
१३. यद् ब्रह्मणो ब्रह्मविष्ण्वीश्वरा ह्यभवन्, तत्त्वमसि २ राजन् !

२—जो भाव मनुष्यों में विदित नहीं, वह तू है, २ ।

३—विश्व की उत्पत्ति आदि का हेतुभूत जो तत्त्व है, वह तू है, २ ।

४—चैतन्यस्वरूप और अद्वैतस्वरूप जो तत्त्व है, वह तू है, २ ।

५—अन्य तार्किकों के द्वारा कल्पित सर्व का हेतु जो ईश्वर, हे राजन् ! वह तू है, २ ।

६—वेदान्त प्रतिपाद्य, सब में रहने वाला जो ब्रह्म, हे राजन् ! वह तू है, २ ।

१४. त्वद्रूपमेवमस्माभि र्विदितं राजन् ! तव पूर्वय-
त्याश्रमस्थम् ॥ [शं० वि०, प्र० ५६]

इन परोक्तियों करके राजा को प्रतिबोध हुआ। तब सब के सन्मुख शंकर स्वामी का जीव तिस राजा की देह से निकल कर जब उस पर्वत की कंदरा में पहुंचा तब उसने अपने शरीर को वहां न देख कर चिता में देखा। अरु देखते ही कपाल मध्य में से होकर उसमें प्रवेश किया, परन्तु शरीर के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, इससे निकलना दुष्कर होगया। फिर वहां पर शङ्कर स्वामी ने लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करी। तब लक्ष्मी नृसिंह ने शङ्कर स्वामी को जीता अग्नि में से बाहिर निकाला। इत्यादि।

७—जैमिनि ऋषि ने जिस समस्त कर्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है, हे राजन् ! वह तू है, २।

८—पाणिनि ऋषि ने जिस शब्दस्वरूप तत्त्व का कथन किया है, वह तू है, २।

९—जो सांख्यों का अभिमत तत्त्व है, वह तू है, २।

१०—अष्टाङ्गयोग के द्वारा जानने योग्य अनन्तस्वरूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

११—हे राजन् ! सत्यज्ञान और अनन्तस्वरूप जो ब्रह्म है, वह तू है, २।

१२—इस दृश्य प्रपंच से भिन्न जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१३—ब्रह्म का ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप जो तत्त्व है; वह तू है, २।

१४—हे राजन् ! आप के पूर्वाश्रम के स्वरूप को हमने जान लिया है।

का नाम वेद अब प्रसिद्ध है सो पुस्तक प्राचीन नहीं हैं, इसका प्रमाण आगे चल कर लिखेंगे ॥

इति श्री तपागच्छीय-मुनिश्रीबुद्धिविजय-शिष्य मुनि आनन्दविजय-आत्माराम-विरचिते जैनतत्त्वादर्शे प्रथमः परिच्छेदः सम्पूर्णः ।

धनुष, चक्र, त्रिशूलादि जिसके पास होवे तथा अक्षसूत्र-जपमाला, आदि शब्द से कमंडल प्रमुख होवे। फिर कैसा वो देव होवे? राग द्वेषादि दूषणों का जिसमें चिन्ह होवे। स्त्री को जो पास रक्खेगा वो जरूर कामी और स्त्री से भोग करने वाला होगा। इस से अधिक रागी होने का दूसरा कौनसा चिन्ह है? इसी काम राग के वश होकर कुदेवों ने स्वस्त्री, परस्त्री, वेट, माता, बहिन, अरु पुत्र की वधू प्रमुख से अनेक कामक्रीडा कुचेष्टा करी है।

जो पुरुष मात्र होकर परस्त्री गमन करता है उसको आज कल के मतावलंबियों में से कोई भी अच्छा नहीं कहता। तो फिर परमेश्वर होकर जो परस्त्री से काम कुचेष्टा करे, तो उसके कुदेव होने में कोई भी बुद्धिमान् शंका नहीं कर सकता। जो अपनी स्त्री से काम सेवन करता है और पर स्त्री का त्यागी है उसको भी पर स्त्री का त्यागी, धर्मी गृहस्थ तो लोक कह सकते हैं, परन्तु उसको मुनि वा ऋषि वा ईश्वर कभी नहीं कहेंगे क्योंकि जो कामाग्नि के कुण्ड में प्रज्वलित हो रहा है, उसमें कभी ईश्वरता नहीं हो सकती। इस हेतु से जो रागरूप चिन्ह करी संयुक्त है, सो कुदेव है। पुनः जो द्वेष के चिन्ह करी संयुक्त है वो भी कुदेव है। द्वेष के चिन्ह शस्त्रादि का धारण करना क्योंकि जो शस्त्र, धनुष, चक्र, त्रिशूल प्रमुख रक्खेगा उसने अवश्य ही किसी वैरी को मारना है, नहीं तो शस्त्र रखने से क्या प्रयोजन है? अतः

धनुष, चक्र, त्रिशूलादि जिसके पास होवे तथा अक्षसूत्र-जपमाला, आदि शब्द से कमंडल प्रमुख होवे। फिर कैसा वो देव होवे ? राग द्वेषादि दूषणों का जिसमें चिन्ह होवे। स्त्री को जो पास रक्खेगा वो जरूर कामी और स्त्री से भोग करने वाला होगा। इस से अधिक रागी होने का दूसरा कौनसा चिन्ह है ? इसी काम राग के वश होकर कुदेवों ने स्वस्त्री, परस्त्री, वेट , माता, वहिन, अरु पुत्र की वधू प्रमुख से अनेक कामक्रीडा कुचेष्टा करी है।

जो पुरुष मात्र होकर परस्त्री गमन करता है उसको आज कल के मतावलंबियों में से कोई भी अच्छा नहीं कहता। तो फिर परमेश्वर होकर जो परस्त्री से काम कुचेष्टा करे, तो उसके कुदेव होने में कोई भी बुद्धिमान् शंका नहीं कर सकता। जो अपनी स्त्री से काम सेवन करता है और पर स्त्री का त्यागी है उसको भी पर स्त्री का त्यागी, धर्मी गृहस्थ तो लोक कह सकते हैं, परन्तु उसको मुनि वा ऋषि वा ईश्वर कभी नहीं कहेंगे क्योंकि जो कामाग्नि के कुण्ड में प्रज्वलित हो रहा है, उसमें कभी ईश्वरता नहीं हो सकती। इस हेतु से जो रागरूप चिन्ह करी संयुक्त है, सो कुदेव है। पुनः जो द्वेष के चिन्ह करी संयुक्त है वो भी कुदेव है। द्वेष के चिन्ह शस्त्रादि का धारण करना क्योंकि जो शस्त्र, धनुष, चक्र, त्रिशूल प्रमुख रक्खेगा उसने अवश्य ही किसी वैरी को मारना है, नहीं तो शस्त्र रखने से क्या प्रयोजन है ? अतः

सदा आनन्द और सुख रूप है। परमेश्वर में वो कौनसा आनन्द नहीं था जो नशा पीने से उसको मिलता है ? इस हेतु से नशा पीने वाला अरु मांसादि अशुद्ध आहार करने वाला जो है सो कुदेव है। और जो सवारी है सो परजीवों को पीड़ा का कारण है, अरु परमेश्वर तो दयालु है, सो पर जीवों को पीड़ा कैसे देवे ? इस हेतु से जो किसी जीव की सवारी करे, सो कुदेव है। और जो कमंडल रखता है, सो शुचि होने के कारण रखता है। परन्तु परमेश्वर तो सदा ही पवित्र है उनको कमंडल से क्या काम है ? यतः—

> स्त्रीसङ्गः काममाचष्टे, द्वेषं चायुधसंग्रहः ।
> व्यामोहं चाक्षसूत्रादि-रशौचं च कमंडलुः ॥

अर्थः—स्त्री का जो संग है सो कामको कहता है, शस्त्र जो है सो द्वेष को कहता है, जपमाला जो है सो व्यामोह को कहती है, और कमंडलु जो है सो अशुचिपने को कहता है। तथा जो निग्रह करे-जिसके ऊपर क्रोध करे तिसको वध, बन्धन, मारण, नरकपात का दुःख देवे तथा रोगी, शोकी, इष्टवियोगी, निर्धन, हीन, दीन, क्षीण करे-सोभी कुदेव है। और जो अनुग्रह करे-जिसके ऊपर तुष्टमान होवे तिसको इन्द्र, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, महामांडलिक बनावे और मांडलिकादिकों को राज्यादि पदवी का वर देवे, तथा सुन्दर अप्सरा सदृश स्त्री, पुत्र परिवारादिकों का संयोग

सदा आनन्द और सुख रूप है। परमेश्वर में वो कौनसा आनन्द नहीं था जो नशा पीने से उसको मिलता है ? इस हेतु से नशा पीने वाला अरु मांसादि अशुद्ध आहार करने वाला जो है सो कुदेव है। और जो सवारी है सो परजीवों को पीड़ा का कारण है, अरु परमेश्वर तो दयालु है, सो पर जीवों को पीड़ा कैसे देवे ? इस हेतु से जो किसी जीव की सवारी करे, सो कुदेव है। और जो कमंडल रखता है, सो शुचि होने के कारण रखता है। परन्तु परमेश्वर तो सदा ही पवित्र है उनको कमंडल से क्या काम है ? यतः—

स्त्रीसङ्गः काममाचष्टे, द्वेषं चायुधसंग्रहः।
व्यामोहं चाक्षसूत्रादि–रशौचं च कमंडलुः॥

अर्थः—स्त्री का जो संग है सो कामको कहता है, शस्त्र जो है सो द्वेष को कहता है, जपमाला जो है सो व्यामोह को कहती है, और कमंडलु जो है सो अशुचिपने को कहता है। तथा जो निग्रह करे–जिसके ऊपर क्रोध करे तिसको वध, बन्धन, मारण, नरकपात का दुःख देवे तथा रोगी, शोकी, इष्टवियोगी, निर्धन, हीन, दीन, क्षीण करे–सोभी कुदेव है। और जो अनुग्रह करे-जिसके ऊपर तुष्टमान होवे तिसको इन्द्र, चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव, महामांडलिक बनावे और मांडलिकादिकों को राज्यादि पदवी का वर देवे, तथा सुन्दर अप्सरा सदृश स्त्री, पुत्र परिवारादिकों का संयोग

तुमने तो प्रथम परिच्छेद में कई जगह पर अर्हंत भगवंत परमेश्वर लिखा है अरु प्रथम परिच्छेद तो भगवान् ही के स्वरूप कथन में समाप्त किया है। यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

जैन धर्म्म और ईश्वर

उत्तरः-हे भव्य ! जो कोई कहते हैं कि जैनमतावलम्बी ईश्वर को नहीं मानते उनका ऐसा कहना मिथ्या है। उन्होंने कभी जैन मत का शास्त्र पढ़ा वा सुना न होगा, तथा किसी बुद्धिमान् जैनी का संसर्ग भी न करा होगा। जेकर जैन मत का शास्त्र पढ़ा वा सुना होता तो कभी ऐसा न कहते कि जैनी ईश्वर को नहीं मानते। जेकर जैनी ईश्वर को न मानते होते तो यह जो श्लोक लिखे जाते हैं, वो किस की स्तुति के हैं ?

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति संतः ॥

[भक्तामरस्तोत्र-श्लो० २४]

अस्यार्थः-हे जिन ! 'संतः'-सत्पुरुष 'त्वां'-तेरे को 'अव्ययम्'-अव्यय 'प्रवदंति'—कहते हैं। अव्यय-अपचय को जो न प्राप्त

तुमने तो प्रथम परिच्छेद में कई जगह पर अर्हंत भगवंत परमेश्वर लिखा है अरु प्रथम परिच्छेद तो भगवान् ही के स्वरूप कथन में समाप्त किया है। यह कैसे सम्भव हो सकता है ?

जैन धर्म और ईश्वर

उत्तरः-हे भव्य! जो कोई कहते हैं कि जैनमतावलम्बी ईश्वर को नहीं मानते उनका ऐसा कहना मिथ्या है। उन्होंने कभी जैन मत का शास्त्र पढ़ा वा सुना न होगा, तथा किसी बुद्धिमान् जैनी का संसर्ग भी न करा होगा। जेकर जैन मत का शास्त्र पढ़ा वा सुना होता तो कभी ऐसा न कहते कि जैनी ईश्वर को नहीं मानते। जेकर जैनी ईश्वर को न मानते होते तो यह जो श्लोक लिखे जाते हैं, वो किस की स्तुति के हैं ?

त्वामव्ययं विभुमचिंत्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकं,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति संतः ॥

[भक्तामरस्तोत्र-श्लो० २४]

अस्यार्थः-हे जिन! 'संतः'-सत्पुरुष 'त्वां'-तेरे को 'अव्ययम्'-अव्यय 'प्रवदंति'—कहते हैं। अव्यय-अपचय को जो न प्राप्त

ब्रह्मा कहते हैं। फिर कैसे तुझको? 'ईश्वरम्'-सर्व देवताओं का स्वामी—ठाकुर होने से ईश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुझको? 'अनन्तम्'-अनंत ज्ञान, दर्शन के योग तें अनन्त, अथवा नहीं है अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनंत ज्ञान, अनंतबल, अनंत सुख, अनंतजीवन इन चारों करी संयुक्त होने से अनंत कहते हैं। फिर कैसे तुझको? 'अनंगकेतुम्'-कामदेव को केतु के उदय समान-नाशकारक होने से अनंगकेतु कहते हैं, अथवा नहीं हैं अङ्ग-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर रूपी चिन्ह जिसके सो अनंग केतु। यह *भविष्य नैगम के मत करी कहते हैं फिर कैसे तुझको? 'योगीश्वरम्'-योगी-जो चार ज्ञान के धरनारे, तिनों का ईश्वर होने से योगीश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुझ को? 'विदितयोगम्'-जाना है सम्यक् ज्ञानादि का रूप जिसने, अथवा ध्यानादि योग जिसने, अथवा विशेष करके दित—खण्डित किया है कर्म का संयोग जीव के साथ जिसने ऐसे तुझको विदितयोग कहते हैं। फिर कैसे तुझको? 'अनेकम्'-ज्ञान करके सर्वगत होने से, अथवा अनेक सिद्धों के एकत्र रहने से, अथवा गुण पर्याय की अपेक्षा करके, अथवा ऋषभादि व्यक्ति भेद' से तुझको अनेक कहते हैं। फिर कैसे तुझको? 'एकम्'-अद्वितीय—उत्तमोत्तम अथवा जीव द्रव्यापेक्षया एक कहते हैं। फिर कैसे तुझको? 'ज्ञानस्वरूपम्'-

* देखो परि० नं १—घ०

ब्रह्मा कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'ईश्वरम्'-सर्व देवताओं का स्वामी—ठाकुर होने से ईश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'अनन्तम्'-अनंत ज्ञान, दर्शन के योग तें अनन्त, अथवा नहीं है अन्त जिसका सो अनन्त, अथवा अनंत ज्ञान, अनंतवल, अनंत सुख, अनंतजीवन इन चारों करी संयुक्त होने से अनंत कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'अनंगकेतुम्'-कामदेव को केतु के उदय समान-नाशकारक होने से अनंगकेतु कहते हैं, अथवा नहीं हैं अङ्ग-औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर रूपी चिन्ह जिसके सो अनंग केतु। यह *भविष्य नैगम के मत करी कहते हैं फिर कैसे तुझको ? 'योगीश्वरम्'-योगी-जो चार ज्ञान के धरनारे, तिनों का ईश्वर होने से योगीश्वर कहते हैं। फिर कैसे तुझ को ? 'विदितयोगम्'-जाना है सम्यक् ज्ञानादि का रूप जिसने, अथवा ध्यानादि योग जिसने, अथवा विशेष करके दित—खण्डित किया है कर्म का संयोग जीव के साथ जिसने ऐसे तुझको विदितयोग कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'अनेकम्'-ज्ञान करके सर्वगत होने से, अथवा अनेक सिद्धों के एकत्र रहने से, अथवा गुण पर्याय की अपेक्षा करके, अथवा ऋषभादि व्यक्ति भेद से तुझको अनेक कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'एकम्'-अद्वितीय—उत्तमोत्तम अथवा जीव द्रव्यापेक्षया एक कहते हैं। फिर कैसे तुझको ? 'ज्ञानस्वरूपम्'-

* देखो परि० नं १-घ०

अर्थः—हे विबुधार्चित ! विबुध-देवताओं करी पूजित ! बुद्ध-सातों सुगतों में से कोई एक सुगत-धर्मबुद्धि प्रगट करने से सो बुद्ध तूंही है। तीनों भुवनों में सुख करने से तूं शंकर है। शं-सुख को जो करे सो शंकर। हे धीर ! शिव-मोक्ष तिसका जो मार्ग-ज्ञानदर्शनचारित्ररूप-तिसका विधान करने से तूं धाता-विधाता-ब्रह्मा है। हे भगवन् ! तूंही व्यक्त-प्रगट रूप से पुरुषों में उत्तम है। इत्यादि लाखों श्लोक परमेश्वर की स्तुति के हैं। जेकर जैनी ईश्वर को न मानते तो इन श्लोकों से उन्होंने किसकी स्तुति करी है ? इस कारण से जो कहते हैं कि जैनी लोग ईश्वर को नहीं मानते, वे प्रत्यक्ष मृषावादी हैं।

प्रश्नः—बहुत अच्छा हुआ जो मेरे मनका संशय दूर हुआ। परन्तु एक बात का संशय मेरे मनमें है कि तुमने ईश्वर तो मान्या, परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर जैनमत में मान्या है वा नहीं ?

जगत्कर्तृत्व-मीमांसा

उत्तरः—हे भव्य ! जगत् का कर्त्ता जो ईश्वर सिद्ध हो जावे तो जैनी क्यों नहीं मानें ? परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

प्रश्नः—जे कर किसी प्रमाण से ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता तो, नवीनवेदांती, नैयायिक, वैशेषिक, पांतंजल, नवीनसांख्य, ईसाई, मुसलमान प्रमुख अनेक

अर्थः—हे विबुधार्चित ! विबुध-देवताओं करी पूजित ! बुद्ध-सातों सुगतों में से कोई एक सुगत-धर्मबुद्धि प्रगट करने से सो बुद्ध तूंही है। तीनों भुवनों में सुख करने से तूं शंकर है। शं-सुख को जो करे सो शंकर। हे धीर ! शिव-मोक्ष तिसका जो मार्ग-ज्ञानदर्शनचारित्ररूप-तिसका विधान करने से तूं धाता-विधाता-ब्रह्मा है। हे भगवन् ! तूंही व्यक्त-प्रगट रूप से पुरुषों में उत्तम है। इत्यादि लाखों श्लोक परमेश्वर की स्तुति के हैं। जेकर जैनी ईश्वर को न मानते तो इन श्लोकों से उन्होंने किसकी स्तुति करी है ? इस कारण से जो कहते हैं कि जैनी लोग ईश्वर को नहीं मानते, वे प्रत्यक्ष मृषावादी हैं।

प्रश्नः—बहुत अच्छा हुआ जो मेरे मनका संशय दूर हुआ। परन्तु एक बात का संशय मेरे मनमें है कि तुमने ईश्वर तो मान्या, परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर जैनमत में मान्या है वा नहीं ?

जगत्कर्तृत्व-मीमांसा

उत्तरः—हे भव्य ! जगत् का कर्त्ता जो ईश्वर सिद्ध हो जावे तो जैनी क्यों नहीं मानें ? परन्तु जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता।

प्रश्नः—जे कर किसी प्रमाण से ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता तो, नवीनवेदांती, नैयायिक, वैशेषिक, पातंजल, नवीनसांख्य, ईसाई, मुसलमान प्रमुख अनेक

प्रश्नः—क्या ईश्वर भी कई एक तरें के हैं, जो आप हमसे ऐसा पूछते हो ?

निरपेक्ष ईश्वर-कर्तृत्वखण्डन

उत्तरः—क्या तुम नहीं जानते हो कि दो तरें के ईश्वर अन्य मतावलंबियों ने माने हैं ? एक तो जगदुत्पत्ति से पहिले केवल एक ही ईश्वर था। जगत् का उपादानादिक कोई भी कारण वा दूसरी वस्तु नहीं थी—एक ही शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दादि स्वरूप युक्त परमेश्वर था। कई एक जीवों को तो ऐसा ईश्वर, जगत् वा सर्व वस्तु का रचने वाला अभिमत है। और दूसरों ने तो जीव, परमाणु, आकाश, काल, दिशादि सामग्री वाला—एतावता एक तो उक्त विशेषण संयुक्त ईश्वर और दूसरी सामग्री जिससे जगत् रचा जावे, ए दोनों वस्तु अनादि हैं—एतावता एक तो ईश्वर और दूसरी जगत् उत्पन्न करने की सामग्री, ए दोनों किसी ने बनाये नहीं—ऐसा माना है। तुम को इन दोनों मतों में से कौनसा मत सम्मत है ?

पूर्वपक्षः—हमको तो प्रथममत सम्मत है, क्योंकि वेदादि शास्त्रों में ऐसा लिखा हैः—

* एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आका-

---

* उस सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा (ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से

प्रश्नः—क्या ईश्वर भी कई एक तरें के हैं, जो आप हमसे ऐसा पूछते हो ?

उत्तरः—क्या तुम नहीं जानते हो कि दो तरेंके ईश्वर अन्य मतावलंवियों ने माने हैं? एक तो जगदुत्पत्ति से पहिले केवल एक ही ईश्वर था। जगत् का उपादानादिक कोई भी कारण वा दूसरी वस्तु नहीं थी—एक ही शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्दादि स्वरूप युक्त परमेश्वर था। कई एक जीवों को तो ऐसा ईश्वर, जगत् वा सर्व वस्तु का रचने वाला अभिमत है। और दूसरों ने तो जीव, परमाणु, आकाश, काल, दिशादि सामग्री वाला—एतावता एक तो उक्त विशेषण संयुक्त ईश्वर और दूसरी सामग्री जिससे जगत् रचा जावे, ए दोनों वस्तु अनादि हैं—एतावता एक तो ईश्वर और दूसरी जगत् उत्पन्न करने की सामग्री, ए दोनों किसी ने वनाये नहीं—ऐसा माना है। तुम को इन दोनों मतों में से कौनसा मत सम्मत है ?

निरपेक्ष ईश्वर-कर्तृत्वखण्डन

पूर्वपक्षः—हमको तो प्रथममत सम्मत है, क्योंकि वेदादि शास्त्रों में ऐसा लिखा हैः—

* एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आका-

---

* उस सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा (ब्रह्म) से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से

अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

[ऋग्वेद मं० १०, सू० १२९, मंत्र १]

† आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चिन्मिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति।

[ऐत० उ०, १—१]

इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है, कि सृष्टि से पहिले केवल एक ईश्वर ही था, न जगत् था और न जगत् का कारण था, एक ही ईश्वर शुद्ध स्वरूप था। तथा ईसाई वा मुसलमान मतवाले भी ऐसे ही मानते हैं। इस हेतु से हम प्रथम पक्ष मानते हैं।

उत्तरः—हे पूर्वपक्षी! तुमारा यह कहना ईश्वर को बड़ा कलंकित करता है।

पूर्वपक्षः—जगत् के रचने से ईश्वर को क्या कलंक प्राप्त होता है?

उत्तरपक्षः—प्रथम तो जगत् का उपादान कारण नहीं है, इस हेतु से जगत् कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका उपादान कारण नहीं है, सो कार्य कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता जैसे गधे का सींग।

पूर्वपक्षः—ईश्वर ने अपनी शक्ति, नामांतर कुदरत से

---

† प्रथम ब्रह्म ही था और कुछ नहीं था। उस ने इच्छा की कि सृष्टि को उत्पन्न करूं।

अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

[ऋग्वेद मं० १०, सू० १२९, मंत्र १]

† आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चिन्मिषत् । स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति ।

[ऐत० उ०, १—१]

इत्यादि अनेक श्रुतियों से सिद्ध होता है, कि सृष्टि से पहिले केवल एक ईश्वर ही था, न जगत् था और न जगत् का कारण था, एक ही ईश्वर शुद्ध स्वरूप था । तथा ईसाई वा मुसलमान मतवाले भी ऐसे ही मानते हैं । इस हेतु से हम प्रथम पक्ष मानते हैं ।

उत्तरः—हे पूर्वपक्षी ! तुमारा यह कहना ईश्वर को बड़ा कलंकित करता है ।

पूर्वपक्षः—जगत् के रचने से ईश्वर को क्या कलंक प्राप्त होता है ?

उत्तरपक्षः—प्रथम तो जगत् का उपादान कारण नहीं है, इस हेतु से जगत् कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जिसका उपादान कारण नहीं है, सो कार्य कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता जैसे गधे का सींग ।

पूर्वपक्षः—ईश्वर ने अपनी शक्ति, नामांतर कुदरत से

---

† प्रथम ब्रह्म ही था और कुछ नहीं था । उस ने इच्छा की कि सृष्टि को उत्पन्न करूं ।

को लगता है। तथा जब ईश्वर आप ही सब कुछ बन गया, तो फिर वेदादिक शास्त्र क्यों बनाए ? अरु उनके पढ़ने से क्या फल हुआ ? ए दूसरा कलंक। तथा अपने आप ज्ञानी होने वास्ते वेदादिक शास्त्र बनाए अर्थात् पहिले तो अज्ञानी था—ए तीसरा कलंक। तथा शुद्ध से अशुद्ध बना, और जो जगत् रूप होने की मेहनत करी, सो निष्फल हुई—ए चौथा कलंक। कोई वस्तु जगत् में अच्छी वा बुरी नहीं—ए पाचवां कलंक। क्यों अपने आपको संकट में डाला ? ए छठा कलंक। इत्यादि अनेक कलंक तुम ईश्वर को लगाते हो।

पूर्वपक्षः—ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, इस हेतु से ईश्वर, विनाही उपादान कारण के जगत् रच सकता है।

उत्तरपक्षः—यह जो तुमारा कहना है सो प्यारी भार्या वा मित्र मानेगा परन्तु प्रेक्षावान् कोई भी नहीं मानेगा, क्योंकि इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। परन्तु जिसका उपादान कारण नहीं वो कार्य कदे भी नहीं हो सकता; जैसे गधे का सींग, ऐसा प्रमाण तुमारे कहने को बाधने वाला तो है। जेकर हठ करके स्वकपोलकल्पित ही को मानोगे तो परीक्षा वालों की पंक्ति में कदे भी नहीं गिने जाओगे। तथा इस तुमारे कहने में इतरेतराश्रय दूषण रूप वज्र का प्रहार पड़ता है; यथा सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध हो जावे तो सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे, जब सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे

को लगता है। तथा जब ईश्वर आप ही सब कुछ बन गया, तो फिर वेदादिक शास्त्र क्यों बनाए ? अरु उनके पढ़ने से क्या फल हुआ? ए दूसरा कलंक। तथा अपने आप ज्ञानी होने वास्ते वेदादिक शास्त्र बनाए अर्थात् पहिले तो अज्ञानी था—ए तीसरा कलंक। तथा शुद्ध से अशुद्ध बना, और जो जगत् रूप होने की मेहनत करी, सो निष्फल हुई—ए चौथा कलंक। कोई वस्तु जगत् में अच्छी वा बुरी नहीं—ए पाचवां कलंक। क्यों अपने आपको संकट में डाला? ए छठा कलंक। इत्यादि अनेक कलंक तुम ईश्वर को लगाते हो।

पूर्वपक्षः—ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, इस हेतु से ईश्वर, बिनाही उपादान कारण के जगत् रच सकता है।

उत्तरपक्षः—यह जो तुमारा कहना है सो प्यारी भार्या वा मित्र मानेगा परन्तु प्रेक्षावान् कोई भी नहीं मानेगा, क्योंकि इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। परन्तु जिसका उपादान कारण नहीं वो कार्य कदे भी नहीं हो सकता; जैसे गधे का सींग, ऐसा प्रमाण तुमारे कहने को बाधने वाला तो है। जेकर हठ करके स्वकपोलकल्पित ही को मानोगे तो परीक्षा वालों की पंक्ति में कदे भी नहीं गिने जाओगे। तथा इस तुमारे कहने में इतरेतराश्रय दूषण रूप वज्र का प्रहार पड़ता है; यथा सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित केवल शुद्ध एक ईश्वर सिद्ध हो जावे तो सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे, जब सर्वशक्तिमान् सिद्ध होवे

*अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

[श्वेता० उ०, ३—१६]

इस मन्त्र में कहा है कि ईश्वर को जानने वाला कोई भी नहीं है।

पूर्वपक्षः—विना कर्त्ता के जगत् कैसे हो गया? इस अनुमान प्रमाण से ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता सिद्ध होता है। सो तुम क्यों नहीं मानते?

उत्तरपक्षः—इस तुमारे अनुमान को दूसरे ईश्वर पक्ष में खण्डन करेंगे। यद्यपि उक्त प्रकार से सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित, केवल एक परमेश्वर नहीं सिद्ध हुआ, तो भी हम आगे चलते हैं। कि जब ईश्वर ने यह जीव रचे थे तब १-निर्मल रचे थे? २-पुण्य वाले रचे थे? ३-पाप वाले रचे थे? ४-मिश्रित पुण्य पाप-अर्द्धो अर्द्ध पुण्य पाप वाले रचे थे? ५-पुण्य थोड़ा पाप अधिक वाले रचे थे?

---

* वह—परमात्मा हाथ और पाओं के विना ग्रहण करता और चलता है, आंख के विना देखता है, कान के विना सुनता है। जो कुछ जानने योग्य है वह सब जानता है और उसको जानने वाला कोई नहीं है। उसे प्रथम—आद्य और महान्—श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं।

*अपाणिपादो जवनो ग्रहीता,
पश्यत्यचक्षुः श्रृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता,
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

[श्वेता० उ०, ३—१९]

इस मन्त्र में कहा है कि ईश्वर को जानने वाला कोई भी नहीं है।

पूर्वपक्षः—विना कर्त्ता के जगत् कैसे हो गया? इस अनुमान प्रमाण से ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता सिद्ध होता है। सो तुम क्यों नहीं मानते?

उत्तरपक्षः—इस तुमारे अनुमान को दूसरे ईश्वर पक्ष में खण्डन करेंगे। यद्यपि उक्त प्रकार से सृष्टि से पहिले उपादानादि सामग्री रहित, केवल एक परमेश्वर नहीं सिद्ध हुआ, तो भी हम आगे चलते हैं। कि जब ईश्वर ने यह जीव रचे थे तब १–निर्मल रचे थे? २–पुण्य वाले रचे थे? ३–पाप वाले रचे थे? ४–मिश्रित पुण्य पाप–अर्द्धो अर्द्ध पुण्य पाप वाले रचे थे? ५–पुण्य थोड़ा पाप अधिक वाले रचे थे?

---

* वह—परमात्मा हाथ और पाओं के विना ग्रहण करता और चलता है, आंख के विना देखता है, कान के विना सुनता है। जो कुछ जानने योग्य है वह सब जानता है और उसको जानने वाला कोई नहीं है। उसे प्रथम—आद्य और महान्—श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं।

जीवों को ईश्वर ने जो हाथ, पग, प्रमुख वस्तु दी हैं, सो नित्य केवल धर्म करने के कारण दी हैं। पीछे जो जीव उन से, अपनी इच्छा से, पाप कर लेवे तो इस में ईश्वर का क्या दूषण है ?

उत्तरपक्षः—हे भव्य ! यह जो तुमने बालक का दृष्टांत दिया सो यथार्थ नहीं, क्योंकि बालक के माता पिता को यह ज्ञान नहीं है, कि यदि हम इस बालक के खेलने वास्ते खिलौना देते हैं, तो हमारा बालक इस खिलौने से अपनी आंख फोड़ लेगा। जेकर बालक के माता पिता को यह ज्ञान होता कि हमारा बालक, इस खिलौने से अपनी आंख फोड़ लेगा तो माता पिता कभी उस के हाथ में खिलौना न देते। जे कर जान करके देवें तो वो माता पिता नहीं किन्तु उस बालक के परम शत्रु हैं। इसी तरें ईश्वर माता पिता तुल्य है अरु तुम, हम उसके बालक हैं। जे कर ईश्वर जानता था कि मैं ने इस को रचा—इसके तांई हाथ, पग, मन, इत्यादि सामग्री दीनी है, इस जीव ने इस सामग्री से बहुत पाप करके नरक जाना है तो फिर ईश्वर ने उस जीव को क्यों रचा ? जे कर कहोगे कि ईश्वर यह बात नहीं जानता था कि मेरी धर्म करने के लिये दी हुई सामग्री से पाप करके यह जीव नरक जावेगा, तो फिर ईश्वर तुमारे कहने ही से अज्ञानी असर्वज्ञ सिद्ध होता है। जे कर कहोगे कि ईश्वर जानता था कि यह जीव मेरी दी हुई सामग्री से पाप करके नरक में जायगा तो

जीवों को ईश्वर ने जो हाथ, पग, प्रमुख वस्तु दी हैं, सो नित्य केवल धर्म करने के कारण दी हैं। पीछे जो जीव उन से, अपनी इच्छा से, पाप कर लेवे तो इस में ईश्वर का क्या दूषण है ?

उत्तरपक्षः—हे भव्य ! यह जो तुमने बालक का दृष्टांत दिया सो यथार्थ नहीं, क्योंकि बालक के माता पिता को यह ज्ञान नहीं है, कि यदि हम इस बालक के खेलने वास्ते खिलौना देते हैं, तो हमारा बालक इस खिलौने से अपनी आंख फोड़ लेगा। जेकर बालक के माता पिता को यह ज्ञान होता कि हमारा बालक, इस खिलौने से अपनी आंख फोड़ लेगा तो माता पिता कभी उस के हाथ में खिलौना न देते। जे कर जान करके देवें तो वो माता पिता नहीं किन्तु उस बालक के परम शत्रु हैं। इसी तरें ईश्वर माता पिता तुल्य है अरु तुम, हम उसके बालक हैं। जे कर ईश्वर जानता था कि मैं ने इस को रचा—इसके तांई हाथ, पग, मन, इत्यादि सामग्री दीनी है, इस जीव ने इस सामग्री से बहुत पाप करके नरक जाना है तो फिर ईश्वर ने उस जीव को क्यों रचा ? जे कर कहोगे कि ईश्वर यह बात नहीं जानता था कि मेरी धर्म करने के लिये दी हुई सामग्री से पाप करके यह जीव नरक जावेगा, तो फिर ईश्वर तुमारे कहने ही से अज्ञानी असर्वज्ञ सिद्ध होता है। जे कर कहोगे कि ईश्वर जानता था कि यह जीव मेरी दी हुई सामग्री से पाप करके नरक में जायगा तो

का त्याग, इत्यादिक अनेक साधन कराय के, पीछे स्वर्ग मोक्ष में पहुंचाना—यह संकट ईश्वर ने व्यर्थ खड़ा करके क्यों जीवों को दुःख दीना। इस बात से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि ईश्वर को कुछ भी समझ नहीं।

अथ तृतीय पक्षोत्तरः—जे कर कहोगे कि ईश्वर ने पाप संयुक्त ही जीव रचे हैं, तो फिर बिना ही जीवों के करे पाप लगा दिया। इस तरे जब ईश्वर ने ही हमारा सत्यानाश करा, तो हम किस आगे विनति करें कि बिना गुनाह हमको यह ईश्वर पाप लगाता है, तुम इस को मने करो। जो बिना ही करे पाप लगा देवे, ऐसे अन्यायी ईश्वर का तो कभी नाम ही न लेना चाहिये। तथा जे कर ईश्वर ने पाप संयुक्त ही सर्व जीव रचे हैं तो राजा, अमात्य—मंत्री, श्रेष्ठी, सेनापति, धनवानों के घर में उत्पन्न होना, नीरोगकाय, सुन्दर रूप, सुन्दर संहनन, घर में आदर, बाहिर यशोकीर्त्ति पंचेन्द्रिय विषय भोग, इत्यादिक सामग्री पाप से कदे भी संभव नहीं होती। इस वास्ते जीवों को केवल पापवान् ईश्वर ने नहीं रचा।

अथ चतुर्थ पक्षोत्तरः—जे कर कहोगे कि अर्द्धोऽर्द्ध पुण्य पाप वाले जीव ईश्वर ने रचे हैं तो यह पक्ष भी अच्छा नहीं, क्योंकि आधे सुखी, आधे दुःखी ऐसे भी सर्व जीव देखने में नहीं आते।

अथ पंचम पक्षोत्तरः—पांचवा पक्ष भी ठीक नहीं

का त्याग, इत्यादिक अनेक साधन कराय के, पीछे स्वर्ग मोक्ष में पहुंचाना—यह संकट ईश्वर ने व्यर्थ खड़ा करके क्यों जीवों को दुःख दीना। इस बात से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि ईश्वर को कुछ भी समझ नहीं।

अथ तृतीय पक्षोत्तरः—जे कर कहोगे कि ईश्वर ने पाप संयुक्त ही जीव रचे हैं, तो फिर बिना ही जीवों के करे पाप लगा दिया। इस तरे जब ईश्वर ने ही हमारा अन्यायाय करा, तो हम फिर आगे विनति करें कि बिना गुनाह हमको यह ईश्वर पाप लगाता है, तुम इस को मने करो। जो बिना ही करे पाप लगा देवे, ऐसे अन्यायी ईश्वर का तो कभी नाम ही न लेना चाहिये। तथा जे कर ईश्वर ने पाप संयुक्त ही सर्व जीव रचे हैं तो राजा, अमात्य—मंत्री, श्रेष्ठी, सेनापति, धनवानों के घर में उत्पन्न होना, नीरोगकाय, सुन्दर रूप, सुन्दर संहनन, घर में आदर, बाहिर यशोकीर्त्ति पंचेन्द्रिय विषय भोग, इत्यादिक सामग्री पाप से कदे भी संभव नहीं होती। इस वास्ते जीवों को केवल पापवान् ईश्वर ने नहीं रचा।

अथ चतुर्थ पक्षोत्तरः—जे कर कहोगे कि अर्द्धोऽर्द्ध पुण्य पाप वाले जीव ईश्वर ने रचे हैं तो यह पक्ष भी अच्छा नहीं, क्योंकि आधे सुखी, आधे दुःखी ऐसे भी सर्व जीव देखने में नहीं आते।

अथ पंचम पक्षोत्तरः—पांचवा पक्ष भी ठीक नहीं

से पहिले अपर सृष्टि रचके क्यों नहीं अपना दुःख दूर करा ?

पूर्वपक्षः—ईश्वर ने जो सृष्टि रची है सो जीवों को धर्म के द्वारा अनंत सुख हो इस परोपकार के वास्ते ईश्वर ने सृष्टि रची है।

उत्तरपक्षः—धर्म कराके जीवों को सुख देना यह तो तुमारे कहने से परोपकार हुआ परन्तु जो पाप करके नरक गये उनके उपरि क्या उपकार करा ? उनको दुःखी करने से क्या ईश्वर परोपकारी हो सकता है ?

पूर्वपक्षः—उनको नरक से निकाल के फिर स्वर्ग में स्थापन करेगा।

उत्तरपक्षः—तो फिर उसने प्रथम ही नरक में क्यों जाने दिये

पूर्वपक्षः—ईश्वर ही सब कुछ पुण्य पापादि कराता है, जीव के अधीन कुछ भी नहीं। ईश्वर जो चाहता है सो कराता है, जैसे काठ की पुतली को बाज़ीगर जैसे चाहता है, तैसे नचाता है, पुतली के कुछ अधीन नहीं।

उत्तरपक्षः—जब जीव के कुछ अधीन नहीं, तो जीव को अच्छे बुरे का फल भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि जो कोई सरदार किसी नौकर को कहे, कि तुम यह काम करो, फिर नौकर सरदार के कहने से वो काम करे, अरु वो काम अच्छा है वा बुरा है तो क्या फिर वो सरदार उस नौकर को कुछ दंड आदि दे सकता है ? कुछ भी नहीं दे सकता। ऐसे

से पहिले अपर सृष्टि रचके क्यों नहीं अपना दुःख दूर करा ?

पूर्वपक्षः—ईश्वर ने जो सृष्टि रची है सो जीवों को धर्म के द्वारा अनंत सुख हो इस परोपकार के वास्ते ईश्वर ने सृष्टि रची है।

उत्तरपक्षः—धर्म कराके जीवों को सुख देना यह तो तुमारे कहने से परोपकार हुआ परन्तु जो पाप करके नरक गये उनके उपरि क्या उपकार करा ? उनको दुःखी करने से क्या ईश्वर परोपकारी हो सकता है ?

पूर्वपक्षः—उनको नरक से निकाल के फिर स्वर्ग में स्थापन करेगा।

उत्तरपक्षः—तो फिर उसने प्रथम ही नरक में क्यों जाने दिये

पूर्वपक्षः—ईश्वर ही सब कुछ पुण्य पापादि कराता है, जीव के अधीन कुछ भी नहीं। ईश्वर जो चाहता है सो कराता है, जैसे काठ की पुतली को बाज़ीगर जैसे चाहता है, तैसे नचाता है, पुतली के कुछ अधीन नहीं।

उत्तरपक्षः—जब जीव के कुछ अधीन नहीं, तो जीव को अच्छे बुरे का फल भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि जो कोई सरदार किसी नौकर को कहे, कि तुम यह काम करो, फिर नौकर सरदार के कहने से वो काम करे, अरु वो काम अच्छा है वा बुरा है तो क्या फिर वो सरदार उस नौकर को कुछ दंड आदि दे सकता है ? कुछ भी नहीं दे सकता। ऐसे

है ? अरु जो क्रीडा करने वाला है, सो बालक की तरे रागी, द्वेषी, अज्ञ होता है। जब राग द्वेष है, तो उस में सर्व दूषण हैं। जब आप ही औगुणों से भरा है, तो वो ईश्वर काहे का ? वो तो संसारी जीव है। अरु जब राग द्वेष वाला होवेगा तब सर्वज्ञ कदापि न होवेगा; जब सर्वज्ञ नहीं तो उसको ईश्वर कौन बुद्धिमान् कह सकता है ?

पूर्वपक्षः—जीवों के करे हुए पुण्य के अनुसार ईश्वर दंड देता है। इस हेतु से ईश्वर को क्या दोष है ? जैसा जिसने किया, वैसा ही उस को फल दिया।

उत्तरपक्षः—इस तुमारे कहने से यह संसार अनादि सिद्ध हो गया, अरु ईश्वर कर्त्ता नहीं, ऐसा सिद्ध हुआ। वाह रे मित्र ! तैने अपने हाथ से ही अपने पांव पर कुठाराघात किया; क्योंकि जो जीव अब हैं, अरु जो कुछ इन को यहां फल मिला है, सो पूर्व जन्म में करा हुआ ठहरा, अरु जो पूर्व जन्म था, उस में जो दुःख सुख जीव को मिला था, वो उस से पूर्व जन्म में करा था, इसी तरे पूर्व पूर्व जन्म में दुःख सुख उपजाने वाला कर्म करना अरु उत्तरोत्तर जन्म में सुख दुःख का भोगना इसी तरे संसार अनादि सिद्ध होता है। तो फिर अब सोचो कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर कैसे सिद्ध हुआ ?

पूर्वपक्षः—हम तो एक ही परम ब्रह्म पारमार्थिक सद्रूप मानते हैं।

उत्तरपक्षः—जेकर एक ही परम ब्रह्म सद्रूप है, तो फिर यह जो सरल, रसाल, प्रियाल, हिंताल, ताल,

है ? अरु जो क्रीडा करने वाला है, सो बालक की तरे रागी, द्वेषी, अज्ञ होता है। जब राग द्वेष है, तो उस में सर्व दूषण हैं। जब आप ही औगुणों से भरा है, तो वो ईश्वर काहे का ? वो तो संसारी जीव है। अरु जब राग द्वेष वाला होवेगा, तब सर्वज्ञ कदापि न होवेगा; जब सर्वज्ञ नहीं तो उसको ईश्वर कौन बुद्धिमान् कह सकता है ?

पूर्वपक्षः—जीवों के करे हुए पुण्य के अनुसार ईश्वर दंड देता है। इस हेतु से ईश्वर को क्या दोष है ? जैसा जिसने किया, वैसा ही उस को फल दिया।

उत्तरपक्षः—इस तुमारे कहने से यह संसार अनादि सिद्ध हो गया, अरु ईश्वर कर्त्ता नहीं, ऐसा सिद्ध हुआ। वाह रे मित्र ! तैंने अपने हाथ से ही अपने पांव पर कुठाराघात किया; क्योंकि जो जीव अब हैं, अरु जो कुछ इन को यहां फल मिला है, सो पूर्व जन्म में करा हुआ ठहरा, अरु जो पूर्व जन्म था, उस में जो दुःख सुख जीव को मिला था, वो उस से पूर्व जन्म में करा था, इसी तरे पूर्व पूर्व जन्म में दुःख सुख उपजाने वाला कर्म करना अरु उत्तरोत्तर जन्म में सुख दुःख का भोगना इसी तरे संसार अनादि सिद्ध होता है। तो फिर अब सोचो कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर कैसे सिद्ध हुआ ?

पूर्वपक्षः—हम तो एक ही परम ब्रह्म पारमार्थिक सद्रूप मानते हैं।

उत्तरपक्षः—जेकर एक ही परम ब्रह्म सद्रूप है, तो फिर यह जो सरल, रसाल, प्रियाल, हिंताल, ताल,

नहीं है ? प्रथम विकल्प तो कल्पना ही करने योग्य नहीं है, क्यों कि यह सरल है, यह रसाल है, ऐसा शब्द तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। अथ दूसरा पक्ष है, तो उस में भी शब्द का निमित्त ज्ञान नहीं है ? अथवा पदार्थ नहीं है ? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं, क्योंकि सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान तो प्राणी प्राणी के प्रति प्रतीत है। सर्व जीव देखने वाले जानते हैं कि, सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान हमको है। अथ दूसरा पक्ष कहो तो, पदार्थ भावरूप नहीं हैं ? कि अभावरूप नहीं है ? जेकर कहोगे कि पदार्थ भावरूप नहीं, अरु प्रतीत होता है, तो तुम को *असत्ख्याति माननी पड़ी, परन्तु अद्वैत वादियों के मत में असत्ख्याति माननी महा दूषण है। अथ दूसरा पक्ष, कि पदार्थ अभाव रूप नहीं है तो भाव रूप सिद्ध भया, तब तो सत्ख्याति माननी पड़ी। तथा जब अद्वैत मत अङ्गीकार किया, अरु †सत्ख्याति मानी, तब तो सत्ख्याति के मानने से अद्वैत मत की जड़ को कुहाड़े से काट दिया—एतावता अद्वैत मत कदापि सिद्ध नहीं होगा।

पूर्वपक्षः—वस्तु भावरूप तथा अभावरूप ए दोनों ही प्रकार से नहीं।

---

* असत् पदार्थ का सत् रूप से भान होना।

† सत् पदार्थ का सत् रूप से भान होना। नोट—ख्यातिवाद के विशेष विवरण के लिये देखो परि० नं० २—क।

नहीं है ? प्रथम विकल्प तो कल्पना ही करने योग्य नहीं है, क्यों कि यह सरल है, यह रसाल है, ऐसा शब्द तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। अथ दूसरा पक्ष है, तो उस में भी शब्द का निमित्त ज्ञान नहीं है ? अथवा पदार्थ नहीं है ? प्रथम पक्ष तो समीचीन नहीं, क्योंकि सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान तो प्राणी प्राणी के प्रति प्रतीत है। सर्व जीव देखने वाले जानते हैं कि, सरल, रसाल, ताल, तमाल प्रमुख का ज्ञान हमको है। अथ दूसरा पक्ष कहो तो, पदार्थ भावरूप नहीं हैं ? कि अभावरूप नहीं है ? जेकर कहोगे कि पदार्थ भावरूप नहीं, अरु प्रतीत होता है, तो तुम को *असत्ख्याति माननी पड़ी, परन्तु अद्वैत वादियों के मत में असत्ख्याति माननी महा दूषण है। अथ दूसरा पक्ष, कि पदार्थ अभाव रूप नहीं है तो भाव रूप सिद्ध भया, तब तो सत्ख्याति माननी पड़ी। तथा जब अद्वैत मत अङ्गीकार किया, अरु †सत्ख्याति मानी, तब तो सत्ख्याति के मानने से अद्वैत मत की जड़ को कुहाड़े से काट दिया—एतावता अद्वैत मत कदापि सिद्ध नहीं होगा।

पूर्वपक्षः—वस्तु भावरूप तथा अभावरूप ए दोनों ही प्रकार से नहीं।

---

* असत् पदार्थ का सत् रूप से भान होना।

† सत् पदार्थ का सत् रूप से भान होना। नोट—ख्यातिवाद के विशेष विवरण के लिये देखो परि० नं० २—क।

तरे ग्रहण करने में क्या दूषण है ? तो फिर तुम ने यह जो ऊपर प्रतिज्ञा करी थी, कि हम तो जो प्रतीत नहीं होवे, उस को अनिर्वाच्य कहते हैं, यह मिथ्या ठहरेगी और फिर प्रपंच भी अनिर्वाच्य सिद्ध नहीं होगा ? जब प्रपंच अनिर्वाच्य नहीं, तब या तो वो भाव रूप सिद्ध होगा, या अभावरूप सिद्ध होगा। इन दोनों ही पत्तों में एक रूप प्रपंच को मानने से पूर्वोक्त असत्ख्याति तथा सत्ख्याति रूप दोनों दूषण फिर तुमारे गले में रस्सा डालते हैं, अब भाग कर कहां जावोगे ? अच्छा हम फिर तुम को पूछते हैं कि यह जो तुम इस प्रपंच को अनिर्वाच्य मानते हो, सो प्रत्यक्ष प्रमाण से मानते हो ? वा अनुमान प्रमाण से मानते हो ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो इस प्रपंच को सत् स्वरूप ही सिद्ध करता है, जैसा जैसा पदार्थ है, तैसा तैसा ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, अरु प्रपंच जो है सो परस्पर-आपस में न्यारी न्यारी वस्तु, सो अपने अपने स्वरूप में भाव रूप है, अरु दूसरे पदार्थ के स्वरूप की अपेक्षा से अभाव रूप है। इस इतरेतर विविक्त वस्तुओं का समुदाय ही प्रपंच माना है। तो फिर प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रपंच को अनिर्वाच्य कैसे सिद्ध कर सकता है ?

पूर्वपक्षः—पूर्वोक्त जो हमारा पक्ष है, तिस को प्रत्यक्ष, *प्रतिक्षेप नहीं कर सकता, क्यों कि प्रत्यक्ष तो विधायक ही है, जेकर प्रत्यक्ष इतर वस्तु में इतर वस्तु के स्वरूप का

*—खंडित।

तरे ग्रहण करने में क्या दूषण है ? तो फिर तुम ने यह जो ऊपर प्रतिज्ञा करी थी, कि हम तो जो प्रतीत नहीं होवे, उस को अनिर्वाच्य कहते हैं, यह मिथ्या ठहरेगी और फिर प्रपंच भी अनिर्वाच्य सिद्ध नहीं होगा ? जब प्रपंच अनिर्वाच्य नहीं, तब या तो वो भाव रूप सिद्ध होगा, या अभावरूप सिद्ध होगा। इन दोनों ही पक्षों में एक रूप प्रपंच को मानने से पूर्वोक्त असत्ख्याति तथा सत्ख्याति रूप दोनों दूषण फिर तुमारे गले में रस्सी डालते हैं, अब भाग कर कहां जावोगे ? अच्छा हम फिर तुम को पूछते हैं कि यह जो तुम इस प्रपंच को अनिर्वाच्य मानते हो, सो प्रत्यक्ष प्रमाण से मानते हो ? वा अनुमान प्रमाण से मानते हो ? प्रत्यक्ष प्रमाण तो इस प्रपंच को सत् स्वरूप ही सिद्ध करता है, जैसा जैसा पदार्थ है, तैसा तैसा ही उसका प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, अरु प्रपंच जो है सो परस्पर–आपस में न्यारी न्यारी वस्तु, सो अपने अपने स्वरूप में भाव रूप है, अरु दूसरे पदार्थ के स्वरूप की अपेक्षा से अभाव रूप है। इस इतरेतर विविक्त वस्तुओं का समुदाय ही प्रपंच माना है। तो फिर प्रत्यक्ष प्रमाण इस प्रपंच को अनिर्वाच्य कैसे सिद्ध कर सकता है ?

पूर्वपक्षः—पूर्वोक्त जो हमारा पक्ष है, तिस को प्रत्यक्ष, *प्रतिक्षेप नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष तो विधायक ही है, जेकर प्रत्यक्ष इतर वस्तु में इतर वस्तु के स्वरूप का

*—खंडित।

जो है, सो विधायक ही है, निषेधक नहीं; ऐसे वचन कहने वाले को क्यों न उन्मत्त कहना चाहिये ?

अब जो आगे अनुमान कहेंगे, तिस करके भी तुमारे पूर्वोक्त अनुमान का पक्ष बाधित है। सो अनुमान ऐसे है— प्रपंच मिथ्या नहीं है, असत् से विलक्षण होने से, जो असत् से विलक्षण है, सो ऐसा है अर्थात् मिथ्या नहीं है, यथा आत्मा। तैसा ही यह प्रपंच है, अतः प्रपञ्च मिथ्या नहीं है। तथा प्रतीयमानत्व जो तुमारा हेतु है, सो ब्रह्मरूप आत्मा के साथ व्यभिचारी है, जैसे ब्रह्मात्मा प्रतीयमान तो है, परन्तु मिथ्यारूप नहीं है। जेकर कहोगे कि ब्रह्मात्मा अप्रतीयमान है तो वचनगोचर न होगा, जब वचनगोचर नहीं, तब तो तुमको गूंगे बनना ठीक है, क्योंकि ब्रह्म के बिना अपर तो कुछ है नहीं, अरु जो ब्रह्मात्मा है, सो प्रतीयमान नहीं; तो फिर तुमको हम गूंगे के बिना और क्या कहें ? प्रथम अनुमान में जो तुमने सीप का दृष्टांत दिया था, सो साध्यविकल है, क्योंकि जो सीप है सो भी प्रपंच के अंतर्गत है, अरु तुम तो प्रपंच को मिथ्यारूप सिद्ध करा चाहते हो, सो यह कभी नहीं हो सकता कि जो साध्य होवे सोइ दृष्टांत में कहा जावे। जब सीप का भी अभी तक सत् असत् पना सिद्ध नहीं, तो उसको दृष्टांत में काहे को लाना ? तथा हम तुमको यह पूछते हैं कि जो प्रथम अनुमान तुमने प्रपंच के मिथ्या साधने को कीना था सो अनुमान इस प्रपंच से भिन्न है वा अभिन्न

जो है, सो विधायक ही है, निषेधक नहीं; ऐसे वचन कहने वाले को क्यों न उन्मत्त कहना चाहिये ?

अब जो आगे अनुमान कहेंगे, तिस करके भी तुमारे पूर्वोक्त अनुमान का पक्ष बाधित है। सो अनुमान ऐसे है—प्रपंच मिथ्या नहीं है, असत् से विलक्षण होने से, जो असत् से विलक्षण है, सो ऐसा है अर्थात् मिथ्या नहीं है, यथा आत्मा। तैसा ही यह प्रपंच है, अतः प्रपञ्च मिथ्या नहीं है। तथा प्रतीयमानत्व जो तुमारा हेतु है, सो ब्रह्मरूप आत्मा के साथ व्यभिचारी है, जैसे ब्रह्मात्मा प्रतीयमान तो है, परन्तु मिथ्यारूप नहीं है। जेकर कहोगे कि ब्रह्मात्मा अप्रतीयमान है तो वचनगोचर न होगा, जब वचनगोचर नहीं, तब तो तुमको गूंगे बनना ठीक है, क्योंकि ब्रह्म के बिना अपर तो कुछ है नहीं, अरु जो ब्रह्मात्मा है, सो प्रतीयमान नहीं; तो फिर तुमको हम गूंगे के बिना और क्या कहें ? प्रथम अनुमान में जो तुमने सीप का दृष्टांत दिया था, सो साध्यविकल है, क्योंकि जो सीप है सो भी प्रपंच के अंतर्गत है, अरु तुम तो प्रपंच को मिथ्यारूप सिद्ध करा चाहते हो, सो यह कभी नहीं हो सकता कि जो साध्य होवे सोइ दृष्टांत में कहा जावे। जब सीप का भी अभी तक सत् असत् पना सिद्ध नहीं, तो उसको दृष्टांत में काहे को लाना ? तथा हम तुमको यह पूछते हैं कि जो प्रथम अनुमान तुमने प्रपंच के मिथ्या साधने को कीना था सो अनुमान इस प्रपंच से भिन्न है वा अभिन्न

स्वरूप ही है। जे कर कहोगे कि असत् स्वरूप है, तो फिर ब्रह्मादि शब्द से कहे हुए पदार्थ कैसे सत् स्वरूप हो सकेंगे? क्योंकि जो आप ही असत् स्वरूप है, सो पर की व्यवस्था करने वा कहने का हेतु कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षः—जैसे खोटा रुपया सत्य रुपये के क्रय विक्रयादिक व्यवहार का जनक होने से सत्य रुपया माना जाता है, तैसे ही हमारा अनुमान यद्यपि असत् स्वरूप है तो भी जगत् में सत् व्यवहार करके प्रवृत्त होने से व्यवहार सत् है। इस वास्ते अपने साध्य का साधक है।

उत्तरपक्षः—हे भव्य! इस तुमारे कहने से तो तुमारा अनुमान पारमार्थिक असत् स्वरूप ठहरता है, फिर तो जो दूषण असत् पक्ष में दीने हैं, सो सर्व ही इहां पड़ेंगे। जे कर कहोगे कि हम प्रपंच से अनुमान को अभिन्न मानते हैं, तब तो प्रपंच की तरें अनुमान भी मिथ्या रूप ही ठहरा, फिर वह अपने साध्य को कैसे साध सकेगा? इस पूर्वोक्त विचार से प्रपंच मिथ्या रूप नहीं, किन्तु आत्मा की तरें सत्स्वरूप है, तो फिर एक ही ब्रह्म अद्वैत तत्त्व है, यह तुमारा कहना क्योंकर सत्य हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षः—हमारी *उपनिषदों में तथा शंकर स्वामी के

---

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति। [तै० उ०, ३—१]

जिस से विश्व के सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से

स्वरूप ही है। जे कर कहोगे कि असत् स्वरूप है, तो फिर ब्रह्मादि शब्द से कहे हुए पदार्थ कैसे सत् स्वरूप हो सकेंगे? क्योंकि जो आप ही असत् स्वरूप है, सो पर की व्यवस्था करने वा कहने का हेतु कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष:—जैसे खोटा रुपया सत्य रुपये के क्रय विक्रयादिक व्यवहार का जनक होने से सत्य रुपया माना जाता है, तैसे ही हमारा अनुमान यद्यपि असत् स्वरूप है तो भी जगत् में सत् व्यवहार करके प्रवृत्त होने से व्यवहार सत् है। इस वास्ते अपने साध्य का साधक है।

उत्तरपक्ष:—हे भव्य! इस तुमारे कहने से तो तुमारा अनुमान पारमार्थिक असत् स्वरूप ठहरता है, फिर तो जो दूषण असत् पक्ष में दीने हैं, सो सर्व ही इहां पडेंगे। जे कर कहोगे कि हम प्रपंच से अनुमान को अभिन्न मानते हैं, तब तो प्रपंच की तरें अनुमान भी मिथ्या रूप ही ठहरा, फिर वह अपने साध्य को कैसे साध सकेगा? इस पूर्वोक्त विचार से प्रपंच मिथ्या रूप नहीं, किन्तु आत्मा की तरें सत्स्वरूप है, तो फिर एक ही ब्रह्म अद्वैत तत्त्व है, यह तुमारा कहना क्योंकर सत्य हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष:—हमारी *उपनिषदों में तथा शंकर स्वामी के

---

* यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति। [तै० उ०, ३—१]

जिस से विश्व के सारे प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से

जैसा चाण्डाल, तैसा ब्राह्मण; जैसा गधा, तैसा सन्यासी। क्योंकि जब सर्व वस्तु का कारण—उपादान ईश्वर परमात्मा ही ठहरा, तब तो सर्व जगत् एकरस-एक स्वरूप है; दूसरा तो कोई है नहीं।

पूर्वपक्षः—हम एक ब्रह्म मानते हैं, अरु एक माया मानते हैं, सो तुम ने जो ऊपर बहुत से आल जंजाल लिखे हैं, सो तो सर्व मायाजन्य हैं अरु ब्रह्म तो सच्चिदानंद शुद्ध स्वरूप एक ही है।

उत्तरपक्षः—हे अद्वैतवादी! यह जो तुमने पक्ष माना है सो बहुत असमीचीन है। यथा—माया जो है तिस का ब्रह्म से भेद है, वा अभेद है? जे कर भेद है तो जड है, वा चेतन है? जे कर जड है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है? जेकर कहोगे कि नित्य है, तो यह मान्यता अद्वैत मत के मूल को ही दाह करती है, क्योंकि जब ब्रह्म से भेद रूप हुई, अरु जड रूप भई, अरु नित्य हुई, फिर तो तुमने अद्वैत पंथ-मत आप ही अपने कहने से सिद्ध कर लिया। अरु अद्वैत पंथ जड मूल से कट गया। जे कर कहोगे कि अनित्य है, तो द्वैतता कभी दूर नहीं होगी। क्योंकि जो नाश होने वाला है, सो कार्य रूप है, अरु जो कार्य है सो कारण जन्य है। तो फिर उस माया का उपादान कारण कौन है? सो कहना चाहिये। जेकर कहोगे कि अपर माया, तब तो अनवस्था दूषण है, अरु अद्वैत तीनों कालों में कदापि सिद्ध नहीं

जैसा चाण्डाल, तैसा ब्राह्मण; जैसा गधा, तैसा सन्यासी। क्योंकि जब सर्व वस्तु का कारण—उपादान ईश्वर परमात्मा ही ठहरा, तब तो सर्व जगत् एकरस-एक स्वरूप है; दूसरा तो कोई है नहीं।

पूर्वपक्षः—हम एक ब्रह्म मानते हैं, अरु एक माया मानते हैं, सो तुम ने जो ऊपर बहुत से आल जंजाल लिखे हैं, सो तो सर्व मायाजन्य हैं अरु ब्रह्म तो सच्चिदानंद शुद्ध स्वरूप एक ही है।

उत्तरपक्षः—हे अद्वैतवादी! यह जो तुमने पक्ष माना है सो बहुत असमीचीन है। यथा—माया जो है तिस का ब्रह्म से भेद है, वा अभेद है? जे कर भेद है तो जड है, वा चेतन है? जे कर जड है, तो फिर नित्य है, वा अनित्य है? जेकर कहोगे कि नित्य है, तो यह मान्यता अद्वैत मत के मूल को ही दाह करती है, क्योंकि जब ब्रह्म से भेद रूप हुई, अरु जड रूप भई, अरु नित्य हुई, फिर तो तुमने अद्वैत पंथ-मत आप ही अपने कहने से सिद्ध कर लिया। अरु अद्वैत पंथ जड मूल से कट गया। जे कर कहोगे कि अनित्य है, तो द्वैतता कभी दूर नहीं होगी। क्योंकि जो नाश होने वाला है, सो कार्य रूप है, अरु जो कार्य है सो कारण जन्य है। तो फिर उस माया का उपादान कारण कौन है? सो कहना चाहिये। जेकर कहोगे कि अपर माया, तब तो अनवस्था दूषण है, अरु अद्वैत तीनों कालों में कदापि सिद्ध नहीं

उत्तरपक्षः—हे वल्लभ मित्र ! तुमारी समझ मूजब तो जरूर जैसे तुम कहते हो, तैसे ही है; परन्तु शंकर स्वामी के शिष्य आनंदगिरि ने शंकरदिग्विजय के अठावनवें प्रकरण में जो शंकर स्वामी का वृत्तांत लिखा है, उसके पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि शंकरस्वामी सर्वज्ञ नहीं थे प्रत्युत कामी, अज्ञानी अरु असमर्थ थे तथा तिस से ऐसा भी प्रतीत होता है कि वेदांतियों का अद्वैतब्रह्मज्ञान जब तांई यह स्थूल देह रहेगी, तब तांई रहेगा, परन्तु इस शरीर के छूटने पीछे किसी वेदांती को ब्रह्मज्ञान नहीं रहेगा।

पूर्वपक्षः—वो कौनसा शंकरस्वामी का वृत्तांत है जिस से तुमारी पूर्वोक्त बातें सिद्ध होती हैं ?

उत्तरपक्षः—जो तुमको वृत्तांत सुनना है, तो हमारे क्या *ढील है। हम इसी जगे लिख देते हैं:-

श्री शंकराचार्य और सरसवाणी

जब शंकरस्वामी ने मंडनमिश्र को जीता, तब मंडनमिश्र ने यतिव्रत ले लिया, अरु मंडनमिश्र की भार्या जिसका नाम "सरसवाणी" था, सो सरसवाणी अपने पति को यतिव्रत लिया देख कर आप ब्रह्मलोक को चली। सरसवाणी को जाती देखकर शंकरस्वामी ने वनदुर्गामंत्र के द्वारा दिग्वंधन किया। तिसके पीछे शंकर-स्वामीने—हे सरसवाणि ! तूं ब्रह्म शक्ति है, ब्रह्म के अंशभूत मंडनमिश्रकी तूं भार्या है, उपाधि करके सर्वको फलित है;

---

* देरी।

उत्तरपक्षः—हे वल्लभ मित्र ! तुमारी समझ मूजब तो जरूर जैसे तुम कहते हो, तैसे ही है; परन्तु शंकर स्वामी के शिष्य आनंदगिरि ने शंकरदिग्विजय के अठावनवें प्रकरण में जो शंकर स्वामी का वृत्तांत लिखा है, उसके पढ़ने से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि शंकरस्वामी सर्वज्ञ नहीं थे प्रत्युत कामी, अज्ञानी अरु असमर्थ थे तथा तिस से ऐसा भी प्रतीत होता है कि वेदांतियों का अद्वैतब्रह्मज्ञान जब ताईं यह स्थूल देह रहेगी, तब ताईं रहेगा, परन्तु इस शरीर के छूटने पीछे किसी वेदांती को ब्रह्मज्ञान नहीं रहेगा।

पूर्वपक्षः—वो कौनसा शंकरस्वामी का वृत्तांत है जिस से तुमारी पूर्वोक्त बातें सिद्ध होती हैं ?

उत्तरपक्षः—जो तुमको वृत्तांत सुनना है, तो हमारे क्या *ढील है। हम इसी जगे लिख देते हैं:-

श्री शंकराचार्य और सरसवाणी

जब शंकरस्वामी ने मंडनमिश्र को जीता, तब मंडनमिश्र ने यतिव्रत ले लिया, अरु मंडनमिश्र की भार्या जिसका नाम "सरसवाणी" था, सो सरसवाणी अपने पति को यतिव्रत लिया देख कर आप ब्रह्मलोक को चली। सरसवाणी को जाती देखकर शंकरस्वामी ने वनदुर्गामंत्र के द्वारा दिग्बंधन किया। तिसके पीछे शंकरस्वामीने—हे सरसवाणि ! तूं ब्रह्म शक्ति है, ब्रह्म के अंशभूत मंडनमिश्रकी तूं भार्या है, उपाधि करके सर्वको फलित है;

* देरी।

सरसवाणी के प्रति कहने लगे कि *हे माता! तुम ६ महीने तक यहां ही रहो, पीछे में सर्व रहस्यमय अर्थों का निश्चय करके तेरे पूछे का उत्तर कहूँगा। ऐसे कह कर आग्रह पूर्वक सरसवाणी को तहां ही आकाशमंडल में स्थापन करके सर्व शिष्यों को यथास्थान भेज कर उन में से हस्तामलक, पद्मपाद, चिधिवित्, और आनंदगिरि, इन चार प्रधान शिष्यों को साथ लेकर, तिस नगर से पश्चिमदिशा की ओर अमृतपुर नाम के नगर में पहुंचे। उस नगर का राजा मर गया था, उस का शरीर तिस अवसर में चिता में जलाने के वास्ते रक्खा था। उस शरीर को देख कर शंकर स्वामी ने अपना शरीर उस नगर के प्रांत में एक पर्वत की गुफा में स्थापन कर दिया, और शिष्यों को कह दिया कि तुमने इस शरीर की रक्षा करनी। अरु आप परकायप्रवेशविद्या करके, †लिंगशरीर संयुक्त अभिमान सहित उस

* मातस्त्वत्रैव षण्मासं तिष्ठ पश्चात्कथामु च।
भारति! सर्वं विभेदासु करोम्यर्थविनिर्णयम्॥
[शं० वि०, प्र० ५८]

† स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर है जिस की सर्वत्र अव्याहत गति है, अर्थात् उसके प्रवेश को कहीं पर भी रुकावट नहीं है और वह मोक्ष पर्यन्त आत्मा के साथ रहता है। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार इन—अठारह तत्त्वों से यह निर्मित है। जैन सिद्धान्त में इस के स्थानापन्न कार्मण शरीर है।

सरस्वाणी के प्रति कहने लगे कि *हे माता ! तुम ६ महीने तक यहां ही रहो, पीछे में सर्व रहस्यमय अर्थों का निश्चय करके तेरे पूछे का उत्तर कहूँगा। ऐसे कह कर आग्रह पूर्वक सरस्वाणी को तहां ही आकाशमंडल में स्थापन करके सर्व शिष्यों को यथास्थान भेज कर उन में से हस्तामलक, पद्मपाद, विधिवित् और आनंदगिरि, इन चार प्रधान शिष्यों को साथ लेकर, तिस नगर से पश्चिमदिशा की ओर अमृतपुर नाम के नगर में पहुंचे। उस नगर का राजा मर गया था, उस का शरीर तिस अवसर में चिता में जलाने के वास्ते रक्खा था। उस शरीर को देख कर शंकर स्वामी ने अपना शरीर उस नगर के प्रांत में एक पर्वत की गुफा में स्थापन कर दिया, और शिष्यों को कह दिया कि तुमने इस शरीर की रक्षा करनी। अरु आप परकायप्रवेशविद्या करके, † लिंगशरीर संयुक्त अभिमान सहित उस

---

* मातस्त्वमत्रैव षण्मासं तिष्ठ पश्चात्कथामु च।
सति ! सर्वं विभेदामु करोम्यर्थविनिर्णयम्॥
[शं० वि०, प्र० ५८]

† स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक सूक्ष्म शरीर है जिस की सर्वत्र अव्याहत गति है, अर्थात् उसके प्रवेश को कहीं पर भी रुकावट नहीं है और वह मोक्ष पर्यन्त आत्मा के साथ रहता है। पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार इन—अठारह तत्त्वों से यह निर्मित है। जैन सिद्धान्त में इस के स्थानापन्न कार्मण शरीर है।

अपने पगों करके राणी के पग संकोचे एतावता जंघों में जंघा फंसाइ अर्थात् एक शरीरवत् हो गये। दोनों जने बहुत गाढ आलिंगन करने में तत्पर हुये। और राणीके कक्षा स्थानों विषे हाथों करी स्पर्श करते हुये शङ्करस्वामी बहुत सुख में मग्न हुये। तब राणी, उनकी आलाप चतुराई को देख कर चित्त में विचार करने लगी, कि देह मात्र से तो यह मेरा भर्त्ता है, परंतु इस का जीव मेरा भर्त्ता नहीं, ए तो कोई सर्वज्ञ है। ऐसा विचार करके राणी ने अपने नौकरों को चारों दिशा में भेजा, अरु कह दिया कि जो पर्वतों में वा गुफाओं में बारह योजनों के बीच में जितने शरीर जीव रहित होवें सो सब शरीर चिता में रख कर जला देवो। शंकरस्वामी तो विषय में अत्यन्त मूर्छित हो गये। अर्थात् अपने पूर्व चरित्र का उन्हें कोई पता नहीं रहा। तब राणी के नौकरों ने चार शिष्यों के द्वारा सुरक्षित देख कर शंकरस्वामी के शरीर को उठाकर चिता में रख दिया और उस को दाह करने लगे। तब शंकरस्वामी के चारों शिष्य, उस नगर में गये, जहां कि शङ्करस्वामी थे। वहां शङ्करस्वामी को काम लोलुपी देख कर शङ्कर राजा के आगे नाटक करने लगे एतावता शङ्करस्वामी को परोक्तियों करके प्रतिबोध करने लगे। सो लिखते हैं:—

१. *यत्सत्यमुख्यशब्दार्थानुकूलं, तत्त्वमसि २ राजन्!

---

* १—जो सत्य और मुख्य शब्दार्थ वृत्ति के अनुकूल हैं, हे राजन्! वह तू है, २।

अपने पगों करके राणी के पग संकोचे एतावता जंघों में जंघा फंसाइ अर्थात् एक शरीरवत् हो गये । दोनों जने बहुत गाढ आलिंगन करने में तत्पर हुये । और राणीके कत्ता स्थानों विषे हाथों करी स्पर्श करते हुये शङ्करस्वामी बहुत सुख में मग्न हुये । तब राणी, उनकी आलाप चतुराई को देख कर चित्त में विचार करने लगी, कि देह मात्र से तो यह मेरा भर्त्ता है, परंतु इस का जीव मेरा भर्त्ता नहीं, ए तो कोई सर्वज्ञ है। ऐसा विचार करके राणी ने अपने नौकरों को चारों दिशा में भेजा, अरु कह दिया कि जो पर्वतों में वा गुफाओं में बारह योजनों के बीच में जितने शरीर जीव रहित होवें सो सब शरीर चिता में रख कर जला देवो । शंकरस्वामी तो विषय में अत्यन्त मूर्छित हो गये। अर्थात् अपने पूर्व चरित्र का उन्हें कोई पता नहीं रहा। तब राणी के नौकरों ने चार शिष्यों के द्वारा सुरक्षित देख कर शंकरस्वामी के शरीर को उठाकर चिता में रख दिया और उस को दाह करने लगे । तब शंकरस्वामी के चारों शिष्य, उस नगर में गये, जहां कि शङ्करस्वामी थे। वहां शङ्करस्वामी को काम लोलुपी देख कर शङ्कर राजा के आगे नाटक करने लगे एतावता शङ्करस्वामी को परोक्तियों करके प्रतिबोध करने लगे । सो लिखते हैं:—

१. *यत्सत्यमुख्यशब्दार्थानुकूलं, तत्त्वमसि २ राजन् !

---

* १—जो सत्य और मुख्य शब्दार्थ वृत्ति के अनुकूल है, हे राजन् ! वह तू है, २ ।

१४. त्वद्रूपमेवमस्माभि विदितं राजन्! तव पूर्वयत्याश्रमस्थम्॥ [शं० दि०, प्र० ५६]

इन परोक्तियों करके राजा को प्रतिबोध हुआ। तब सब के सन्मुख शंकर स्वामी का जीव तिस राजा की देह से निकल कर जब उस पर्वत की कंदरा में पहुंचा तब उसने अपने शरीर को वहां न देख कर चिता में देखा। अरु देखते ही कपाल मध्य में से होकर उसमें प्रवेश किया. परन्तु शरीर के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी. इससे निकलना दुष्कर होगया। फिर वहां पर शङ्कर स्वामी ने लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करी। तब लक्ष्मी नृसिंह ने शङ्कर स्वामी को जीता अग्नि में से बाहिर निकाला। इत्यादि।

७—जैमिनि ऋषि ने जिस सत्य कर्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है, हे राजन्! वह तू है, २।

८—पाणिनि ऋषि ने जिस शब्दस्वरूप तत्त्व का कथन किया है, वह तू है, २।

९—जो सांख्यों का अभिमत तत्त्व है, वह तू है, २।

१०—अष्टाङ्गयोग के द्वारा जानने योग्य आनन्दस्वरूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

११—हे राजन्! सत्यज्ञान और आनन्दस्वरूप जो ब्रह्म है, वह तू है, २।

१२—द्वैत द्वन्द्व प्रपंच से भिन्न जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१३—ब्रह्म का ब्रह्म, विष्णु और महेश रूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१४—हे राजन्! आप के पूर्वोत्पन्न के स्वरूप को हमने जान लिया है।

१४. त्वद्रूपमेवमस्माभि र्विदितं राजन्! तव पूर्वय-
स्याश्रमस्थम् ॥ [शं० दि०, पृ० ५९]

इन परोक्तियों करके राजा को प्रतिबोध हुआ। तब सब के सन्मुख शंकर स्वामी का जीव तिस राजा की देह से निकल कर जब उस पर्वत की कंदरा में पहुंचा तब उसने अपने शरीर को वहां न देख कर चिता में देखा। अरु देखते ही कपाल मध्य में से होकर उसमें प्रवेश किया, परन्तु शरीर के चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो रही थी, इससे निकलना दुष्कर होगया। फिर वहां पर शङ्कर स्वामी ने लक्ष्मीनृसिंह की स्तुति करी। तब लक्ष्मी नृसिंह ने शङ्कर स्वामी को जीता अग्नि में से बाहिर निकाला। इत्यादि।

७—जैमिनि ऋषि ने जिस सत्य धर्मतत्त्व का प्रतिपादन किया है, हे राजन्! वह तू है, २।

८—पाणिनि ऋषि ने जिस शब्दस्वरूप तत्त्व का कथन किया है, वह तू है, २।

९—जो सांख्यों का अभिमत तत्त्व है, वह तू है, २।

१०—अष्टाङ्गयोग के द्वारा जानने योग्य आनन्दस्वरूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

११—हे राजन्! सत्यज्ञान और आनन्दस्वरूप जो ब्रह्म है, वह तू है, २।

१२—सब द्वन्द्व प्रपंच से भिन्न जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१३—ब्रह्म का ब्रह्म, विष्णु और महेश रूप जो तत्त्व है, वह तू है, २।

१४—हे राजन्! आप के पूर्वाश्रम के स्वरूप को हमने जान लिया है।

है। सरसवाणी तो ब्रह्म की शक्ति हो कर फिर स्त्री बन कर मंडनमिश्र से विषय सेवन करती रही अरु सर्वज्ञ भी बन बैठी। अरु शंकर स्वामी परस्त्री से विषय सेवन करके उस से कछुक काम शास्त्र सीख कर सर्वज्ञ बन बैठे, क्या यह गधे खुरकनी न हुई तो और क्या हुआ? तथा उक्त वृत्तान्त से यह भी मालूम पड़ता है कि जब शङ्कर स्वामी, अपना स्थूल शरीर छोड़ कर राजा के शरीर में गये, तब सब ब्रह्मविद्या भूल गये। जेकर न भूले होते तो उन के शिष्य काहे को "तत्त्वमसि" का उपदेश करते? और भी सुनिये। जब शंकर स्वामी स्थूल शरीर के बदल जाने पर ब्रह्मविद्या को भूल गये, तब तो ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध न तो लिंग शरीर के साथ रहा, न आत्मा के साथ, किन्तु स्थूल शरीर ही के साथ सम्बन्ध रहा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब वेदांती मर जाते हैं, तब उन का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि उक्त कथनानुसार ज्ञान का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर ही के साथ रहा आत्मा के साथ नहीं। अरु जो तुमने कहा था कि शंकरस्वामी के कथन किये अद्वैत मत को कौन खण्डन कर सकता है? सो हे भव्य! जब शंकर स्वामी का चरित्र ही असमंजस है, तो फिर उन के कहे हुए मत को किस प्रकार युक्तियुक्त समझा जा सकता है?

पूर्वपक्षः—"पुरुष एवेदं" इत्यादि श्रुतियों से अद्वैत ही सिद्ध होता है।

है। सरसवाणी तो ब्रह्म की शक्ति हो कर फिर स्त्री बन कर मंडनमिश्र से विषय सेवन करती रही अरु सर्वज्ञ भी बन बैठी। अरु शंकर स्वामी परस्त्री से विषय सेवन करके उस से कछुक काम शास्त्र सीख कर सर्वज्ञ बन बैठे, क्या यह गधे खुरकनी न हुई तो और क्या हुआ ? तथा उक्त वृत्तान्त से यह भी मालूम पड़ता है कि जब शङ्कर स्वामी, अपना स्थूल शरीर छोड़ कर राजा के शरीर में गये, तब सब ब्रह्मविद्या भूल गये। जेकर न भूले होते तो उन के शिष्य काहे को "तत्त्वमसि" का उपदेश करते ? और भी सुनिये। जब शंकर स्वामी स्थूल शरीर के बदल जाने पर ब्रह्मविद्या को भूल गये, तब तो ब्रह्मविद्या का सम्बन्ध न तो लिंग शरीर के साथ रहा, न आत्मा के साथ, किन्तु स्थूल शरीर ही के साथ सम्बन्ध रहा। इससे यह सिद्ध हुआ कि जब वेदांती मर जाते हैं, तब उन का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि उक्त कथनानुसार ज्ञान का सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर ही के साथ रहा आत्मा के साथ नहीं। अरु जो तुमने कहा था कि शंकरस्वामी के कथन किये अद्वैत मत को कौन खण्डन कर सकता है ? सो हे भव्य ! जब शंकर स्वामी का चरित्र ही असमंजस है, तो फिर उन के कहे हुए मत को किस प्रकार युक्तियुक्त समझा जा सकता है ?

पूर्वपक्षः—"पुरुष एवेदं" इत्यादि श्रुतियों से अद्वैत ही सिद्ध होता है।

तथा भ्रांति भी प्रमाणभूत अद्वैत से भिन्न ही माननी चाहिये, अन्यथा प्रमाण भूत अद्वैत अप्रमाण ही हो जावेगा। क्योंकि भ्रांति जब अद्वैत रूप हुई तब तो पुरुष का ही रूप हुई, फिर तो पुरुष भी भ्रान्तिवाला ही सिद्ध होगा। तब तो तत्त्व व्यवस्था कुछ भी सिद्ध न होगी। जेकर भ्रांति को भिन्न मानोगे, तब तो द्वैतापत्ति होवेगी, इस से अद्वैत मत की हानि हो जावेगी। जेकर स्तंभ का कुम्भादिकों से भेद मानना-इसी को भ्रांति कहोगे, तब तो निश्चय कर के सत्स्वरूप कुम्भादिक किसी जगे तो ज़रूर होंगे। क्योंकि अभ्रांति के बिना कदापि भ्रांति देखने में नहीं आती, जैसे पूर्व में जिस ने सच्चा सर्प नहीं देखा, तिस को रज्जु में सर्प की भ्रांति कदापि नहीं होती। यथा—

नादृष्टपूर्वसर्प्पस्य, रज्ज्वां सर्प्पमतिः क्वचित्।
ततः पूर्वानुसारित्वाद्भ्रांतिरभ्रांतिपूर्विका ॥

इस कहने से भी अद्वैततत्त्व का खंडन होगया। तथा अद्वैत रूप तत्त्व अवश्य करके दूसरे पुरुष को निवेदन करना होगा, अपने आप को नहीं। अपने में तो व्यामोह है नहीं। जे कर कहने वाले में व्यामोह होवे तब तो अद्वैत की प्रतिपत्ति कभी भी नहीं होवेगी।

पूर्वपक्षः—जब आत्मा को व्यामोह है, तब ही तो अद्वैत तत्त्व का उपदेश किया जाता है।

तथा भ्रांति भी प्रमाणभूत अद्वैत से भिन्न ही माननी चाहिये, अन्यथा प्रमाण भूत अद्वैत अप्रमाण ही हो जावेगा। क्योंकि भ्रांति जब अद्वैत रूप हुई तब तो पुरुष का ही रूप हुई, फिर तो पुरुष भी भ्रान्तिवाला ही सिद्ध होगा। तब तो तत्त्व व्यवस्था कुछ भी सिद्ध न होगी। जेकर भ्रांति को भिन्न मानोगे, तब तो द्वैतापत्ति होवेगी, इस से अद्वैत मत की हानि हो जावेगी। जेकर स्तंभ का कुम्भादिकों से भेद मानना—इसी को भ्रांति कहोगे, तब तो निश्चय कर के सत्स्वरूप कुम्भादिक किसी जगे तो ज़रूर होंगे। क्योंकि अभ्रांति के बिना कदापि भ्रांति देखने में नहीं आती, जैसे पूर्व में जिस ने सच्चा सर्प नहीं देखा, तिस को रज्जु में सर्प की भ्रांति कदापि नहीं होती। यथा—

नादृष्टपूर्वसर्प्पस्य, रज्ज्वां सर्प्पमतिः क्वचित् ।
ततः पूर्वानुसारित्वाद्भ्रांतिरभ्रांतिपूर्विका ॥

इस कहने से भी अद्वैततत्त्व का खंडन होगया। तथा अद्वैत रूप तत्त्व अवश्य करके दूसरे पुरुष को निवेदन करना होगा, अपने आप को नहीं। अपने में तो व्यामोह है नहीं। जे कर कहने वाले में व्यामोह होवे तब तो अद्वैत की प्रतिपत्ति कभी भी नहीं होवेगी।

पूर्वपक्षः—जब आत्मा को व्यामोह है, तब ही तो अद्वैत तत्त्व का उपदेश किया जाता है।

भेदज्ञान प्रत्ययों के निरालंबन पने की सिद्धि है।

उत्तरपक्ष:—ए कथन भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि परम ब्रह्म ही प्रथम सिद्ध नहीं है। जेकर कहो कि वो स्वतः सिद्ध है, तो यह कथन भी प्रामाणिक नहीं है क्योंकि जो स्वतः सिद्ध-प्रत्यक्ष से सिद्ध होवे तो फिर उस के विषे किसी का विवाद ही न रहे। इस से वो स्वतः सिद्ध तो है नहीं। तथा जेकर उस को परतः सिद्ध मानो तो उसकी परतः सिद्धि, क्या अनुमान से है, वा आगम से है?

पूर्वपक्ष:—उस की सिद्धि अनुमान और आगम दोनों से हो सकती है। उस में से अनुमान यह है:—विवादरूप जो पदार्थ है सो प्रतिभासांतःप्रविष्ट–ब्रह्मभास के अन्तर है, प्रतिभासमान होने से, जो जो प्रतिभासमान है, सो सो *प्रतिभासांतःप्रविष्ट ही देखा है, जैसे प्रतिभास का स्वरूप प्रतिभासमान है। विवाद रूप समस्त सचेतन, अचेतन घट पटादि पदार्थ प्रतिभासमान हैं, तिस कारण से प्रतिभासान्तः-प्रविष्ट हैं, इस अनुमान से अद्वैतरूप परमब्रह्म की सिद्धि हो जाती है‡।

---

* प्रतिभास के अन्तर्गत। प्रतिभास–प्रकाशस्वरूप ब्रह्म।

‡ ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः।

[स्या० मं० श्लो० १३.]

भेदज्ञान प्रत्ययों के निरालंबन पने की सिद्धि है।

उत्तरपक्षः—ए, कथन भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि परम ब्रह्म ही प्रथम सिद्ध नहीं है। जेकर कहो कि वो स्वतः सिद्ध है, तो यह कथन भी प्रामाणिक नहीं है क्योंकि जो स्वतः सिद्ध-प्रत्यक्ष से सिद्ध होवे तो फिर उस के विषे किसी का विवाद ही न रहे। इस से वो स्वतः सिद्ध तो है नहीं। तथा जेकर उस को परतः सिद्ध मानो तो उसकी परतः सिद्धि, क्या अनुमान से है, या आगम से है?

पूर्वपक्षः—उस की सिद्धि अनुमान और आगम दोनों से हो सकती है। उस में से अनुमान यह है:—विवादरूप जो पदार्थ है सो प्रतिभासांतःप्रविष्ट–ब्रह्मभास के अन्तर है, प्रतिभासमान होने से, जो जो प्रतिभासमान है, सो सो *प्रतिभासांतःप्रविष्ट ही देखा है, जैसे प्रतिभास का स्वरूप प्रतिभासमान है। विवाद रूप समस्त सचेतन, अचेतन घट पटादि पदार्थ प्रतिभासमान हैं, तिस कारण से प्रतिभासान्तः-प्रविष्ट हैं, इस अनुमान से अद्वैतरूप परमब्रह्म की सिद्धि हो जाती है‡।

* प्रतिभास के अन्तर्गत। प्रतिभास–प्रकाशस्वरूप ब्रह्म।

‡ ग्रामारामादयः पदार्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभासमानत्वात्, यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्। प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादयः पदार्थाः, तस्मात् प्रतिभासान्तः प्रविष्टाः।

[स्या० मं० लो० १३.]

अविद्या हेतु, और दृष्टांत आदिका भेद कैसे दिखा सकेगी? जेकर कहोगे प्रतिभास के बाहिर है, तब तो हम पूछेंगे कि वो अविद्या, प्रतिभासमान है? वा अप्रतिभासमान? जेकर कहोगे प्रतिभासमान है, तो तिसहीके साथ प्रतिभासमान हेतु व्यभिचारी है। तथा प्रतिभासके बाहिर होनेसे जेकर तुमारे मनमें ऐसा होवे कि अविद्या जो है, सो न तो प्रतिभासमान है, न अप्रतिभासमान; तथा न प्रतिभास के बाहिर, न प्रतिभासके अन्दर प्रविष्ट है; न एक है, न अनेक है; न नित्य है, न अनित्य है; न व्यभिचारिणी है, न अव्यभिचारिणी; सर्वथा विचार के योग्य नहीं—सकल विचारांतर अतिक्रांत स्वरूप है। रूपांतर के अभाव से अविद्या जो है, सो "नीरूपता" लक्षण वाली है। परन्तु यह भी तुमारी बड़ी भारी अज्ञानता है। क्योंकि ऐसी नीरूप स्वभाव वाली को—यह अविद्या है, यह अप्रतिभासमान है, ऐसे कौन कथन करने को समर्थ है? जेकर कहोगे यह प्रतिभासमान है, तो फिर यह अविद्या नीरूप क्योंकर सिद्ध होगी। जो वस्तु, जिस रूप करके प्रतिभासमान है, सो ही तिस का स्वरूप है। तथा अविद्या जो है सो विचार गोचर है, वा विचार के अगोचर है? जेकर कहोगे कि विचार गोचर है, तब तो नीरूप नहीं। जेकर विचार गोचर नहीं, तब तो तिसके मानने वाला महा मूर्ख है। तथा जब विद्या अविद्या दोनों ही प्रमाणसिद्ध हैं; तो फिर एक ही

अविद्या हेतु, और दृष्टांत आदिका भेद कैसे दिखा सकेगी ? जेकर कहोगे प्रतिभास के बाहिर है, तब तो हम पूछेंगे कि वो अविद्या, प्रतिभासमान है ? वा अप्रतिभासमान ? जेकर कहोगे प्रतिभासमान है, तो तिसहीके साथ प्रतिभासमान हेतु व्यभिचारी है । तथा प्रतिभासके बाहिर होनेसे जेकर तुमारे मनमें ऐसा होवे कि अविद्या जो है, सो न तो प्रतिभासमान है, न अप्रतिभासमान; तथा न प्रतिभास के बाहिर, न प्रतिभासके अन्दर प्रविष्ट है; न एक है, न अनेक है; न नित्य है, न अनित्य है; न व्यभिचारिणी है, न अव्यभिचारिणी; सर्वथा विचार के योग्य नहीं—सकल विचारांतर अतिक्रांत स्वरूप है । रूपांतर के अभाव से अविद्या जो है, सो "नीरूपता" लक्षण वाली है । परन्तु यह भी तुमारी बड़ी भारी अज्ञानता है । क्योंकि ऐसी नीरूप स्वभाव वाली को—यह अविद्या है, यह अप्रतिभासमान है, ऐसे कौन कथन करने को समर्थ है ? जेकर कहोगे यह प्रतिभासमान है, तो फिर यह अविद्या नीरूप क्योंकर सिद्ध होगी । जो वस्तु, जिस रूप करके प्रतिभासमान है, सो ही तिस का स्वरूप है । तथा अविद्या जो है सो विचार गोचर है, वा विचार के अगोचर है ? जेकर कहोगे कि विचार गोचर है, तब तो नीरूप नहीं । जेकर विचार गोचर नहीं, तब तो तिसके मानने वाला महा मूर्ख है । तथा जब विद्या अविद्या दोनों ही प्रमाणसिद्ध हैं; तो फिर एक ही

*कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः,
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडंबनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥
[अन्य० व्य०, श्लो० ६]

यह जो जगत् है, सो प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके लक्ष्यमाण—दिखाई देता है, इस चराचर रूप जगत् का कोई एक, जिस का स्वरूप कह नहीं सकते ऐसा पुरुषविशेष रचने वाला है । ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानने वाले

ईश्वर साधक अनुमान

वादी ऐसे अनुमान करते हैं—पृथिवी, पर्वत, वृक्षादिक सर्व बुद्धि वाले कर्त्ता के करे हुए हैं, कार्य होने से, जो जो कार्य है, सो सो सर्व बुद्धि वाले का करा हुआ है, जैसे घट, तैसे ही यह जगत् है, तिस कारण से यह जगत् बुद्धि वाले का रचा हुआ है । जो बुद्धिवाला है, सोही भगवान् ईश्वर है । यहां ऐसा मत कहना, कि यह तुमारा कार्यत्व हेतु असिद्ध है [अर्थात् पृथ्वी पर्वतादिक में कार्यत्व सिद्ध नहीं है]। पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिक अपने अपने कारण समूह करके उत्पन्न होते हैं, इस वास्ते कार्य रूप हैं । तथा अवयवी हैं,

---

* हे नाथ ! जिन के आप शासक नहीं हैं; उन की दुराग्रह से परिपूर्ण यह कल्पनाएं हैं कि जगत का कोई कर्त्ता है और वह एक, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र तथा नित्य है ।

*कर्त्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः,
स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः ।
इमाः कुहेवाकविडंबनाः स्यु-
स्तेषां न येषामनुशासकस्त्वम् ॥

[अन्य० व्य०, श्लो० ६]

यह जो जगत् है, सो प्रत्यक्षादि प्रमाणों करके लक्ष्यमाण—दिखाई देता है, इस चराचर रूप जगत् का कोई एक, जिस का स्वरूप कह नहीं सकते ऐसा पुरुषविशेष रचने वाला है । ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानने वाले वादी ऐसे अनुमान करते हैं—पृथिवी, पर्वत, वृक्षादिक सर्व बुद्धि वाले कर्त्ता के करे हुए हैं, कार्य होने से; जो जो कार्य है, सो सो सर्व बुद्धि वाले का करा हुआ है, जैसे घट, तैसे ही यह जगत् है, तिस कारण से यह जगत् बुद्धि वाले का रचा हुआ है । जो बुद्धिवाला है, सोही भगवान् ईश्वर है । यहां ऐसा मत कहना, कि यह तुमारा कार्यत्व हेतु असिद्ध है [अर्थात् पृथ्वी पर्वतादिक में कार्यत्व सिद्ध नहीं है] । पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिक अपने अपने कारण समूह करके उत्पन्न होते हैं, इस वास्ते कार्य रूप हैं । तथा अवयवी हैं,

ईश्वर साधक अनुमान

*हे नाथ ! जिन के आप शासक नहीं हैं; उन की दुराग्रह से परिपूर्ण यह कल्पनाएं हैं कि जगत का कोई कर्त्ता है और वह एक, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र तथा नित्य है ।

शत्रु भूत दूसरे साध्य को साधने वाले अनुमान के अभाव से।
तथा जेकर कहो कि ईश्वर, पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिकों का कर्त्ता नहीं है, अशरीरी होने से, मुक्त आत्मा की तरे। यह तुमारे अनुमान का वैरी अनुमान है, जो कि ईश्वर को जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होने देता। सो यह तुमारा कथन भी ठीक नहीं है; क्योंकि तुम ने तो ईश्वर को शरीर रहित सिद्ध करके जगत् का अकर्त्ता सिद्ध किया, परन्तु हमने तो ईश्वर शरीर वाला माना है इस कारण से, तुमारा अनुमान *असत्य

सम या सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। जैसे, "ह्रदो वह्निमान् धूमात्",–ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्"–तालाब अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है। तालाब वह्नि वाला नहीं क्योंकि जल वाला है। यहां पर धूम का जल प्रतिपक्षी है। परन्तु प्रकृत में साध्य के अभाव—अकर्तृकत्व को सिद्ध करने वाले कार्यत्व हेतु का विरोधी कोई दूसरा हेतु नहीं है इस लिये यह कार्यत्व हेतु प्रकरणसम भी नहीं है।

* इस का तात्पर्य यह है कि—शरीर रहित होने से ईश्वर, जगत का रचयिता नहीं हो सकता, मुक्त आत्मा की तरह। इस विरोधी अनुमान के द्वारा कार्यत्व हेतुका बाध होने से वह प्रकरणसम हेत्वाभास दूषित हो जाता है, यह वादीकी शंका है। परन्तु यह शंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता—इस वाक्य में धर्मी–पक्ष रूप से ग्रहण किये गए ईश्वर को हम अशरीरी-शरीर रहित नहीं मानते, 'अतः वादी का दिया हुआ 'शरीर रहित' हेतु पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्ध ह। और हमारा कार्यत्व हेतु अनेकान्त, विरोध और असिद्धि प्रभृति दोषों से अलिप्त अर्थात् निर्दोष है।

शत्रु भूत दूसरे साध्य को साधने वाले अनुमान के अभाव से। तथा लेकर कहो कि ईश्वर, पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादिकों का कर्ता नहीं है, अशरीरी होने से, मुक्त आत्मा की तरे। यह तुमारे अनुमान का वैरी अनुमान है, जो कि ईश्वर को जगत् का कर्ता सिद्ध नहीं होने देता। सो यह तुमारा कथन भी ठीक नहीं है: क्योंकि तुम ने तो ईश्वर को शरीर रहित सिद्ध करके जगत् का अकर्त्ता सिद्ध किया, परन्तु हमने तो ईश्वर शरीर वाला माना है इस कारण से, तुमारा अनुमान *असत्य

सम या सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। जैसे, "ह्रदो वह्निमान् धूमात्",—ह्रदो वह्न्यभाववान् जलात्"—तालाव अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है। तालाव वह्नि वाला नहीं क्योंकि जल वाला है। यहां पर धूम का जल प्रतिपक्षी है। परन्तु प्रकृत में साध्य के अभाव—अकर्तृकत्त्व को सिद्ध करने वाले कार्यत्त्व हेतु का विरोधी कोई दूसरा हेतु नहीं है इस लिये यह कार्यत्त्व हेतु प्रकरणसम भी नहीं है।

* इस का तात्पर्य यह है कि—शरीर रहित होने से ईश्वर, जगत का रचयिता नहीं हो सकता, मुक्त आत्मा की तरह। इस विरोधी अनुमान के द्वारा कार्यत्व हेतुका बाध होने से वह प्रकरणसम हेत्वाभास दूषित हो जाता है, यह वादीकी शंका है। परन्तु यह शंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं हो सकता—इस-वाक्य में धर्मी—पक्ष रूप से ग्रहण किये गए ईश्वर को हम अशरीरी-शरीर रहित नहीं मानते, 'अतः वादी का दिया हुआ 'शरीर रहित' हेतु पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्ध ह। और हमारा कार्यत्व हेतु अनेकान्त, विरोध और असिद्धि प्रभृति दोषों से अलिप्त अर्थात् निर्दोष है।

जेकर वह सर्वज्ञ न होवेगा तब तो सर्व कार्यों के उपादान कारण को कैसे जानेगा ? जब कार्यों के उपादान कारण को नहीं जानेगा, तब तो कारण के अनुरूप इस विचित्र जगत् की रचना कैसे कर सकेगा ? तथा 'स्ववश':—ईश्वर जो है, सो स्वतंत्र है; किसी दूसरे के अधीन नहीं। ईश्वर अपनी इच्छा से सर्व जीवों को सुख दुःख का फल देता है। यथा—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
अज्ञो जंतुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः ॥

अर्थः—ईश्वर ही की प्रेरणा से यह जगत्वासी जीव स्वर्ग तथा नरक में जाता है, क्योंकि ईश्वर के बिना यह अज्ञ जीव अपने आप सुख दुःख का फल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है। जेकर ईश्वर को भी परतंत्र—पराधीन मानिये, तब तो मुख्य कर्त्ता ईश्वर कभी नहीं रहेगा। * अपर को अपर के अधीन मानने से अनवस्था दूषण लगेगा। इस हेतु से ईश्वर अपने ही वश अर्थात् स्वतंत्र है, किन्तु पराधीन नहीं। तथा, 'नित्य':—सो ईश्वर नित्य है। जेकर ईश्वर अनित्य होवे तो तिस के उत्पन्न करने वाला भी कोई और चाहिये, सो तो है नहीं, इस हेतु से ईश्वर नित्य ही है। पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त ईश्वर इस जगत् का कर्त्ता है। इस

---

* एक ईश्वर को दूसरे ईश्वर के अधीन और दूसरे को तीसरे के अधीन मानने से।

जेकर वह सर्वज्ञ न होवेगा तब तो सर्व कार्यों के उपादान कारण को कैसे जानेगा ? जब कार्यों के उपादान कारण को नहीं जानेगा, तब तो कारण के अनुरूप इस विचित्र जगत् की रचना कैसे कर सकेगा ? तथा 'स्ववश':—ईश्वर जो है, सो स्वतंत्र है; किसी दूसरे के अधीन नहीं। ईश्वर अपनी इच्छा से सर्व जीवों को सुख दुःख का फल देता है। यथा—

ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।
अज्ञो जंतुरनीशोऽय–मात्मनः सुखदुःखयोः ॥

अर्थः—ईश्वर ही की प्रेरणा से यह जगत्वासी जीव स्वर्ग तथा नरक में जाता है, क्योंकि ईश्वर के बिना यह अज्ञ जीव अपने आप सुख दुःख का फल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है । जेकर ईश्वर को भी परतंत्र—पराधीन मानिये, तब तो मुख्य कर्त्ता ईश्वर कभी नहीं रहेगा। * अपर को अपर के अधीन मानने से अनवस्था दूषण लगेगा । इस हेतु से ईश्वर अपने ही वश अर्थात् स्वतंत्र है, किन्तु पराधीन नहीं । तथा, 'नित्य':—सो ईश्वर नित्य है । जेकर ईश्वर अनित्य होवे तो तिस के उत्पन्न करने वाला भी कोई और चाहिये, सो तो है नहीं, इस हेतु से ईश्वर नित्य ही है। पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त ईश्वर इस जगत् का कर्त्ता है। इस

---

* एक ईश्वर को दूसरे ईश्वर के अधीन और दूसरे को तीसरे के अधीन मानने से ।

के विना ही अब भी उत्पन्न होते हुए तृण, वृक्ष, इन्द्रधनुष, अरु बादल प्रमुख कार्य देखने में आते हैं। [अर्थात् इन उक्त तृण अंकुरादि की उत्पत्ति में किसी दृश्य शरीर वाले ईश्वर का हाथ दिखाई नहीं देता] इस वास्ते जैसे 'शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात्' इस में प्रमेयत्व हेतु साधारण अनैकांतिक है, तैसे ही यह कार्यत्व हेतु भी * साधारण अनैकांतिक है।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे अर्थात् ईश्वर का शरीर तो है पर दिखाई नहीं देता। तब जो ईश्वर का शरीर दिखलाई नहीं देता, सो क्या ईश्वर के माहात्म्य करके दिखलाई नहीं देता? अथवा हमारे बुरे अदृष्ट का प्रभाव है? एतावता हमारे खोटे कर्म के प्रभाव से नहीं दिखलाई देता? जेकर प्रथम पक्ष ग्रहण करो कि ईश्वर के माहात्म्य से ईश्वर का शरीर नहीं दीखता। तो इस पक्ष में कोई

---

* जो हेतु विपक्ष में भी पाया जावे अर्थात् जहां पर साध्य न रहता हो वहां भी रह जावे, वह हेतु साधारण अनैकान्तिक या व्यभिचारी कहलाता है। जैसे—शब्द अनित्य है, प्रमेय—ज्ञान का विषय होने से—इस अनुमान में प्रमेय होना रूप हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि यह विपक्षभूत आकाश आदि नित्य पदार्थों में भी रहता है। इसी प्रकार कार्यत्व हेतु भी व्यभिचारी है। क्योंकि यह हेतु उन पदार्थों तृण, अंकुर आदि में भी रह जाता है जिन को ईश्वर के शरीर ने नहीं बनाया है। अतः इस हेतु से ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

के विना ही अब भी उत्पन्न होते हुए तृण, वृक्ष, इन्द्रधनुष, अरु बादल प्रमुख कार्य देखने में आते हैं। [अर्थात् इन उक्त तृण अंकुरादि की उत्पत्ति में किसी दृश्य शरीर वाले ईश्वर का हाथ दिखाई नहीं देता] इस वास्ते जैसे 'शब्दोऽनित्यः प्रमेयत्वात्' इस में प्रमेयत्व हेतु साधारण अनैकांतिक है, तैसे ही यह कार्यत्व हेतु भी * साधारण अनैकांतिक है।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे अर्थात् ईश्वर का शरीर तो है पर दिखाई नहीं देता। तब जो ईश्वर का शरीर दिखलाई नहीं देता, सो क्या ईश्वर के माहात्म्य करके दिखलाई नहीं देता? अथवा हमारे बुरे अदृष्ट का प्रभाव है? एतावता हमारे खोटे कर्म के प्रभाव से नहीं दिखलाई देता? जेकर प्रथम पक्ष ग्रहण करो कि ईश्वर के माहात्म्य से ईश्वर का शरीर नहीं दीखता। तो इस पक्ष में कोई

---

* जो हेतु विपक्ष में भी पाया जावे अर्थात् जहां पर साध्य न रहता हो वहां भी रह जावे, वह हेतु साधारण अनैकान्तिक या व्यभिचारी कहलाता है। जैसे—शब्द अनित्य है, प्रमेय—ज्ञान का विषय होने से—इस अनुमान में प्रमेय होना रूप हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि यह विपक्षभूत आकाश आदि नित्य पदार्थों में भी रहता है। इसी प्रकार कार्यत्व हेतु भी व्यभिचारी है। क्योंकि यह हेतु उन पदार्थों तृण, अंकुर आदि में भी रह जाता है जिन को ईश्वर के शरीर ने नहीं बनाया है। अतः इस हेतु से ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

धर्मी का एक देश, वृक्ष, बिजली, बादल, इंद्रधनुषादिकों का अब भी कोई बुद्धिमान् कर्त्ता नहीं दीख पड़ता है, इस वास्ते प्रत्यक्ष करके बाधित होने के पीछे तुम ने अपना हेतु कहा है, इस वास्ते तुमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट है। अंतः इस कार्यत्व हेतु से बुद्धिमान् ईश्वर जगत् का कर्त्ता कभी सिद्ध नहीं होता।

तथा दूसरी तरें जगत् कर्त्ता के खण्डन का स्वरूप लिखते हैं। जो कोई ईश्वरवादी यह कहते हैं, कि सब जगत् ईश्वर का रचा हुआ है, यह उनका कहना समीचीन नहीं है। काहेतें, कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिवादीः—ईश्वर को जगत् का कर्त्ता सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण है। तथाहि-जो ठहर ठहर करके अभिमत फल के संपादन करने में प्रवृत्त होवे, तिसका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् ज़रूर होना चाहिये। जैसे. वसोला, आरी प्रमुख शस्त्र, काष्ठ के दो टुकड़े करने में प्रवर्त्तते हैं। और तिन का अधिष्ठाता वढ़ई है; तैसे ही ठहर ठहर कर सब जगत् को सुख दुःखादिक जो फल मिलते हैं, तिनका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् ज़रूर होना चाहिये। तुम ने ऐसे न कहना कि वसोला, आरी प्रमुख काष्ठ के दो टुकड़े करने में आप ही प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि वो तो अचेतन हैं, आप ही कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे? जेकर कहो कि

धर्मी का एक देश, वृक्ष, विजली, वादल, इंद्रधनुषादिकों का अब भी कोई बुद्धिमान् कर्त्ता नहीं दीख पड़ता है, इस वास्ते प्रत्यक्ष करके वाधित होने के पीछे तुम ने अपना हेतु कहा है, इस वास्ते तुमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट है। अतः इस कार्यत्व हेतु से बुद्धिमान् ईश्वर जगत् का कर्त्ता कभी सिद्ध नहीं होता।

तथा दूसरी तरें जगत् कर्त्ता के खण्डन का स्वरूप लिखते हैं। जो कोई ईश्वरवादी यह कहते हैं, कि सब जगत् ईश्वर का रचा हुआ है, यह उनका कहना समीचीन नहीं है। काहेतें, कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है।

प्रतिवादीः—ईश्वर को जगत् का कर्त्ता सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण है। तथाहि-जो ठहर ठहर करके अभिमत फल के संपादन करने में प्रवृत्त होवे, तिसका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् ज़रूर होना चाहिये। जैसे वसोला, आरी प्रमुख शस्त्र, काष्ठ के दो टुकड़े करने में प्रवर्त्तते हैं। और तिन का अधिष्ठाता वढ़ई है; तैसे ही ठहर ठहर कर सव जगत् को सुख दुःखादिक जो फल मिलते हैं, तिनका अधिष्ठाता कोई बुद्धिमान् ज़रूर होना चाहिये। तुम ने ऐसे न कहना कि वसोला, आरी प्रमुख काष्ठ के दो टुकड़े करने में आप ही प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि वो तो अचेतन हैं, आप ही कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे? जेकर कहो कि

क्योंकि जब कोई पुण्यवान् राजा राज करता है, तो उसके राज में सुकाल, निरुपद्रव आदि के कारण जो सुख होता है; वो उस राजा के शुभ कर्म का प्रभाव है। इस कारण से जो* ठहर ठहर जीवों को फल देते हैं, सो कर्म हैं। कर्म जो हैं सो जीवों के आश्रय हैं, अरु जीव जो हैं सो चेतन होने से बुद्धि वाले हैं। तब तो बुद्धि वाले के अधीन हो कर कर्म ठहर ठहर कर फल देते हैं। इस कारण से सिद्ध-साधन दूषण है। जेकर कहोगे कि पूर्वोक्त अनुमान से हम तो विशिष्ट बुद्धि वाला एक ईश्वर ही सिद्ध करते हैं; सामान्य बुद्धि वाले जीवों को सिद्ध नहीं करते। तब तो तुमारा दृष्टांत साध्यविकल है। क्योंकि वसोला, आरो प्रमुख में ईश्वर से अधिष्ठित व्यापार की उपलब्धि नहीं होती, किंतु वढ़ई और कुंभकारादिकों का व्यापार तहां तहां ही †अन्वय-व्यतिरेक करके उपलब्ध होता है।

प्रतिवादीः—वर्धकि-वढ़ई आदि भी ईश्वर ही की प्रेरणा से तिस तिस काम में प्रवृत्त होते हैं, इस वास्ते हमारा दृष्टांत साध्यविकल नहीं है।

---

* समयानुसार, यथा समय।

† 'अन्वय'—जिस के होने पर जो होवे, जैसे धूम के होने पर अग्नि का होना। 'व्यतिरेक'—जिस के अभाव में जो न होवे, जैसे अग्नि के अभाव में धूम का न होना। इन दोनों नियमों से व्याप्ति का निर्णय होता है।

क्योंकि जब कोई पुण्यवान् राजा राज करता है, तो उसके राज में सुकाल, निरुपद्रव आदि के कारण जो सुख होता है; वो उस राजा के शुभ कर्म का प्रभाव है। इस कारण से जो* ठहर ठहर जीवों को फल देते हैं, सो कर्म हैं। कर्म जो हैं सो जीवों के आश्रय हैं, अरु जीव जो हैं सो चेतन होने से बुद्धि वाले हैं। तब तो बुद्धि वाले के अधीन हो कर कर्म ठहर ठहर कर फल देते हैं। इस कारण से सिद्ध-साधन दूषण है। जेकर कहोगे कि पूर्वोक्त अनुमान से हम तो विशिष्ट बुद्धि वाला एक ईश्वर ही सिद्ध करते हैं; सामान्य बुद्धि वाले जीवों को सिद्ध नहीं करते। तब तो तुमारा दृष्टांत साध्यविकल है। क्योंकि वसोला, आरो प्रमुख में ईश्वर से अधिष्ठित व्यापार की उपलब्धि नहीं होती, किंतु वढ़ई और कुंभकारादिकों का व्यापार तहां तहां ही †अन्वय-व्यतिरेक करके उपलब्ध होता है।

प्रतिवादीः—वर्धकि-वढ़ई आदि भी ईश्वर ही की प्रेरणा से तिस तिस काम में प्रवृत्त होते हैं, इस वास्ते हमारा दृष्टांत साध्यविकल नहीं है।

---

* समयानुसार, यथा समय।

† 'अन्वय'—जिस के होने पर जो होवे, जैसे धूम के होने पर अग्नि का होना। 'व्यतिरेक'—जिस के अभाव में जो न होवे, जैसे अग्नि के अभाव में धूम का न होना। इन दोनों नियमों से व्याप्ति का निर्णय होता है।

सब जीवों को सत् व्यवहार ही में प्रवृत्त करते हैं, असत् व्यवहार में नहीं। परन्तु ईश्वर तो असत् व्यवहारों में भी जीवों को प्रवृत्त करता है, इस वास्ते आप का ईश्वर सर्वज्ञ और वीतराग नहीं हो सकता।

प्रतिवादीः—ईश्वर तो सर्व जीवों को शुभ कर्म करने में ही प्रवृत्त करता है, इस वास्ते वह सर्वज्ञ और वीतराग ही है। तथा जो जीव अधर्म करने वाले हैं, उन को असत् व्यवहार में प्रवृत्त कर, पीछे नरकपात आदि फल देता है। जिस से कि फिर वो जीव इस नरकपात आदि दुःख से डरता हुआ पाप न करे। इस वास्ते उचित फल देने से ईश्वर विवेकवान् अरु वीतराग तथा सर्वज्ञ है। उस में कोई भी दूषण नहीं है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना विचार युक्त नहीं है। क्योंकि प्रथम जीव को पाप करने में भी तो ईश्वर ही प्रवृत्त करता है। ईश्वर के विना दूसरा तो कोई प्रेरक है नहीं। अरु जीव आप तो कुछ कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अज्ञानी है। तो फिर प्रथम पाप करने में जीवों को प्रवृत्त करना, पीछे उन को नरक में डाल कर, उस पाप का फल भुगताना, तदनन्तर उन को धर्म में प्रवृत्त करना—क्या यही ईश्वर की ईश्वरता अरु विचारपूर्वक काम करना है?

प्रतिवादीः—ईश्वर तो जीवों को भले बुरे काम में

सब जीवों को सत् व्यवहार ही में प्रवृत्त करते हैं, असत् व्यवहार में नहीं। परन्तु ईश्वर तो असत् व्यवहारों में भी जीवों को प्रवृत्त करता है, इस वास्ते आप का ईश्वर सर्वज्ञ और वीतराग नहीं हो सकता।

प्रतिवादीः—ईश्वर तो सर्व जीवों को शुभ कर्म करने में ही प्रवृत्त करता है, इस वास्ते वह सर्वज्ञ और वीतराग ही है। तथा जो जीव अधर्म करने वाले हैं, उन को असत् व्यवहार में प्रवृत्त कर, पीछे नरकपात आदि फल देता है। जिस से कि फिर वो जीव इस नरकपात आदि दुःख से डरता हुआ पाप न करे। इस वास्ते उचित फल देने से ईश्वर विवेकवान् अरु वीतराग तथा सर्वज्ञ है। उस में कोई भी दूषण नहीं है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना विचार युक्त नहीं है। क्योंकि प्रथम जीव को पाप करने में भी तो ईश्वर ही प्रवृत्त करता है। ईश्वर के विना दूसरा तो कोई प्रेरक है नहीं। अरु जीव आप तो कुछ कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह अज्ञानी है। तो फिर प्रथम पाप करने में जीवों को प्रवृत्त करना, पीछे उन को नरक में डाल कर, उस पाप का फल भुगताना, तदनन्तर उन को धर्म में प्रवृत्त करना—क्या यही ईश्वर की ईश्वरता अरु विचारपूर्वक काम करना है?

प्रतिवादीः—ईश्वर तो जीवों को भले बुरे काम में

शक्तिमान् हैं । तथा जेकर कहो कि जीव पाप भी आप ही करता है, अरु धर्म भी आप ही करता है । तो फिर फल भी वह आप ही भोग लेवेगा, इस के वास्ते ईश्वर कर्त्ता की कल्पना करना व्यर्थ है ।

प्रतिवादीः—धर्म अधर्म तो जीव आप ही करते हैं, परन्तु उन का फलप्रदान तो ईश्वर ही करता है । क्योंकि जीव जो हैं, सो अपने करे हुए धर्म अधर्म का फल आप भोगने को समर्थ नहीं हैं । जैसे चोर, चोरी तो आप ही करता है, परन्तु उस चोरी का फल जो बन्दीख़ाना—जेल ख़ाना है । उस में वोह आप हो नहीं चला जाता, किन्तु कोई दूसरा उसे वन्दीख़ाने में डालने वाला चाहिये ।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जब जीव धर्म, अधर्म करने में समर्थ है, तो फिर फल भोगने में समर्थ क्यों नहीं ? इस संसार में जीव जैसे जैसे पाप, वा धर्म करता है, तैसे तैसे पाप और धर्म के फल भोगने में वह निमित्त भी बन जाता है । जैसे चोर चोरी करता है, तिस का फल-दण्ड राजा देता है । कुष्ठ हो जाता है, शरीर में कीड़े पड़ जाते हैं, अग्नि में ल मरता है, पाणी में डूब मरता है, खड्ग से कट जाता है, तोप बंदूक की गोला गोली से मर जाता है, हाट, हवेली, और मट्टी के नीचे दब कर अनेक तरें के सङ्कट भोग कर मर जाता है, निर्धन हो जाता है, इत्यादि असंख्य निमित्तों से अपने करे कर्म के

शक्तिमान् हैं । तथा जेकर कहो कि जीव पाप भी आप ही करता है, अरु धर्म भी आप ही करता है । तो फिर फल भी वह आप ही भोग लेवेगा, इस के वास्ते ईश्वर कर्त्ता की कल्पना करना व्यर्थ है ।

प्रतिवादीः—धर्म अधर्म तो जीव आप ही करते हैं, परन्तु उन का फलप्रदान तो ईश्वर ही करता है । क्योंकि जीव जो हैं, सो अपने करे हुए धर्म अधर्म का फल आप भोगने को समर्थ नहीं हैं । जैसे चोर, चोरी तो आप ही करता है, परन्तु उस चोरी का फल जो वन्दीख़ाना—जेल ख़ाना है । उस में वोह आप हो नहीं चला जाता, किन्तु कोई दूसरा उसे वन्दीख़ाने में डालने वाला चाहिये ।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना असत् है, क्योंकि जब जीव धर्म, अधर्म करने में समर्थ है, तो फिर फल भोगने में समर्थ क्यों नहीं ? इस संसार में जीव जैसे जैसे पाप, वा धर्म करता है, तैसे तैसे पाप और धर्म के फल भोगने में वह निमित्त भी बन जाता है । जैसे चोर चोरी करता है, तिस का फल–दण्ड राजा देता है । कुष्ठ हो जाता है, शरीर में कीड़े पड़ जाते हैं, अग्नि में ल मरता है, पाणी में डूब मरता है, खड्ग से कट जाता है, तोप बंदूक की गोला गोली से मर जाता है, हाट, हवेली, और मट्टी के नीचे दब कर अनेक तरें के सङ्कट भोग कर मर जाता है, निर्धन हो जाता है, इत्यादि असंख्य निमित्तों से अपने करे कर्म के

तब मरने वाले ने जो सङ्कट पाया, सो किस के योग से ? किसकी प्रेरणा से ? जे कर कहोगे कि ईश्वरने उस शस्त्र वाले को प्रेरा, तब उस ने उस को मारा, तो फिर उस मारने वाले को फांसी क्यों मिलती है ? क्या ईश्वर का यही न्याय है ? जो कि प्रथम तो पुरुष के हाथ से उस को स्वयं मरवा डालना, अरु पीछे उस मारने वाले को फांसी देना, इस तुमारी समझ ने ईश्वर को बड़ा अन्यायी सिद्ध कर दिया है। जेकर कहो कि ईश्वर की प्रेरणा के बिना ही इस पुरुष ने दूसरे पुरुष को मारा, अरु दुःख दिया है; तब तो निमित्त ही से सुख दुःख का भोगना सिद्ध हो गया। फिर भी ईश्वर को ही फलदाता कल्पना करना, क्या यह अल्प बुद्धि वालों का काम नहीं है ? तथा हे ईश्वरवादी ! हम तुम को एक और बात पूछते हैं, कि जो धर्म का फल-स्वर्ग-लोक में उन्मत्त देवांगनाओं के सुकुमार शरीर का स्पर्श करना है, सो तो जीवों को सुख का कारण है। इस वास्ते ईश्वर ने यह फल उन जीवों को दिया। परन्तु घोर नरक के कुण्ड में पड़ना, नाना प्रकार के दुःख-संकट, त्रास, कुम्भी-पाक, चर्मउत्कर्त्तन, अग्नि में जलना, इत्यादि महा दुःख रूप जो अधर्म का फल है, वो उन जीवों को ईश्वर क्यों देता है ?

प्रतिवादी:—जीव ने पाप कर्म करे थे, उन का फल उस जीव को ज़रूर देना चाहिये, इस वास्ते ईश्वर फल देता है।

सिद्धान्ती:—इस तुमारे कहने से तो ईश्वर व्यर्थ ही

तब मरने वाले ने जो सङ्कट पाया, सो किस के योग से ? किसकी प्रेरणा से ? जे कर कहोगे कि ईश्वरने उस शस्त्र वाले को प्रेरा, तब उस ने उस को मारा, तो फिर उस मारने वाले को फांसी क्यों मिलती है ? क्या ईश्वर का यही न्याय है ? जो कि प्रथम तो पुरुष के हाथ से उस को स्वयं मरवा डालना, अरु पीछे उस मारने वाले को फांसी देना, इस तुमारी समझ ने ईश्वर को बड़ा अन्यायी सिद्ध कर दिया है। जेकर कहो कि ईश्वर की प्रेरणा के बिना ही उस पुरुष ने दूसरे पुरुष को मारा, अरु दुःख दिया है; तब तो निमित्त ही से सुख दुःख का भोगना सिद्ध हो गया। फिर भी ईश्वर को ही फलदाता कलपना करना, क्या यह अल्प बुद्धि वालों का काम नहीं है ? तथा हे ईश्वरवादी ! हम तुम को एक और बात पूछते हैं, कि जो धर्म का फल–स्वर्ग-लोक में उन्मत्त देवांगनाओं के सुकुमार शरीर का स्पर्श करना है, सो तो जीवों को सुख का कारण है। इस वास्ते ईश्वर ने यह फल उन जीवों को दिया। परन्तु घोर नरक के कुण्ड में पड़ना, नाना प्रकार के दुःख–संकट, त्रास, कुम्भी-पाक, चर्मउत्कर्त्तन, अग्नि में जलना, इत्यादि महा दुःख रूप जो अधर्म का फल है, वो उन जीवों को ईश्वर क्यों देता है ?

प्रतिवादी:—जीव ने पाप कर्म करे थे, उन का फल उस जीव को ज़रूर देना चाहिये, इस वास्ते ईश्वर फल देता है।

सिद्धान्ती:—इस तुमारे कहने से तो ईश्वर व्यर्थ ही

क्रीडा जो है, सो सरागी को होती है, अरु ईश्वर तो वीत-राग है, तो फिर ईश्वर का क्रीडारस में मग्न होना कैसे संभवे ?

प्रतिवादीः—हमारा ईश्वर जो है सो रागी द्वेषी है, इस कारण से उसमें क्रीडा करने का संभव हो सकता है।

सिद्धान्तीः—तब तो तुम ने अपना मुख धोने के बदले उलटा काला कर लिया। क्योंकि जो राग अरु द्वेष वाला होगा, वह हमारे सरीखा रागी ही होगा; किन्तु वीतराग नहीं होगा। तब तो वीतराग न होने से वोह ईश्वर तथा सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता। तो फिर उस को सृष्टि के रचने वाला क्यों कर माना जावे ?

प्रतिवादीः—हम तो ईश्वर को राग द्वेष संयुक्त और सर्वज्ञ मानते हैं, इस वास्ते सर्व जगत् का कर्त्ता है।

सिद्धान्तीः—इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। जिस से कि ईश्वर रागी, द्वेषी, अरु सर्वज्ञ सिद्ध होवे।

प्रतिवादीः—ईश्वर का स्वभाव ही ऐसा है, कि रागी द्वेषी भी होना, अरु सर्वज्ञ भी रहना। स्वभाव में कोई तर्क नहीं हो सकती। जैसे कोई प्रश्न करे कि अग्नि दाहक है, तद्वत् आकाश दाहक क्यों नहीं ? तो इसका यही उत्तर दिया जायगा कि अग्नि में दाह का स्वभाव है, आकाश में नहीं। इसी प्रकार ईश्वर भी स्वभाव से ही रागी, द्वेषी अरु सर्वज्ञ है।

क्रीडा जो है, सो सरागी को होती है, अरु ईश्वर तो वीत-राग है, तो फिर ईश्वर का क्रीडारस में मग्न होना कैसे संभवे ?

प्रतिवादीः—हमारा ईश्वर जो है सो रागी द्वेषी है, इस कारण से उसमें क्रीडा करने का संभव हो सकता है।

सिद्धान्तीः—तब तो तुम ने अपना मुख धोने के बदले उलटा काला कर लिया। क्योंकि जो राग अरु द्वेष वाला होगा, वह हमारे सरीखा रागी ही होगा; किन्तु वीतराग नहीं होगा। तब तो वीतराग न होने से वोह ईश्वर तथा सर्वज्ञ भी नहीं हो सकता। तो फिर उस को सृष्टि के रचने वाला क्यों कर माना जावे ?

प्रतिवादीः—हम तो ईश्वर को राग द्वेष संयुक्त और सर्वज्ञ मानते हैं, इस वास्ते सर्व जगत् का कर्त्ता है।

सिद्धान्तीः—इस तुमारे कहने में कोई भी प्रमाण नहीं है। जिस से कि ईश्वर रागी, द्वेषी, अरु सर्वज्ञ सिद्ध होवे।

प्रतिवादीः—ईश्वर का स्वभाव ही ऐसा है, कि रागी द्वेषी भी होना, अरु सर्वज्ञ भी रहना। स्वभाव में कोई तर्क नहीं हो सकती। जैसे कोई प्रश्न करे कि अग्नि दाहक है, तद्वत् आकाश दाहक क्यों नहीं ? तो इसका यही उत्तर दिया जायगा कि अग्नि में दाह का स्वभाव है, आकाश में नहीं। इसी प्रकार ईश्वर भी स्वभाव से ही रागी, द्वेषी अरु सर्वज्ञ है।

शास्त्र रचने वाले को तो ईश्वर कहने के बदले महा धूर्त्त कहना चाहिये । जेकर कहोगे कि ईश्वर ने तो सच्चे शास्त्र ही रचे हैं, झूठे नहीं रचे; झूठे तो जीवों ने आप ही बना लिये हैं। तब तो ईश्वर ने जगत् भी नहीं रचा होगा, जगत् भी जीवों ने ही रचा होगा; क्योंकि ईश्वर किसी प्रमाण से सब वस्तु का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता ।

तथा तुम ने जो पूर्व में दूसरा अनुमान करा था, कि जो जो आकार वाली वस्तु है, सो सर्व बुद्धि वाले की ही रची हुई है। जैसे पुराने कूवें को देखने से उसके बनाने वाले का निश्चय होता है । यद्यपि कारीगर तहां नहीं भी उपलब्ध होता, तो भी उसका कर्त्ता कोई कारीगर ही अनुमान से सिद्ध होगा, जैसे नवे कूवें का कर्त्ता अमुक कारीगर उपलब्ध होता है । सो यह भी तुमारा कहना समीचीन नहीं; क्योंकि बादल, सर्प की बांबी प्रमुख संस्थान वालों में आकारवत्त्व हेतु तो है, परंतु बुद्धि वाला कर्त्ता वहां पर कोई नहीं है । जेकर कहोगे कि बादल, इन्द्रधनुष, सर्प की बांबी प्रमुख संस्थान वाले किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं हैं। तब तो पृथिवी, पर्वत आदि भी किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं मानने चाहिये ।

इन पूर्वोक्त प्रमाणों से किसी तरें भी ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता। अब जो पुरुष ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं, उन से हम यह कहते हैं कि

शास्त्र रचने वाले को तो ईश्वर कहने के बदले महा धूर्त्त कहना चाहिये । जेकर कहोगे कि ईश्वर ने तो सच्चे शास्त्र ही रचे हैं, झूठे नहीं रचे; झूठे तो जीवों ने आप ही बना लिये हैं। तब तो ईश्वर ने जगत् भी नहीं रचा होगा, जगत् भी जीवों ने ही रचा होगा; क्योंकि ईश्वर किसी प्रमाण से सब वस्तु का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता ।

तथा तुम ने जो पूर्व में दूसरा अनुमान करा था, कि, जो जो आकार वाली वस्तु है, सो सर्व बुद्धि वाले की ही रची हुई है। जैसे पुराने कूवें को देखने से उसके बनाने वाले का निश्चय होता है । यद्यपि कारीगर तहां नहीं भी उपलब्ध होता, तो भी उसका कर्त्ता कोई कारीगर ही अनुमान से सिद्ध होगा, जैसे नवे कूवें का कर्त्ता अमुक कारीगर उपलब्ध होता है । सो यह भी तुमारा कहना समीचीन नहीं; क्योंकि बादल, सर्प की बांबी प्रमुख संस्थान वालों में आकारवत्त्व हेतु तो है, परंतु बुद्धि वाला कर्त्ता वहां पर कोई नहीं है । जेकर कहोगे कि बादल, इन्द्रधनुष, सर्प की बांबी प्रमुख संस्थान वाले किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं हैं। तब तो पृथिवी, पर्वत आदि भी किसी बुद्धिमान् के करे हुये नहीं मानने चाहिये ।

इन पूर्वोक्त प्रमाणों से किसी तरें भी ईश्वर जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता। अब जो पुरुष ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानते हैं, उन से हम यह कहते हैं कि

की बात है ? क्या तुमने ईश्वरों को कीड़ों से भी बुद्धिहीन, अभिमानी, अरु अज्ञानी बना दिया, जो कि उन सब का एक मता नहीं हो सकता ?

प्रतिवादीः—मक्षिका जो बहुत एकठी हो कर एक मधुछत्ता आदिक कार्य बनाती हैं। तहां भी एक ईश्वर ही के व्यापार से एक मधुछत्ता बनता है।

सिद्धान्तीः—तब तो घड़ा बनाना, चोरी करना, परस्त्री गमन करना, इत्यादिक सब काम ईश्वर के ही व्यापार से करे सिद्ध होंगे। अरु सर्व जीव अकर्त्ता सिद्ध हो जावेंगे। फिर पुण्य पाप का फल किस को होगा ? अरु नरक स्वर्ग में जीव क्यों भेजे जायेंगे ?

प्रतिवादीः—कुम्भारादिक चोरादिक सर्व जीव, स्वतंत्रता से अपना अपना कार्य करते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

सिद्धान्तीः—क्या मक्षिकाओं ही ने तुमारा कुछ अपराध करा है, जो उन को स्वतंत्र नहीं कहते हो ? तथा इस तुमारे एक ईश्वर मानने से तो ऐसा भी प्रतीत होता है; कि जेकर अनेक ईश्वर मानें जावेंगे तो, कदाचित् एक सृष्टि रचने में उनका विवाद हो जावे, तो उस विवाद को दूर कौन करेगा? क्योंकि सरपंच तो कोई है नहीं। तथा एक ईश्वर को देख के दूसरा ईश्वर ईर्ष्या करेगा, कि यह मेरे तुल्य क्यों है ? इत्यादिक अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जावेंगे। इस वास्ते ईश्वर एक ही मानना चाहिये, यह तुमारी समझ भी अज्ञान रूप

की बात है ? क्या तुमने ईश्वरों को कोड़ों से भी बुद्धिहीन, अभिमानी, अरु अज्ञानी बना दिया, जो कि उन सब का एक मता नहीं हो सकता ?

प्रतिवादीः—मक्षिका जो बहुत एकठी हो कर एक मधुछत्ता आदिक कार्य बनाती हैं। तहां भी एक ईश्वर ही के व्यापार से एक मधुछत्ता बनता है।

सिद्धान्तीः—तब तो घड़ा बनाना, चोरी करना, परस्त्री गमन करना, इत्यादिक सब काम ईश्वर के ही व्यापार से करे सिद्ध होंगे। अरु सर्व जीव अकर्त्ता सिद्ध हो जावेंगे। फिर पुण्य पाप का फल किस को होगा ? अरु नरक स्वर्ग में जीव क्यों भेजे जायेंगे ?

प्रतिवादीः—कुम्भारादिक चोरादिक सर्व जीव, स्वतंत्रता से अपना अपना कार्य करते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

सिद्धान्तीः—क्या मक्षिकाओं ही ने तुमारा कुछ अपराध करा है, जो उन को स्वतंत्र नहीं कहते हो ? तथा इस तुमारे एक ईश्वर मानने से तो ऐसा भी प्रतीत होता है; कि जेकर अनेक ईश्वर मानें जावेंगे तो, कदाचित् एक सृष्टि रचने में उनका विवाद हो जावे, तो उस विवाद को दूर कौन करेगा ? क्योंकि सरपंच तो कोई है नहीं। तथा एक ईश्वर को देख के दूसरा ईश्वर ईर्ष्या करेगा, कि यह मेरे तुल्य क्यों है ? इत्यादिक अनेक उपद्रव उत्पन्न हो जावेंगे। इस वास्ते ईश्वर एक ही मानना चाहिये, यह तुमारी समझ भी अज्ञान रूप

प्रश्नः—वो कौन से मत हैं, जिनों ने शरीरधारी ईश्वर माना है ?

उत्तरः—तौरेत नामा ग्रन्थ में ऐसे लिखा है, कि ईश्वर ने इबराहीम के यहां रोटी खाई, तथा याकूब के साथ कुस्ती करी। इस लिखने से प्रतीत होता है कि ईश्वर देहधारी है। तथा शंकरदिग्विजय के दूसरे प्रकरण में शंकर स्वामी का शिष्य आनंदगिरि लिखता है कि जब नारद जी ने देखा, कि इस लोक में बहुत कपोलकल्पित मत उत्पन्न हो गये हैं, अरु सनातन धर्म लुप्त हो गया है; तब तो नारद जी शीघ्र ही ब्रह्मा जी के पास पहुंचे, अरु जाकर कहने लगे कि हे पिता जी ! तुमारा मत तो प्रायः नहीं रहा; अरु लोगों ने अनेक मत बना लिये हैं। सो इस बातका कुछ उपाय करना चाहिये। तब तो ब्रह्मा जी बहुत काल तांई चिन्तन करके पुत्र, मित्र, भक्त जनों को साथ लेकर अपने लोक से चल कर शिव लोक में पहुंचे। आगे क्या देखते हैं कि जैसे मध्याह्न में कोटि सूर्यों के समान तेज वाला तथा कोटि चन्द्रमा के समान शीतल, और पांच जिस के मुख हैं, चन्द्रमा जिस के मुकुट में है, बिजलीवत् पिंगल जटा का धारक, और पार्वती जिस के वाम अङ्ग में है, ऐसा सर्व का ईश्वर महादेव विराजमान है। ब्रह्मा जी नमस्कार करके उस की स्तुति करने लगे, यथा—हे महादेव, सर्वज्ञ, सर्वलोकेश, सर्वसाक्षी, सर्वमय, सर्वकारण; इत्यादि। इस लिखने से प्रगट प्रतीत होता है कि ईश्वर

प्रश्नः—वो कौन से मत हैं, जिनों ने शरीरधारी ईश्वर माना है ?

उत्तरः—तौरेत नामा ग्रन्थ में ऐसे लिखा है, कि ईश्वर ने इवराहीम के यहां रोटी खाई, तथा याकूब के साथ कुस्ती करी। इस लिखने से प्रतीत होता है कि ईश्वर देहधारी है। तथा शंकरदिग्विजय के दूसरे प्रकरण में शंकर स्वामी का शिष्य आनंदगिरि लिखता है कि जब नारद जी ने देखा, कि इस लोक में बहुत कपोलकल्पित मत उत्पन्न हो गये हैं, अरु सनातन धर्म लुप्त हो गया है; तब तो नारद जी शीघ्र ही ब्रह्मा जी के पास पहुंचे, अरु जाकर कहने लगे कि हे पिता जी! तुमारा मत तो प्रायः नहीं रहा; अरु लोगों ने अनेक मत बना लिये हैं। सो इस वातका कुछ उपाय करना चाहिये। तब तो ब्रह्मा जी बहुत काल तांई चिन्तन करके पुत्र, मित्र, भक्त जनों को साथ लेकर अपने लोक से चल कर शिव लोक में पहुंचे। आगे क्या देखते हैं कि जैसे मध्याह्न में कोटि सूर्यों के समान तेज वाला तथा कोटि चन्द्रमा के समान शीतल, और पांच जिस के मुख हैं, चन्द्रमा जिस के मुकुट में है, विजलीवत् पिंगल जटा का धारक, और पार्वती जिस के वाम अङ्ग में है, ऐसा सर्व का ईश्वर महादेव विराजमान है। ब्रह्मा जी नमस्कार करके उस की स्तुति करने लगे, यथा— हे महादेव, सर्वेश, सर्वलोकेश, सर्वसाक्षी, सर्वमय, सर्वकारण; इत्यादि। इस लिखने से प्रगट प्रतीत होता है कि ईश्वर

तरों में उपार्जित जो जो तुमारे शुभाशुभ कर्म हैं, तिनों के अनुसार तुम को ईश्वर फल देता है, तो फिर तुमारे कहने ही से ईश्वर के स्वतंत्रपने को जलांजलि दी गई। क्योंकि जब हमारे कर्मों के बिना ईश्वर फल नहीं दे सकता, तब तो ईश्वर के कुछ अधीन नहीं है। जैसे हमारे कर्म होंगे, तैसा हम को फल मिलेगा। जेकर कहो कि ईश्वर जो इच्छे, सो करे, तब तो कौन जानता है कि ईश्वर क्या करेगा? क्या धर्मियों को नरक में और पापियों को स्वर्ग में भेजेगा? जेकर कहो कि परमेश्वर न्यायी है। जो जैसा करेगा, उस को वैसा ही वोह फल देता है। तो फिर वोही परतंत्रता रूप दूषण ईश्वर में आ लगेगा।

नित्यता का प्रतिवाद

तथा—ईश्वर नित्य है, यह कहना भी अपने घर ही में सुन्दर लगता है। क्योंकि नित्य तो उस वस्तु को कहते हैं, जो तीनों कालों में एक रूप रहे, अब ईश्वर नित्य है, तो क्या उस में जगत् को बनाने वाला स्वभाव है वा नहीं? जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव है, तब तो ईश्वर निरंतर जगत् को रचा ही करेगा, कदापि रचने से बन्द न होगा, क्योंकि ईश्वर में जगत् के रचने का स्वभाव नित्य है। जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव नहीं है, तब तो ईश्वर जगत् को कदापि न रच सकेगा। क्योंकि जगत् रचने का स्वभाव ईश्वर में है ही नहीं।

तरों में उपार्जित जो जो तुमारे शुभाशुभ कर्म हैं, तिनों के अनुसार तुम को ईश्वर फल देता है, तो फिर तुमारे कहने ही से ईश्वर के स्वतंत्रपने को जलांजलि दी गई। क्योंकि जब हमारे कर्मों के विना ईश्वर फल नहीं दे सकता, तब तो ईश्वर के कुछ अधीन नहीं है। जैसे हमारे कर्म होंगे, तैसा हम को फल मिलेगा। जेकर कहो कि ईश्वर जो इच्छे, सो करे, तब तो कौन जानता है कि ईश्वर क्या करेगा? क्या धर्मियों को नरक में और पापियों को स्वर्ग में भेजेगा? जेकर कहो कि परमेश्वर न्यायी है। जो जैसा करेगा, उस को वैसा ही वोह फल देता है। तो फिर वोही परतंत्रता रूप दूषण ईश्वर में आ लगेगा।

नित्यता का प्रतिवाद

तथा—ईश्वर नित्य है, यह कहना भी अपने घर ही में सुन्दर लगता है। क्योंकि नित्य तो उस वस्तु को कहते हैं, जो तीनों कालों में एक रूप रहे, जब ईश्वर नित्य है, तो क्या उस में जगत् को बनाने वाला स्वभाव है वा नहीं? जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव है, तब तो ईश्वर निरंतर जगत् को रचता ही करेगा, कदापि रचने से बन्द न होगा, क्योंकि ईश्वर में जगत् के रचने का स्वभाव नित्य है। जेकर कहोगे कि ईश्वर में जगत् रचने का स्वभाव नहीं है, तब तो ईश्वर जगत् को कदापि न रच सकेगा। क्योंकि जगत् रचने का स्वभाव ईश्वर में है ही नहीं।

को अनित्य कहोगे तब तो ईश्वर भी अनित्य हो जावेगा, क्योंकि ईश्वर का अपनी शक्तियों से अभेद है। जेकर कहोगे कि शक्तियां ईश्वर से भेदरूप हैं, तब भी शक्तियों के नित्य होने से जगत् की रचना और प्रलय नहीं बनेगी। तथा ईश्वर भी अकिंचित्कर सिद्ध हो जावेगा। क्योंकि जब ईश्वर सर्व शक्तियों से रहित है तब तो वह कुछ भी करने को समर्थ नहीं है, फिर जगत् रचने में क्यों कर समर्थ हो सकेगा ? तथा शक्तियों का उपादान कारण कौन होवेगा ? इस से तो ईश्वर की ईश्वरता का ही अभाव हो जावेगा। क्योंकि जब ईश्वर में कोई शक्ति ही नहीं, तब ईश्वर काहे का ? वो तो आकाश के फूल के समान असत् हो जाता है, तो फिर इस जगत् का कर्त्ता किस को मानोगे ?

अब आगे *खरडज्ञानियों का ईश्वरवाद लिखते हैं:-

खरडज्ञानियों से ईश्वर चर्चा

प्रतिवादीः—जगत् में जितने पदार्थ हैं, उनके विलक्षण विलक्षण संजोग, आकृति, तथा गुण और स्वभाव दीख पड़ते हैं। जेकर इनका तथा इन के नियमों का कर्त्ता कोई न होगा, तो ये नियम कभी न बनेंगे; क्योंकि जड पदार्थों में तो मिलने वा जुदे होने की यथावत् सामर्थ्य

* यह पंजाबी भाषा का शब्द है। इस का अर्थ अर्द्धविदग्ध-इधर उधर की दो चार बातें सुन सुना कर अपने आप को पंडित मानने वाला होता है।

को अनित्य कहोगे तब तो ईश्वर भी अनित्य हो जावेगा, क्योंकि ईश्वरका अपनी शक्तियों से अभेद है। जेकर कहोगे कि शक्तियांईश्वरसे भेदरूप हैं, तब भी शक्तियों के नित्य होने से जगत् की रचना और प्रलय नहीं बनेगी। तथा ईश्वर भी अकिंचित्कर सिद्ध हो जावेगा। क्योंकि जब ईश्वर सर्व शक्तियों से रहित है तब तो वह कुछ भी करने को समर्थ नहीं है, फिर जगत् रचने में क्यों कर समर्थ हो सकेगा? तथा शक्तियों का उपादान कारण कौन होवेगा? इस से तो ईश्वर की ईश्वरता का ही अभाव हो जावेगा। क्योंकि जब ईश्वर में कोई शक्ति ही नहीं, तब ईश्वर काहे का? वो तो आकाश के फूल के समान असत् हो जाता है, तो फिर इस जगत् का कर्त्ता किस को मानोगे?

अब आगे *खरडज्ञानियों का ईश्वरवाद लिखते हैं:-

खरडज्ञानियों से ईश्वर चर्चा

प्रतिवादी:—जगत् में जितने पदार्थ हैं, उनके विलक्षण विलक्षण संजोग, आकृति, तथा गुण और स्वभाव दीख पड़ते हैं। जेकर इनका तथा इन के नियमों का कर्त्ता कोई न होगा, तो ये नियम कभी न बनेंगे; क्योंकि जड पदार्थों में तो मिलने वा जुदे होने की यथावत् सामर्थ्य

* यह पंजाबी भाषा का शब्द है। इस का अर्थ अर्द्धविदग्ध-इधर उधर की दो चार बातें सुन सुना कर अपने आप को पंडित मानने वाला होता है।

है, क्योंकि जो जो वस्तु का स्वभाव है, सो सो सर्व अनादि काल से है। जेकर वस्तु में अपना अपना स्वभाव न होवेगा, तब तो कोई भी वस्तु सद्रूप न रहेगी; किंतु सर्व वस्तु शशशृंगवत् असत् हो जायगी। अरु जो पृथिवी, आकाश, सूर्य, चंद्रमा, आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं; सो इसी तरें अनादि रूप से सिद्ध हैं। अरु पृथवी पर जो जो रचना दीखती है, सो सब प्रवाह से ऐसे ही चली आती है; अरु जो जो जगत्के नियम हैं, वे सर्व इन उक्त पांचों निमित्तों के विना नहीं हो सकते। इस वास्ते सर्व पदार्थ अपने अपने नियम में हैं। जेकर तुम द्रव्य की शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो हमारी कुछ हानि नहीं; क्यों कि हम द्रव्य की अनादि शक्ति का ही नाम ईश्वर रख लेवेंगे। अरु यदि तुम द्रव्य की अनादि शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो तुमारा हमारा विवाद ही दूर हो जावेगा। तथा तुम ने जो यह कहा है कि जड में यथावत् मिलने की शक्ति नहीं है, सो तुमारा यह कहना भी मिथ्या है; क्यों कि जगत् में अनेक तरें के जड पदार्थ अपने आप ही इन पूर्वोक्त पांच निमित्तों से आपस में मिल जाते हैं। जैसे सूर्य की किरणें जब बादलों में पड़ती हैं, तब इन्द्रधनुष बन जाता है। तथा संध्या, पांच वर्ण के बादलों की बनी हुई घटा, चन्द्रमा और सूर्य के गिरद कुण्डल, आकाश में पवनों के मिलने से जल, और अग्नि आदि पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। तथा

है, क्योंकि जो जो वस्तु का स्वभाव है, सो सो सर्व अनादि काल से है । जेकर वस्तु में अपना अपना स्वभाव न होवेगा, तब तो कोई भी वस्तु सद्रूप न रहेगी; किंतु सर्व वस्तु शशशृंगवत् असत् हो जायगी। अरु जो पृथिवी, आकाश, सूर्य, चंद्रमा, आदि पदार्थ प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं; सो इसी तरें अनादि रूप से सिद्ध हैं। अरु पृथवी पर जो जो रचना दीखती है, सो सब प्रवाह से ऐसे ही चली आती है; अरु जो जो जगत् के नियम हैं, वे सर्व इन उक्त पांचों निमित्तों के बिना नहीं हो सकते । इस वास्ते सर्व पदार्थ अपने अपने नियम में हैं। जेकर तुम द्रव्य की शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो हमारी कुछ हानि नहीं; क्यों कि हम द्रव्य की अनादि शक्ति का ही नाम ईश्वर रख लेवेंगे। अरु यदि तुम द्रव्य की अनादि शक्ति को ईश्वर मान लोगे, तब तो तुमारा हमारा विवाद ही दूर हो जावेगा। तथा तुम ने जो यह कहा है कि जड़ में यथावत् मिलने की शक्ति नहीं है, सो तुमारा यह कहना भी मिथ्या है; क्यों कि जगत् में अनेक तरें के जड़ पदार्थ अपने आप ही इन पूर्वोक्त पांच निमित्तों से आपस में मिल जाते हैं । जैसे सूर्य की किरणें जब बादलों में पड़ती हैं, तब इन्द्रधनुष बन जाता है। तथा संध्या, पांच वर्ण के बादलों की बनी हुई घटा, चन्द्रमा और सूर्य के गिरद कुण्डल, आकाश में पवनों के मिलने से जल, और अग्नि आदि पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं। तथा

है, तो पूर्वोक्त तुमारा कहना अयुक्त है; क्योंकि हम तो यह कहते हैं, कि पृथिवी आदिक अनादि हैं—किसी ने बनाये नहीं और तुम कहते हो कि आकाश में दस कोस के अन्तर में दूसरी पृथिवी क्यों नहीं बन जाती ? अब तुम ही विचारो कि तुमारा यह प्रश्न मूर्खताई का है, वा बुद्धिमानी का ? तथा इस प्रश्न के उत्तर में जो कोई तुम से पूछे, कि ईश्वर यदि स्वभाव से बना होवे, तो ईश्वर से अलग दूसरा ईश्वर क्यों नहीं उत्पन्न होता ? जे कर कहो कि ईश्वर तो अनादि है, वो क्योंकर नया दूसरा ईश्वर बन जावे ? तो इस तरह हम भी कह सकते हैं कि पृथिवी अनादि है, नवीन नहीं बनती । तो फिर दस कोस के अन्तरे आकाश में क्योंकर बन जावे ?

प्रतिवादीः—जे कर आप से आप ही वस्तु बनती होवे, तो सर्व परमाणु एकठे क्यों नहीं मिल जाते ? अथवा एक एक होकर बिखर क्यों नहीं जाते ?

सिद्धान्तीः—ये जड परमाणु हमारी ही आज्ञा में नहीं चलते, जिस से कि हमारे कहे से एकठे होकर एक रूप हो जावें, अथवा एक एक होकर बिखर जावें । किन्तु पूर्वोक्त पांच निमित्त जहां पर मिलने के होंगे, तहां मिल जावेंगे, और जहां पर बिखरने के होंगे तहां बिखर जावेंगे अर्थात् नहीं मिलेंगे ।

प्रतिवादीः—सर्व परमाणुओं के एकत्र मिलने के पांच निमित्त क्यों नहीं मिलते ?

है, तो पूर्वोक्त तुमारा कहना अयुक्त है; क्योंकि हम तो यह कहते हैं, कि पृथिवी आदिक अनादि हैं—किसी ने बनाये नहीं और तुम कहते हो कि आकाश में दस कोस के अन्तर में दूसरी पृथिवी क्यों नहीं बन जाती ? अब तुम ही विचारो कि तुमारा यह प्रश्न मूर्खताई का है, वा बुद्धिमानी का ? तथा इस प्रश्न के उत्तर में जो कोई तुम से पूछे, कि ईश्वर यदि स्वभाव से बना होवे, तो ईश्वर से अलग दूसरा ईश्वर क्यों नहीं उत्पन्न होता ? जे कर कहो कि ईश्वर तो अनादि है, वो क्योंकर नया दूसरा ईश्वर बन जावे ? तो इस तरह हम भी कह सकते हैं कि पृथिवी अनादि है, नवीन नहीं बनती । तो फिर दस कोस के अन्तरे आकाश में क्योंकर बन जावे ?

प्रतिवादीः—जे कर आप से आप ही वस्तु बनती होवे, तो सर्व परमाणु एकठे क्यों नहीं मिल जाते ? अथवा एक एक होकर बिखर क्यों नहीं जाते ?

सिद्धान्तीः—ये जड परमाणु हमारी ही आज्ञा में नहीं चलते, जिस से कि हमारे कहे से एकठे होकर एक रूप हो जावें, अथवा एक एक होकर बिखर जावें । किन्तु पूर्वोक्त पांच निमित्त जहां पर मिलने के होंगे, तहां मिल जावेंगे, और जहां पर बिखरने के होंगे तहां बिखर जावेंगे अर्थात् नहीं मिलेंगे ।

प्रतिवादीः—सर्व परमाणुओं के एकत्र मिलने के पांच निमित्त क्यों नहीं मिलते ?

उत्तर दिया। क्या तुमारे इस उत्तर को सुन कर विद्वान् लोग तुमारा उपहास न करेंगे? ईश्वर जेकर सृष्टि को रचे, तो उस की ईश्वरता ही नष्ट हो जावे, यह वृत्तांत ऊपर अच्छी तरह से लिख आये हैं।

प्रतिवादीः—ईश्वर की जो सर्व शक्तियां हैं, सो सर्व अपना अपना कार्य करती हैं, जैसे आंख देखने का काम करती है, कान सुनने का काम करते हैं, तैसे ही जो ईश्वर में रचनाशक्ति है, सो रचने से ही सफल होती है, इस वास्ते जगत् रचता है।

सिद्धांतीः—जब तुमने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना तब तो ईश्वर की सर्व शक्तियां सफल होनी चाहिये, यथा ईश्वर—१. एक सुन्दर पुरुष का रूप रच कर सर्व जगत् की सुन्दर सुन्दर स्त्रियों से भोग करे, २. चोर बन कर चोरी करे, ३. विश्वास घातीपना करे, ४. जीव-हत्या करे, ५. झूठ बोले, ६. अन्याय करे, ७. अवतार लेकर गोपियों से कल्लोल करे, ८. कुब्जा से भोग करे, ९. दूसरे की मांग को भगा कर ले जावे, १०. सिर पर जटा रक्खे ११. तीन आंख बनावे, १२. बैल के ऊपर चढ़े, १३. तन में विभूति लगावे, १४. स्त्री को वामांग में रक्खे, १५. किसी मुनि के आगे नंगा हो कर नाचे, १६. किसी को वर देवे, १७. किसी को शाप देवे, इसी तरें १८. चार मुख बना के एक स्त्री रक्खे, १९. अपनी पुत्री से भोग करे, २०. संग्राम करे, २१. स्त्री को कोई चोर चुरा ले जावे, तो पीछे उस स्त्री के

उत्तर दिया। क्या तुमारे इस उत्तर को सुन कर विद्वान् लोग तुमारा उपहास न करेंगे? ईश्वर जे कर सृष्टि को रचे, तो उस की ईश्वरता ही नष्ट हो जावे, यह वृत्तांत ऊपर अच्छी तरह से लिख आये हैं।

प्रतिवादीः—ईश्वर की जो सर्व शक्तियां हैं, सो सर्व अपना अपना कार्य करती हैं, जैसे आंख देखने का काम करती है, कान सुनने का काम करते हैं, तैसे ही जो ईश्वर में रचनाशक्ति है, सो रचने से ही सफल होती है, इस वास्ते जगत् रचता है।

सिद्धांतीः—जब तुमने ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना तब तो ईश्वर की सर्व शक्तियां सफल होनी चाहिये, यथा ईश्वर—१. एक सुन्दर पुरुष का रूप रच कर सर्व जगत् की सुन्दर सुन्दर स्त्रियों से भोग करे, २. चोर बन कर चोरी करे, ३. विश्वास घातीपना करे, ४. जीव-हत्या करे, ५. झूठ बोले, ६. अन्याय करे, ७. अवतार लेकर गोपियों से कल्लोल करे, ८. कुब्जा से भोग करे, ९. दूसरे की मांग को भगा कर ले जावे, १०. सिर पर जटा रक्खे ११. तीन आंख बनावे, १२. बैल के ऊपर चढ़े, १३. तन में विभूति लगावे, १४. स्त्री को वामांग में रक्खे, १५. किसी मुनि के आगे नंगा हो कर नाचे, १६. किसी को वर देवे, १७. किसी को शाप देवे, इसी तरें १८. चार मुख बना के एक स्त्री रक्खे, १९. अपनी पुत्री से भोग करे, २०. संग्राम करे, २१. स्त्री को कोई चोर चुरा ले जावे, तो पीछे उस स्त्री के

थे। उनके आगे फिर गर्भ से उत्पन्न होने लगे।

सिद्धान्तीः—यह अप्रामाणिक कहना कोई भी विद्वान् नहीं मानेगा, क्योंकि माता पिता के बिना कभी पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकता। जे कर ईश्वर ने प्रथम माता पिता के बिना ही पुरुष स्त्री उत्पन्न कर दिये थे, तो अब भी घड़े घड़ाये, बने बनाये, स्त्री पुरुष क्यों नहीं भेज देता? गर्भ धारण कराना, स्त्री पुरुष का मैथुन कराना, गर्भवास का दुःख भोगाना, योनि यन्त्र द्वारा खैंच के निकालना, इत्यादि संकट वह काहे को देता है? अनन्त वार ईश्वर ने सृष्टि रची, अरु अनंतवार प्रलय करी, तब तो ईश्वर थका नहीं, तो क्या मनुष्यों ही के बनाने से उस को थकेवां चड गया? जो कि अब वो घड़े घड़ाये, बने बनाये, नहीं भेज सकता? यह कभी नहीं हो सकता, कि माता पिता के बिना पुत्र उत्पन्न हो जावे। इस हेतु से भी जगत् का प्रवाह अनादि काल से इसी तरें तारतम्य रूप से चला आता सिद्ध होता है।

प्रतिवादीः—जे कर ईश्वर सर्व वस्तु का कर्त्ता न होवे, अरु जीव ही कर्त्ता होवे, तब तो जीव आपही शरीर धारण कर लेवेगा, अरु शरीर को कदे भी नहीं छोड़ेगा, अरु अपने आप को जो अच्छा लगेगा सो करेगा। फिर तो कभी मरेगा नहीं।

सिद्धान्तीः—जो तुमने कहा है, सो सर्व कर्मों के वश है, जीव के अधीन नहीं। जे कर कहो कि कर्म भी तो जीव

थे। उनके आगे फिर गर्भ से उत्पन्न होने लगे।

सिद्धान्तीः—यह अप्रामाणिक कहना कोई भी विद्वान् नहीं मानेगा, क्योंकि माता पिता के बिना कभी पुत्र नहीं उत्पन्न हो सकता। जे कर ईश्वर ने प्रथम माता पिता के बिना ही पुरुष स्त्री उत्पन्न कर दिये थे, तो अब भी घड़े घड़ाये, बने बनाये, स्त्री पुरुष क्यों नहीं भेज देता? गर्भ धारण कराना, स्त्री पुरुष का मैथुन कराना, गर्भवास का दुःख भोगाना, योनि यन्त्र द्वारा खैंच के निकालना, इत्यादि संकट वह काहे को देता है? अनन्त वार ईश्वर ने सृष्टि रची, अरु अनंतवार प्रलय करी, तब तो ईश्वर थका नहीं, तो क्या मनुष्यों ही के बनाने से उस को थकेवां चड गया? जो कि अब वो घड़े घड़ाये, बने बनाये, नहीं भेज सकता? यह कभी नहीं हो सकता, कि माता पिता के बिना पुत्र उत्पन्न हो जावे। इस हेतु से भी जगत् का प्रवाह अनादि काल से इसी तरें तारतम्य रूप से चला आता सिद्ध होता है।

प्रतिवादीः—जे कर ईश्वर सर्व वस्तु का कर्त्ता न होवे, अरु जीव ही कर्त्ता होवे, तब तो जीव आपही शरीर धारण कर लेवेगा, अरु शरीर को कदे भी नहीं छोड़ेगा, अरु अपने आप को जो अच्छा लगेगा सो करेगा। फिर तो कभी मरेगा नहीं।

सिद्धान्तीः—जो तुमने कहा है, सो सर्व कर्मों के वश है, जीव के अधीन नहीं। जे कर कहो कि कर्म भी तो जीव

का कर्त्ता ईश्वर किसी तरे भी सिद्ध नहीं होता। विशेष करके जगत्कर्त्ता ईश्वर का खंडन देखना होवे, तो सम्मतितर्क, द्वादशसारनयचक्र स्याद्वादरत्नाकर, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय—स्याद्वादकल्पलता, स्याद्वादमंजरी, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका, सूत्रकृतांग, नंदीसिद्धांत, गंधहस्तीमहाभाष्य, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणमीमांसा, आप्तमीमांसा, प्रमेयकमलमार्तंड, न्यायावतार, धर्मसंग्रहणी, तत्त्वार्थभाष्य टीका, षड्दर्शनसमुच्चय, इत्यादि जैनमत के ग्रन्थ देख लेने इस वास्ते जो कामी, क्रोधी, छली, धूर्त्त, परस्त्री, स्वस्त्री का गमन करने वाला, नाचने वाला, गाने बजाने वाला, रोने पीटने वाला, भस्म लगाने वाला, माला जपने वाला, संग्राम करने वाला, तथा डमरु आदिक वाजे बजाने वाला, वर वा शाप के देने वाला, विना प्रयोजन अनेक प्रकार के क्लेशों में फंसने वाला, इत्यादिक जो अठारह दूषणों सहित है, सो कुदेव है। उस को ईश्वर मानना, सोई मिथ्यात्व है। इन कुदेवों को मानने वाले कि पत्थर की नावों पर बैठे हुए हैं। यह लिखने का प्रयोजन मात्र इतना ही है, कि कुदेव को कदे भी अर्हंत भगवंत परमेश्वर करके नहीं मानना।

इति श्रीतपागच्छीयमुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनन्दविजय-आत्मारामविरचते जैनतत्त्वादर्शे द्वितीयः परिच्छेदः संपूर्णः

का कर्त्ता ईश्वर किसी तरे भी सिद्ध नहीं होता। विशेष करके जगत्कर्त्ता ईश्वर का खंडन देखना होवे, तो सम्मतितर्क, द्वादशसारनयचक्र स्याद्वादरत्नाकर, अनेकांतजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय—स्याद्वादकल्पलता, स्याद्वादमंजरी, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका, सूत्रकृतांग, नंदीसिद्धांत, गंधहस्तीमहाभाष्य, प्रमाणसमुच्चय, प्रमाणपरीक्षा, प्रमाणमीमांसा, आप्तमीमांसा, प्रमेयकमलमार्तंड, न्यायावतार, धर्मसंग्रहणी, तत्त्वार्थभाष्य टीका, षड्दर्शनसमुच्चय, इत्यादि जैनमत के ग्रन्थ देख लेने इस वास्ते जो कामी, क्रोधी, छली, धूर्त्त, परस्त्री, स्वस्त्री का गमन करने वाला, नाचने वाला, गाने वजाने वाला, रोने पीटने वाला, भस्म लगाने वाला, माला जपने वाला, संग्राम करने वाला, तथा डमरु आदिक वाजे वजाने वाला, वर वा शाप के देने वाला, विना प्रयोजन अनेक प्रकार के क्लेशों में फंसने वाला, इत्यादिक जो अठारह दूषणों सहित है, सो कुदेव है। उस को ईश्वर मानना, सोई मिथ्यात्व है। इन कुदेवों को मानने वाले कि पत्थर की नावों पर बैठे हुए हैं। यह लिखने का प्रयोजन मात्र इतना ही है, कि कुदेव को कदे भी अर्हंत भगवंत परमेश्वर करके नहीं मानना।

इति श्रीतपागच्छीयमुनि श्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनन्दविजय-आत्मारामविरचते जैनतत्त्वादर्शे द्वितीयः परिच्छेदः संपूर्णः

अष्ट प्रकार का निमित्त शास्त्र, तथा वैद्यक शास्त्र, धन उत्पन्न करने का शास्त्र, राज सेवा आदिक अनेक शास्त्र, जिन से कि धर्म को बाधा पहुंचे, तिन का उपदेशक न होवे। क्यों कि लौकिक जो शास्त्र हैं, सो तो बुद्धिमान् पुरुष वर्त्तमान में भी बहुत सीखते हैं। तथा नवीन नवीन अनेक सांसारिक विद्या के पुस्तक बनाते हुए चले जाते हैं। तथा अङ्गरेज़ों की बुद्धि को देख कर बहुत से इस देश के लोक भी सांसारिक विद्या में निपुण होते चले जाते हैं। इस वास्ते साधु को धर्मोपदेश ही करना चाहिये, क्योंकि धर्म ही जीवों को प्राप्त होना कठिन है। गुरु के ऐसे लक्षण जैन मत में हैं।

तथा प्रथम जो पांच महाव्रत साधु को धारणे कहे हैं, सो कौन से वे पांच महाव्रत हैं? सो कहते हैं:—

अहिंसासूनृतास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
पंचभिः पंचभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो०१६]

पंच महाव्रत का स्वरूप

अर्थः—१. अहिंसा–जीवदया, २. सूनृत–सत्य बोलना ३. अस्तेय–लेने योग्य वस्तु को बिना दिये न लेना, ४. ब्रह्मचर्य–ब्रह्मचर्य का पालना, ५. अपरिग्रह–सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग, इन पांचों को महाव्रत कहते हैं। तथा इन पांच महाव्रतों में एक एक महाव्रत की पांच पांच भावना

अष्ट प्रकार का निमित्त शास्त्र, तथा वैद्यक शास्त्र, धन उत्पन्न करने का शास्त्र, राज सेवा आदिक अनेक शास्त्र, जिन से कि धर्म को बाधा पहुंचे, तिन का उपदेशक न होवे। क्योंकि लौकिक जो शास्त्र हैं, सो तो बुद्धिमान् पुरुष वर्त्तमान में भी बहुत सीखते हैं। तथा नवीन नवीन अनेक सांसारिक विद्या के पुस्तक बनाते हुए चले जाते हैं। तथा अङ्गरेज़ों की बुद्धि को देख कर बहुत से इस देश के लोक भी सांसारिक विद्या में निपुण होते चले जाते हैं। इस वास्ते साधु को धर्मोपदेश ही करना चाहिये, क्योंकि धर्म ही जीवों को प्राप्त होना कठिन है। गुरु के ऐसे लक्षण जैन मत में हैं।

तथा प्रथम जो पांच महाव्रत साधु को धारणे कहे हैं, सो कौन से वे पांच महाव्रत हैं? सो कहते हैं:—

अहिंसासूनृतास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
पंचभिः पंचभिर्युक्ता भावनाभिर्विमुक्तये॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो०१९]

पंच महाव्रत का स्वरूप

अर्थः—१. अहिंसा—जीवदया, २. सूनृत—सत्य बोलना ३. अस्तेय—लेने योग्य वस्तु को विना दिये न लेना, ४. ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य का पालना, ५. अपरिग्रह—सर्वप्रकार के परिग्रह का त्याग, इन पांचों को महाव्रत कहते हैं। तथा इन पांच महाव्रतों में एक एक महाव्रत की पांच पांच भावना

पथ्यकारी होवे-परिणाम में सुन्दर होवे-एतावता जिस वचन से जीव का आगे को बहुत सुधार होवे, तथा जो वचन सत्य होवे; ऐसा जो वचन बोलना, सो सूनृतव्रत कहिये। इस व्रत के विषे कछुक विशेष लिखते हैं। जो वचन व्यवहार में चाहे सत्य ही होवे, परन्तु जो अगले-दूसरे जीव को दुःखदायी होवे, ऐसा वचन न बोले; जैसे काणे को काणा कहना, चोर को चोर कहना, कुष्ठी को कुष्ठी कहना, इत्यादिक जो वचन दूसरे को दुःखदायी होवें, सो न बोले। तथा जो वचन जीवों को आगे अनर्थ का हेतु होवे, वसुराजावत्, सो भी न बोले। जेकर यह पूर्वोक्त दोनों वचन साधु बोले, तब तो उस के सूनृतव्रत में कलंक लग जावे, क्यों कि यह दोनों वचन झूठ ही में गिने हैं।

अब तीसरा महाव्रत लिखते हैं:—

अनादानमदत्तस्या-स्तेयव्रतमुदीरितम् ।
बाह्याः प्राणा नृणामर्थो, हरता तं हता हि ते ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २२]

अर्थः—अदत्त-मालिक के बिना दिये ले लेना, तिस का जो नियम अर्थात् त्याग है, सो अस्तेयव्रत कहिये, अचौर्यव्रत इसी का नामांतर है। वह अदत्तादान चार प्रकार का है—१. जो साधु के लेने योग्य—अचित्त (जीव-रहित) वस्तु अर्थात् आहार, तृण, काष्ठ, पाषाणादिक वस्तु

पथ्यकारी होवे-परिणाम में सुन्दर होवे-एतावता जिस वचन से जीव का आगे को बहुत सुधार होवे, तथा जो वचन सत्य होवे; ऐसा जो वचन बोलना, सो सूनृतव्रत कहिये। इस व्रत के विषे कछुक विशेष लिखते हैं। जो वचन व्यवहार में चाहे सत्य ही होवे, परन्तु जो अगले-दूसरे जीव को दुःखदायी होवे, ऐसा वचन न बोले; जैसे काणे को काणा कहना, चोर को चोर कहना, कुष्ठी को कुष्ठी कहना, इत्यादिक जो वचन दूसरे को दुःखदायी होवें, सो न बोले। तथा जो वचन जीवों को आगे अनर्थ का हेतु होवे, वसुराजावत्, सो भी न बोले। जेकर यह पूर्वोक्त दोनों वचन साधु बोले, तब तो उस के सूनृतव्रत में कलंक लग जावे, क्यों कि यह दोनों वचन झूठ ही में गिने हैं।

अब तीसरा महाव्रत लिखते हैं:—

अनादानमदत्तस्या-स्तेयव्रतमुदीरितम्।
बाह्याः प्राणा नृणामर्थो, हरता तं हता हि ते ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २२]

अर्थः—अदत्त-मालिक के बिना दिये ले लेना, तिस का जो नियम अर्थात् त्याग है, सो अस्तेयव्रत कहिये, अचौर्यव्रत इसी का नामांतर है। वह अदत्तादान चार प्रकार का है—१. जो साधु के लेने योग्य—अचित्त (जीव-रहित) वस्तु अर्थात् आहार, तृण, काष्ठ, पाषाणादिक वस्तु

पाप है। सर्व प्रकार की चोरी का जो त्याग करना है, इसी का नाम अदत्तादान त्यागरूप महाव्रत है।

अब चौथे महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं:—

दिव्यौदारिककामानां कृतानुमतिकारितैः ।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टदशधा मतम् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २३]

अर्थः—दिव्य-देवता के वैक्रिय शरीर सम्बन्धी जो काम भोग, अरु औदारिक-तिर्यंच और मनुष्य के शरीर संबन्धी जो कामभोग, एतावता वैक्रिय शरीर अरु औदारिक शरीर, ए दोनों के द्वारा विषय सेवन करना, और दूसरे से विषय सेवन करवाना, जो विषय सेवन करे उस को अच्छा जानना, ए छ भेद मन करके, छ वचन करके, अरु छ काया करके, एवं अठारह प्रकार का जो मैथुन, तिस के सेवन का जो त्याग करना, उस को ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं।

अब पांचवां महाव्रत लिखते हैं:—

सर्वभावेषु मूर्च्छाया-स्त्यागः स्यादपरिग्रहः ।
यदि सत्स्वपि जायेत, मूर्छया चित्तविप्लवः ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २४]

अर्थः—सर्व-सम्पूर्ण जो भाव-पदार्थ-द्रव्य क्षेत्र काल, भाव रूप वस्तु, तिस विषे जो मूर्छा-ममत्व-मोह, तिसका जो त्याग, तिसका नाम अपरिग्रह व्रत कहिये। परन्तु जिस का

पाप है। सर्व प्रकार की चोरी का जो त्याग करना है, इसी का नाम अदत्तादान त्यागरूप महाव्रत है।

अब चौथे महाव्रत का स्वरूप लिखते हैं:—

दिव्यौदारिककामानां कृतानुमतिकारितैः।
मनोवाक्कायतस्त्यागो ब्रह्माष्टदशधा मतम्॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २३]

अर्थः—दिव्य-देवता के वैक्रिय शरीर सम्बन्धी जो काम भोग, अरु औदारिक-तिर्यंच और मनुष्य के शरीर संबन्धी जो कामभोग, एतावता वैक्रिय शरीर अरु औदारिक शरीर, ए दोनों के द्वारा विषय सेवन करना, और दूसरे से विषय सेवन करवाना, जो विषय सेवन करे उस को अच्छा जानना, ए छ भेद मन करके, छ वचन करके, अरु छ काया करके, एवं अठारह प्रकार का जो मैथुन, तिस के सेवन का जो त्याग करना, उस को ब्रह्मचर्य व्रत कहते हैं।

अब पांचवां महाव्रत लिखते हैं:—

सर्वभावेषु मूर्च्छाया-स्त्यागः स्यादपरिग्रहः।
यदि सत्स्वपि जायेत, मूर्छया चित्तविप्लवः॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २४]

अर्थः—सर्व-सम्पूर्ण जो भाव-पदार्थ-द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप वस्तु, तिस विषे जो मूर्छा-ममत्व-मोह, तिसका जो त्याग, तिसका नाम अपरिग्रह व्रत कहिये। परन्तु जिस का

कोई जोव नहीं है, जिस को ए महाव्रत मोक्षपद में न पहुंचा देवें।

अब प्रथम महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

मनोगुप्त्येषणादाने-र्याभिः समितिभिः सदा।
दृष्टान्नपानग्रहणे-नाहिंसां भावयेत्सुधीः ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २६]

अर्थः—१. मनोगुप्ति मन को पाप के काम में न प्रवर्त्तावे, किंतु पाप के काम से अपने मन को हटा लेवे। जेकर पाप के काम में मन को प्रवर्त्तावे, तो चाहे बाह्य वृत्ति करके हिंसा नहीं भी करता, तो भी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरे सातमी नरक में जाने योग्य कर्म उत्पन्न कर लेता है। इस वास्ते मुनि को मनोगुप्ति अवश्य रखनी चाहिये।

२. एषणासमिति–चार प्रकार की आहारादिक वस्तु आधाकर्मादिक बेतालीस दूषण से रहित लेवे। बेतालीस दूषण का पूरा स्वरूप देखना होवे, तो पिंडनिर्युक्ति शास्त्र ७००० श्लोक प्रमाण है, सो देख लेना। ३. आदाननिक्षेप–जो कुछ पात्र, दण्ड, फलक प्रमुख लेना पडे, तथा भूमिका के ऊपर रखना पडे, तब प्रथम नेत्रों से देख लेना, पीछे रजोहरण करके पूंज लेना, पीछे से लेना और यत्न से रखना। क्योंकि विच्छु सर्पादिक अनेक ज़हरी जीव जेकर उस उपकरण के ऊपर बैठे होवें, तब तो काट खावें अरु दूसरा कोई विचारा

कोई जीव नहीं है, जिस को ए महाव्रत मोक्षपद में न पहुंचा देवें ।

अब प्रथम महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

मनोगुप्त्येषणादाने-र्याभिः समितिभिः सदा ।
दृष्टान्नपानग्रहणे-नाहिंसां भावयेत्सुधीः ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २६]

अर्थः—१. मनोगुप्ति मन को पाप के काम में न प्रवर्त्तावे, किंतु पाप के काम से अपने मन को हटा लेवे । जेकर पाप के काम में मन को प्रवर्त्तावे, तो चाहे बाह्य वृत्ति करके हिंसा नहीं भी करता, तो भी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि की तरे सातमी नरक में जाने योग्य कर्म उत्पन्न कर लेता है । इस वास्ते मुनि को मनोगुप्ति अवश्य रखनी चाहिये ।

२. एषणासमिति—चार प्रकार की आहारादिक वस्तु आधाकर्मादिक बेतालीस दूषण से रहित लेवे । बेतालीस दूषण का पूरा स्वरूप देखना होवे, तो पिंडनिर्युक्ति शास्त्र ७००० श्लोक प्रमाण है, सो देख लेना । ३. आदाननिक्षेप—जो कुछ पात्र, दण्ड, फलक प्रमुख लेना पडे, तथा भूमिका के ऊपर रखना पडे, तब प्रथम नेत्रों से देख लेना, पीछे रजोहरण करके पूंज लेना, पीछे से लेना और यत्न से रखना । क्योंकि विच्छु सर्पादिक अनेक ज़हरी जीव जेकर उस उपकरण के ऊपर बैठे होवें, तब तो काट खावें अरु दूसरा कोई विचारा

और साधुओं पर गृहस्थों की अप्रीति हो जावे। इस वास्ते अन्धेरे की जगा से साधु अन्नादिक न लेवे।

अब दूसरे महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

हास्यलोभभयक्रोध-प्रत्याख्यानै र्निरंतरम्।
आलोच्य भाषणेनापि, भावयेत्सूनृतं व्रतम्॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २७]

अर्थः—१. हास्यप्रत्याख्यान-किसी की हांसी न करे-हांसी का त्याग करे, क्यों कि जो पुरुष किसी की हांसी करेगा, वो अवश्य झूठ बोलेगा। तथा पर की जो हांसी करनी है, सो किसी वक्त बडे अनर्थ का कारण हो जाती है। श्री हेमचन्द्र सूरिकृत रामायण में लिखा है, कि रावण की बहिन शूर्पणखा की श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण जी ने हांसी करी, तब शूर्पणखा ने क्रुद्ध हो कर अपने भाई रावण के पास जा कर सीता का वर्णन करा। फिर रावण सीता को हर कर ले गया; तब इन में बड़ा संग्राम हुआ, जिस की आज तांई लोक नक़ल बनाते हैं। विचार किया जावे तो इस सारी रामायण का निमित्त शूर्पणखा की हांसी है। २. लोभप्रत्याख्यान—लोभ का त्याग करना, क्योंकि जो लोभी होगा सो अवश्य अपने लोभ के वास्ते झूठ बोलेगा, यह बात सर्व लोगों में प्रसिद्ध ही है। ३. भयप्रत्याख्यान—भय न करना, क्योंकि भयवंत

और साधुओं पर गृहस्थों की अप्रीति हो जावे । इस वास्ते अन्धेरे की जगा से साधु अन्नादिक न लेवे ।

अब दूसरे महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

हास्यलोभभयक्रोध-प्रत्याख्यानै र्निरंतरम् ।
आलोच्य भाषणेनापि, भावयेत्सूनृतं व्रतम् ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० २७]

अर्थः—१. हास्यप्रत्याख्यान-किसी की हांसी न करे-हांसी का त्याग करे, क्यों कि जो पुरुष किसी की हांसी करेगा, वो अवश्य झूठ बोलेगा। तथा पर की जो हांसी करनी है, सो किसी वक्त बडे अनर्थ का कारण हो जाती है। श्री हेमचन्द्र सूरिकृत रामायण में लिखा है, कि रावण की बहिन शूर्पणखा की श्री रामचन्द्र और लक्ष्मण जी ने हांसी करी, तब शूर्पणखा ने क्रुद्ध हो कर अपने भाई रावण के पास जा कर सीता का वर्णन करा। फिर रावण सीता को हर कर ले गया; तब इन में बड़ा संग्राम हुआ, जिस की आज तांई लोक नक़ल बनाते हैं। विचार किया जावे तो इस सारी रामायण का निमित्त शूर्पणखा की हांसी है। २. लोभप्रत्याख्यान—लोभ का त्याग करना, क्योंकि जो लोभी होगा सो अवश्य अपने लोभ के वास्ते झूठ बोलेगा, यह बात सर्व लोगों में प्रसिद्ध ही है। ३. भयप्रत्याख्यान—भय न करना, क्योंकि भयवंत

हो जावे, तब जंगल-पुरीष, मूत्र करने को जगा ज़रूर चाहिये। गृहस्वामी की आज्ञा के विना, उस के मकान में मल मूत्र करे, तो चोरी लगे। उपाश्रय की भूमि की मर्यादा करना; जैसे कि इतनी जगा तक हमारे को तुमारी आज्ञा रही। जेकर मर्यादा न कर लेवे तो अधिक भूमि को काम में लाने से चोरी लगती है। ४. समान धर्मी से आज्ञा लेना-कोई समान धर्मी साधु किसी जगा में प्रथम उतर रहा है, पीछे दूसरा साधु जो उस मकान में उतरना चाहे, तो उस प्रथम साधु की आज्ञा लेवे, अरु उसकी आज्ञा के बिना न रहे। जेकर प्रथम साधु की आज्ञा न लेवे, तो स्वधर्मी अदत्त का दोष लागे। ५. गुरु की आज्ञा लेना-साधु अन्न, पान, वस्त्र, पात्र, और शिष्यादिक जो कुछ भी लेवे, सो सर्व गुरु की आज्ञा से लेवे। जेकर गुरु की आज्ञा के विना भी कोई वस्तु ले लेवे तो उस को गुरु अदत्त का दोष लागे।

अब चौथे महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

स्त्रीपंढपशुमद्वेश्मा-सनकुड्यांतरोज्झनात्।
सरागस्त्रीकथात्यागात्, प्राग्रतस्मृतिवर्जनात्॥
स्त्रीरम्यांगेक्षणस्वांग-संस्कारपरिवर्जनात्।
प्रणीतात्यशनत्यागात्, ब्रह्मचर्यं च भावयेत्॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० ३०, ३१]

हो जावे, तब जंगल-पुरीष, मूत्र करने को जगा ज़रूर चाहिये। गृहस्वामी की आज्ञा के बिना, उस के मकान में मल मूत्र करे, तो चोरी लगे। उपाश्रय की भूमि की मर्यादा करना; जैसे कि इतनी जगा तक हमारे को तुमारी आज्ञा रही। जेकर मर्यादा न कर लेवे तो अधिक भूमि को काम में लाने से चोरी लगती है। ४. समान धर्मी से आज्ञा लेना-कोई समान धर्मी साधु किसी जगा में प्रथम उतर रहा है, पीछे दूसरा साधु जो उस मकान में उतरना चाहे, तो उस प्रथम साधु की आज्ञा लेवे, अरु उसकी आज्ञा के बिना न रहे। जेकर प्रथम साधु की आज्ञा न लेवे, तो स्वधर्मी अदत्त का दोष लागे। ५. गुरु की आज्ञा लेना-साधु अन्न, पान, वस्त्र, पात्र, और शिष्यादिक जो कुछ भी लेवे, सो सर्व गुरु की आज्ञा से लेवे। जेकर गुरु की आज्ञा के बिना भी कोई वस्तु ले लेवे तो उस को गुरु अदत्त का दोष लागे।

अब चौथे महाव्रत की पांच भावना लिखते हैं:—

स्त्रीपंढपशुमद्वेश्मा-सनकुड्यांतरोज्झनात्।
सरागस्त्रीकथात्यागात्, प्राग्रतस्मृतिवर्जनात्॥
स्त्रीरम्यांगेक्षणस्वांग-संस्कारपरिवर्जनात्।
प्रणीतात्यशनत्यागात्, ब्रह्मचर्यं च भावयेत्॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० ३०, ३१]

विस्मय रस के पूर में मग्न हो कर, आंख फाड़ कर देखना वर्जे; परन्तु जो राग रहित दृष्टि करी कदाचित् देखने में आ जावे तो दोष नहीं। तथा अपने शरीर का संस्कार करना— स्नान, विलेपन, धूप करना, नख, दांत, केश, आदि का सुधार करना, कंगी सुरमा से विभूषा करनी, इत्यादिक शरीर संस्कार न करे। क्योंकि स्त्री के रमणीक अंग देखने से जैसे दीप शिखा में पतंगिया जल जाता है, ऐसे कामी पुरुष भी कामाग्नि में जल जाता है। तथा शरीर जो है, सो सर्व अशुचिता का मूल है, इस का जो शृंगार करना है, सो अज्ञानता है। मलिन वस्तु की कोथली के ऊपर जे कर चन्दन घिस कर लगा दिया जाय, तो क्या वह कोथली चन्दन की हो जावेगी? यह शरीर अन्त में मशान की राख की एक मुट्ठी बन जायेगा; फिर किस वास्ते इस शरीर की शोभा करने में व्यर्थ काल खोवे है? ५. प्रणीत—स्निग्ध, मधुरादि रस युक्त पदार्थों का अधिक आहार करना, तथा रूखा भोजन भी खूब पेट भर कर करना, ए दोनों ही प्रकार के आहारका त्याग करे, क्योंकि जो पुरुष निरन्तर स्निग्ध, मधुर रस का आहार करेगा, उस के ज़रूर विकार उत्पन्न होगा; तब तो वेदोदय करी वो अवश्य कुशील सेवेगा। अरु रूक्ष भोजन भी प्रमाण से अधिक नहीं करना, क्यों कि अधिक रूक्ष भोजन करने से भी काम उत्पन्न होता है, तथा अधिक खाने से शरीर को पीडा भी उत्पन्न हो जाती है, विसूचिका

विस्मय रस के पूर में मग्न हो कर, आंख फाड़ कर देखना वर्जे; परन्तु जो राग रहित दृष्टि करी कदाचित् देखने में आ जावे तो दोष नहीं। तथा अपने शरीर का संस्कार करना—स्नान, विलेपन, धूप करना, नख, दांत, केश, आदि का सुधार करना, कंगी सुरमा से विभूषा करनी, इत्यादिक शरीर संस्कार न करे। क्योंकि स्त्री के रमणीक अंग देखने से जैसे दीप शिखा में पतंगिया जल जाता है, ऐसे कामी पुरुष भी कामाग्नि में जल जाता है। तथा शरीर जो है, सो सर्व अशुचिता का मूल है, इस का जो शृंगार करना है, सो अज्ञानता है। मलिन वस्तु की कोथली के ऊपर जे कर चन्दन घिस कर लगा दिया जाय, तो क्या वह कोथली चन्दन की हो जावेगी? यह शरीर अन्त में मशान की राख की एक मुट्ठी वन जायेगा; फिर किस वास्ते इस शरीर की शोभा करने में व्यर्थ काल खोवे है? ५. प्रणीत—स्निग्ध, मधुरादि रस युक्त पदार्थों का अधिक आहार करना, तथा रूखा भोजन भी खूब पेट भर कर करना, ए दोनों ही प्रकार के आहारका त्याग करे, क्योंकि जो पुरुष निरन्तर स्निग्ध, मधुर रस का आहार करेगा, उस के ज़रूर विकार उत्पन्न होगा; तब तो वेदोदय करी वो अवश्य कुशील सेवेगा। अरु रूक्ष भोजन भी प्रमाण से अधिक नहीं करना, क्यों कि अधिक रूक्ष भोजन करने से भी काम उत्पन्न होता है, तथा अधिक खाने से शरीर को पीडा भी उत्पन्न हो जाती है, विशूचिका

भावना जिस में होवें, तथा चरण सत्तरी अरु करण सत्तरी करके जो युक्त होवे, सो जैन मत में गुरु माना है।

अब चरण सत्तरी के सत्तर भेद लिखते हैं:—

वय समणधम्म संजम, वेयावच्चं च बंभगुत्ताओ।
नाणाइतियं तव कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं ॥
[प्रव० सा०, गा० ५५२]

अर्थः—व्रत—पांच प्रकार का, श्रमणधर्म—दश प्रकार का, संयम—सतरां प्रकार का, वैयावृत्त्य—दश प्रकार का, ब्रह्मचर्य गुप्ति—नव प्रकार की, ज्ञान, दर्शन, चरित्र, ए तीन प्रकार का, तप—बारां प्रकार का, निग्रह क्रोधादिक चार प्रकार का, ए सर्व सत्तर भेद हैं। तिन में से पांच प्रकार के व्रत का स्वरूप तो ऊपर भावना सहित लिख आये हैं।

अब श्रमण धर्म दस प्रकार का लिखते हैं:—

खंतीयं मद्दव अज्जव मुत्ती तवसंजमे य वोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥
[प्रव० सा०, गा० ५५४]

दस प्रकार का यतिधर्म

अर्थः—१. क्षांति—क्षमा करनी, चाहे सामर्थ्य होवे, चाहे असामर्थ्य होवे, परन्तु दूसरे के दुर्वचन को सह लेने का जो परिणाम-मनोवृत्ति है, तिस को क्षमा कहते हैं, अर्थात् सर्वथा क्रोध का त्याग क्षमा है। २. मृदु—कोमल अहंकार रहित, तिसका जो भाव वा कर्म, सो मार्दव—ऊंचा हो कर

भावना जिस में होवें, तथा चरण सत्तरी अरु करण सत्तरी करके जो युक्त होवे, सो जैन मत में गुरु माना है।

अब चरण सत्तरी के सत्तर भेद लिखते हैं:—

वय समणधम्म संजम, वेयावच्चं च वंभगुत्ताओ।
नाणाइतियं तव कोहनिग्गहा इइ चरणमेयं॥
[प्रव० सा०, गा० ५५२]

अर्थ:—व्रत—पांच प्रकार का, श्रमणधर्म—दश प्रकार का, संयम—सतरां प्रकार का, वैयावृत्त्य—दश प्रकार का, ब्रह्मचर्य गुप्ति—नव प्रकार की, ज्ञान, दर्शन, चरित्र, ए तीन प्रकार का, तप—बारां प्रकार का, निग्रह क्रोधादिक चार प्रकार का, ए सर्व सत्तर भेद हैं। तिन में से पांच प्रकार के व्रत का स्वरूप तो ऊपर भावना सहित लिख आये हैं।

अब श्रमण धर्म दस प्रकार का लिखते हैं:—

खंतीयं मद्दव अज्जव मुत्ती तवसंजमे य बोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च वंभं च जइधम्मो॥
[प्रव० सा०, गा० ५५४]

दस प्रकार का यतिधर्म

अर्थ:—१. क्षांति—क्षमा करनी, चाहे सामर्थ्य होवे, चाहे असामर्थ्य होवे, परन्तु दूसरे के दुर्वचन को सह लेने का जो परिणाम-मनोवृत्ति है, तिस को क्षमा कहते हैं, अर्थात् सर्वथा क्रोध का त्याग क्षमा है। २. मृदु—कोमल अहंकार रहित, तिसका जो भाव वा कर्म, सो मार्दव—ऊंचा हो कर

संजम चियागऽकिंचण, बोधव्वे बंभचेरे य ॥

अब संयम के सतरां भेद लिखते हैं:—

पंचासवा विरमणं, पंचिंदियनिग्गहो कसायजओ ।
दण्डत्तयस्स विरई, सत्तरसहा संजमो होइ ।
पुढवि दग अगणि मारुय,वणस्सइ् वि ति चउ पणिंदि अज्जीवा,
पेहुप्पेहपमज्जण, परिठवण मणो वई काए ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५५,५५६]

सतरह प्रकार का संयम

अर्थः—जिस करके कर्मों का उपार्जन किया जावे सो आश्रव—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पांचों कर्म वन्ध के हेतु हैं । इन का त्याग करना पंचाश्रवविरमण है । स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पांच इन्द्रियों के स्पर्श आदि जो विषय हैं, उन में आसक्त न होना—लम्पटता न करनी पंचेन्द्रियनिग्रह है । तथा क्रोध, मान, माया अरु लोभ, इन चारों को जीतना, इन चारों के उदय को निष्फल करना, अरु जो उदय में न आये तिस को उत्पन्न नहीं होने देना कषायजय है ।

आत्मा की चारित्र लक्ष्मी का अपहरण करने वाले दुष्ट-खोटे मन, वचन और काया का नाम *दण्ड है। सो इन तीनों

* दण्डयते—चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा दुष्प्रयुक्ता मनोवाक्काया इत्यादि । [प्र० सा० वृत्तिः]

संजम चियागऽकिंचण, बोधव्वे बंभचेरे य ॥

अब संयम के सतरां भेद लिखते हैं:—

पंचासवा विरमणं, पंचिंदियनिग्गहो कसायजओ।
दण्डत्तयस्स विरई, सत्तरसहा संजमो होइ।
पुढवि दग अगणि मारुय,वणस्सइ बि ति चउ पणिंदि अज्जीवा,
पेहुप्पेहपमज्जण, परिठवण मणो वई काए ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५५,५५६]

सतरह प्रकार का संयम

अर्थः—जिस करके कर्मों का उपार्जन किया जावे सो आश्रव—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये पांचों कर्म बन्ध के हेतु हैं। इन का त्याग करना पंचाश्रवविरमण है। स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पांच इन्द्रियों के स्पर्श आदि जो विषय हैं, उन में आसक्त न होना—लम्पटता न करनी पंचेन्द्रियनिग्रह है। तथा क्रोध, मान, माया अरु लोभ, इन चारों को जीतना, इन चारों के उदय को निष्फल करना, अरु जो उदय में न आये तिस को उत्पन्न नहीं होने देना कषायजय है।

आत्मा की चारित्र लक्ष्मी का अपहरण करने वाले दुष्ट—खोटे मन, वचन और काया का नाम *दण्ड है। सो इन तीनों

* दण्डयते—चारित्रैश्वर्यापहारतोऽसारीक्रियते एभिरात्मेति दण्डा दुष्प्रयुक्ता मनोवाक्काया इत्यादि। [प्र० सा० वृत्तिः]

लम्बी आयु, श्रद्धा, संवेग, उद्यम, वल, ए सर्व हीन हो गये हैं, अरु विद्या कंठ रहती नहीं। ११. प्रेक्षासंयम-वीज, हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित स्थान को नेत्र से देख कर सोना, वैठना, चलना आदि क्रिया करना। अथवा संयम से चलायमान होने वाले साधु को हित वुद्धि करके उपदेश करना। १२. उपेक्षासंयम-पाप के व्यापार में प्रवृत्त हुए गृहस्थ को ऐसे उपदेश न करना कि यह काम तुम ऐसे करो; तथा पार्श्वस्थादि को [जो साधु की समाचारी से भ्रष्ट हो गये हैं, अरु जान बूझ कर अनुचित काम कर रहे हैं तथा किसी के उपदेश को मानने वाले नहीं] उपदेश करने में उदासीनता रखना। १३. प्रमार्जना संयम—देखे हुये स्थान से भी यदि वस्त्र पात्रादिक लेने वा रखने पड़ें, तब भी प्रथम रजोहरणादिक से प्रमार्जन करके पीछे से लेना, रखना, सोना, वैठना करे। १४. परिष्ठापना संयम—भात पानी—खाने पीने की वस्तु, जिस में जीव पड़ गये हों तथा वस्त्र पात्र आदि, जो सर्वथा काम देने योग्य नहीं रहे, उनको जीवों से रहित शुद्ध भूमि में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्थापन करना। १५. मनःसंयम—मन में द्रोह, ईर्ष्या तथा अभिमान न करना, अरु धर्मध्यानादि में मन को प्रवृत्त करना। १६. वचन संयम—हिंसाकारी कठोर वचन को त्यागना, अरु शुभ वचन में प्रवृत्त होना। १७. काया संयम-गमनागमन करने में अरु अवश्य करने योग्य कामों

लम्बी आयु, श्रद्धा, संवेग, उद्यम, बल, ए सर्व हीन हो गये हैं, अरु विद्या कंठ रहती नहीं । ११. प्रेक्षासंयम-बीज, हरी घास, जीव जन्तु आदि से रहित स्थान को नेत्र से देख कर सोना, बैठना, चलना आदि क्रिया करना । अथवा संयम से चलायमान होने वाले साधु को हित बुद्धि करके उपदेश करना । १२. उपेक्षासंयम-पाप के व्यापार में प्रवृत्त हुए गृहस्थ को ऐसे उपदेश न करना कि यह काम तुम ऐसे करो; तथा पार्श्वस्थादि को [जो साधु की समाचारी से भ्रष्ट हो गये हैं, अरु जान बूझ कर अनुचित काम कर रहे हैं तथा किसी के उपदेश को मानने वाले नहीं] उपदेश करने में उदासीनता रखना । १३. प्रमार्जना संयम—देखे हुये स्थान से भी यदि वस्त्र पात्रादिक लेने वा रखने पड़ें, तब भी प्रथम रजोहरणादिक से प्रमार्जन करके पीछे से लेना, रखना, सोना, बैठना करे । १४. परिष्ठापना संयम—भात पानी—खाने पीने की वस्तु, जिस में जीव पड़ गये हों तथा वस्त्र पात्र आदि, जो सर्वथा काम देने योग्य नहीं रहे, उनको जीवों से रहित शुद्ध भूमि में शास्त्रोक्त विधि के अनुसार स्थापन करना । १५. मनःसंयम—मन में द्रोह, ईर्ष्या तथा अभिमान न करना, अरु धर्मध्यानादि में मन को प्रवृत्त करना । १६. वचन संयम—हिंसाकारी कठोर वचन को त्यागना, अरु शुभ वचन में प्रवृत्त होना । १७. काया संयम-गमनागमन करने में अरु अवश्य करने योग्य कामों

व्य-सहायता करना, शुश्रूषा करनी, उजाड़—जंगल में रोग होने से दवाई करनी, तथा नाना प्रकार के उपसर्गों में पालना करनी, इस का नाम वैयावृत्त्य है।

अब ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति कहते हैं:—

वसहि कहनिसिज्जिंदिय, कुड्डंतर पुव्वकीलिय पणीए।
अइमायाहार विभूसणाई नव बंभगुत्तीओ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५८]

ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति

अर्थः—वसहि—वसति—स्त्री, पशु, पंडक इनों करी युक्त जो वसति—स्थान होवे, तहां ब्रह्मचारी साधु न रहे। तिन में से प्रथम स्त्री जो है, सो दो तरह की है—एक देव स्त्री, दूसरी मनुष्य स्त्री, इन दोनों के भी दो भेद हैं—एक असल, और दूसरी नकल—पाषाण की मूर्त्ति वा चित्राम की मूर्त्ति, यह दोनों प्रकार की स्त्री जहां न होवे, तिस वसति में रहे; तथा पशु स्त्री—गौ, महिषी, घोड़ी, बकरी, भेड़ प्रमुख जिस वसति में नहीं हों, तहां रहे। तथा पंडक—नपुंसक, (तीसरे वेद वाला) महा मोह कर्मवाला, स्त्री अरु पुरुष—इन दोनों के साथ विषय सेवन करने वाला, जिस स्थान में रहता होवे, तहां ब्रह्मचारी न रहे। क्योंकि इन तीनों के निवासप्रदेश में रहने से इनकी कामवर्द्धक चेष्टाओं को देखते हुए ब्रह्मचारी साधु के मन में विकार उत्पन्न होने से, उस के ब्रह्म-

घ्य-सहायता करना, शुश्रूषा करनी, उजाड़—जंगल में रोग होने से दवाई करनी, तथा नाना प्रकार के उपसर्गों में पालना करनी, इस का नाम वैयावृत्त्य है।

अथ ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति कहते हैं:—

वसहि कहनिसिज्जिंदिय, कुड्डंतर पुव्वकीलिय पणीए।
अइमायाहार विभूसणाई नव बंभगुत्तीओ॥

[प्रव० सा०, गा० ५५८]

ब्रह्मचर्य की नवगुप्ति

अर्थः—वसहि-वसति—स्त्री, पशु, पंडक इनों करी युक्त जो वसति—स्थान होवे, तहां ब्रह्मचारी साधु न रहे। तिन में से प्रथम स्त्री जो है, सो दो तरह की है—एक देव स्त्री, दूसरी मनुष्य स्त्री, इन दोनों के भी दो भेद हैं—एक असल, और दूसरी नकल-पाषाण की मूर्त्ति वा चित्राम की मूर्त्ति, यह दोनों प्रकार की स्त्री जहां न होवे, तिस वसति में रहे; तथा पशु स्त्री-गौ, महिषी, घोड़ी, बकरी, भेड़ प्रमुख जिस वसति में नहीं हों, तहां रहे। तथा पंडक—नपुंसक, (तीसरे वेद वाला) महा मोह कर्मवाला, स्त्री अरु पुरुष-इन दोनों के साथ विषय सेवन करने वाला, जिस स्थान में रहता होवे, तहां ब्रह्मचारी न रहे। क्योंकि इन तीनों के निवासप्रदेश में रहने से इनकी कामवर्द्धक चेष्टाओं को देखते हुए ब्रह्मचारी साधु के मन में विकार उत्पन्न होने से, उस के ब्रह्म-

कदाचित् दृष्टि पड़ जाय, तो मन में ऐसा चिन्तन न करे, कि लोचन बडे सुन्दर हैं ! नासिका बहुत सोधी है ! वांछनीय कुच हैं ! क्यों कि यदि स्त्री के पूर्वोक्त अङ्गोपांग का एकाग्र रस में मग्न होकर ब्रह्मचारी चिंतवन करे, तो अवश्य उस का मन मोह, तथा विकार को प्राप्त होवे।

५. कुडुंतर-कुड्यांतर—जहां भींत के, टट्टी के, कनात के, अन्तर—बीच में होने से मैथुन करते हुवे स्त्री पुरुष का शब्द सुनाई देवे, तहां ब्रह्मचारी—साधु न रहे।

६. पुव्वकीलिय-पूर्वक्रीडित—साधु ने पूर्व—गृहस्थ अवस्था में स्त्री के साथ जो विषय भोग क्रीडा करी होवे, तिस को स्मरण न करे; जेकर करे, तो कामाग्नि प्रज्वलित हो जाती है।

७. पणीय-प्रणीत—साधु अति चिकना मीठा दूध, दधि प्रमुख, अति धातुपुष्ट करने वाला आहार निरंतर न करे; जेकर करे, तो वीर्य की वृद्धि होने से अवश्य वेदोदय होगा, फिर वो ज़रूर विषय सेवेगा। क्यों कि यदि बोदी कोथली में बहुत रुपये भरेंगे तो वो ज़रूर फट जाएगी।

८. अइमायाहार-अतिमात्राहार—रूखी भिक्षा भी प्रमाण से अधिक न खावे, क्यों कि अधिक खाने से विकार हो जाता है, अरु शरीर की पीडा, विशूचिकादिक होने का भय रहता है।

९. विभूसणाइ-विभूषणादि—शरीर की विभूषा—स्नान,

कदाचित् दृष्टि पड़ जाय, तो मन में ऐसा चिन्तन न करे, कि लोचन बडे सुन्दर हैं! नासिका बहुत सोधी है! वांछनोय कुच हैं! क्यों कि यदि स्त्री के पूर्वोक्त अङ्गोपांग का एकाग्र रस में मग्न होकर ब्रह्मचारी चिंतवन करे, तो अवश्य उस का मन मोह, तथा विकार को प्राप्त होवे।

५. कुडुंतर-कुड्यांतर—जहां भींत के, टट्टी के, कनात के, अन्तर—बीच में होने से मैथुन करते हुवे स्त्री पुरुष का शब्द सुनाई देवे, तहां ब्रह्मचारी—साधु न रहे।

६. पुव्वकीलिय-पूर्वक्रीडित—साधु ने पूर्व—गृहस्थ अवस्था में स्त्री के साथ जो विषय भोग क्रीडा करी होवे, तिस को स्मरण न करे; जेकर करे, तो कामाग्नि प्रज्वलित हो जाती है।

७. पणीय-प्रणीत—साधु अति चिकना मीठा दूध, दधि प्रमुख, अति धातुपुष्ट करने वाला आहार निरंतर न करे; जेकर करे, तो वीर्य की वृद्धि होने से अवश्य वेदोदय होगा, फिर वो ज़रूर विषय सेवेगा। क्यों कि यदि बोदी कोथली में बहुत रुपये भरेंगे तो वो ज़रूर फट जाएगी।

८. अइमायाहार-अतिमात्राहार—रूखी भिक्षा भी प्रमाण से अधिक न खावे, क्यों कि अधिक खाने से विकार हो जाता है, अरु शरीर की पीडा, विसूचिकादिक होने का भय रहता है।

९. विभूसणाइ-विभूषणादि—शरीर की विभूषा—स्नान,

अब बारां प्रकार का तप लिखते हैं:—

अणसणमूणोयरिया, वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गोविय, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५६०-५६१, दशवै० नि०, गा०, ४७-४८]

बारह प्रकार का तप

अर्थः—१. व्रत करना, २. थोड़ा खाना, ३. नाना प्रकार के अभिग्रह करने, ४. रस—दूध, दही, घृत, तैल, मीठा, पकान्न, का त्याग करना, ५. कायक्लेश—वीरासन, दण्डासन आदि के द्वारा अनेक तरे का कायक्लेश करना, ६. पांचो इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से रोकना, ए छः प्रकार का बाह्य तप है। १. प्रथम जो कुछ अयोग्य काम करा अरु पीछे से गुरु के आगे जैसा करा था, वैसे ही प्रगट-पने कहना, आगे को फिर वो पाप न करना, अरु प्रथम जो करा है, उस की निवृत्ति के वास्ते गुरु से यथा योग्य दण्ड लेना, इस का नाम प्रायश्चित है। २. अपने से गुणाधिक की विनय करनी। ३. वैयावृत्य—भक्ति करनी। ४. (१) आप पढ़ना अरु दूसरों को पढ़ाना, (२) उस में संशय उत्पन्न होवे, तो गुरु को पूछना, (३) अपने सीखे हुये को वार वार

अथ बारां प्रकार का तप लिखते हैं:—

अणसणमूणोयरिया, वित्तिसंखेवणं रसच्चाओ ।
कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥
पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाणं उस्सग्गोविय, अब्भिंतरओ तवो होइ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५६०-५६१, दशवै० नि०, गा०, ४७-४८]

बारह प्रकार का तप

अर्थः—१. व्रत करना, २. थोड़ा खाना, ३. नाना प्रकार के अभिग्रह करने, ४. रस—दूध, दही, घृत, तैल, मीठा, पक्वान्न, का त्याग करना, ५. कायक्लेश—वीरासन, दण्डासन आदि के द्वारा अनेक तरे का कायक्लेश करना, ६. पांचो इन्द्रियों को अपने अपने विषयों से रोकना, ए छः प्रकार का बाह्य तप है। १. प्रथम जो कुछ अयोग्य काम करा अरु पीछे से गुरु के आगे जैसा करा था, वैसे ही प्रगट-पने कहना, आगे को फिर वो पाप न करना, अरु प्रथम जो करा है, उस की निवृत्ति के वास्ते गुरु से यथा योग्य दण्ड लेना, इस का नाम प्रायश्चित है। २. अपने से गुणाधिक की विनय करनी। ३. वैयावृत्त्य—भक्ति करनी। ४. (१) आप पढ़ना अरु दूसरों को पढ़ाना, (२) उस में संशय उत्पन्न होवे, तो गुरु को पूछना, (३) अपने सीखे हुये को बार बार

पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणंतु ॥

[ओ० नि० भा०, गा० ३, प्रव० सा०, गा० ५६३]

अर्थः—पिंडविशुद्धि—आहार, उपाश्रय, वस्त्र, पात्र, ए चार वस्तु को साधु ४२ दोष टाल कर ग्रहण करे, तिस का नाम पिंडविशुद्धि है । बैतालीस दूषण का जो पूरा स्वरूप देखना होवे, तो भद्रबाहुस्वामिकृत पिंडनिर्युक्ति की मलयगिरिसूरिकृत टीका सात हजार श्लोक प्रमाण है, सो देखनी, तथा जिनवल्लभसूरिकृत पिंडविशुद्धि ग्रन्थ और उस की जिनपतिसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीनेमिचन्द्रसूरिकृत प्रवचनसारोद्धार, तथा उस की श्री सिद्धसेनसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योग शास्त्र से जान लेना ।

पांच समिति

अब समिई—समिति पांच प्रकार की है, उसका स्वरूप लिखते हैं। प्रथम ईर्या समिति, सो चलने को इर्या कहते हैं, अरु सम्यक्— आगम के अनुसार जो प्रवृत्ति-चेष्टा करनी, सो समिति कहिये। त्रस स्थावर जीवों को अभयदान के देने वाला जो मुनि है, तिस मुनि को जे कर किसी आवश्यक प्रयोजन के वास्ते चलना पड़े, तो किस रीति से चलना? प्रथम तो प्रसिद्ध रस्ते से चलना। जो रस्ता सूर्य की किरणों

पडिलेहण गुत्तीओ अभिग्गहा चेव करणंतु ॥

[ओ० नि० भा०, गा० ३, प्रव० सा०, गा० ५६३]

अर्थः—पिंडविशुद्धि—आहार, उपाश्रय, वस्त्र, पात्र, ए चार वस्तु को साधु ४२ दोष टाल कर ग्रहण करे, तिस का नाम पिंडविशुद्धि है । बैतालीस दूषण का जो पूरा स्वरूप देखना होवे, तो भद्रबाहुस्वामिकृत पिंडनिर्युक्ति की मलयगिरिसूरिकृत टीका सात हजार श्लोक प्रमाण है, सो देखनी, तथा जिनवल्लभसूरिकृत पिंडविशुद्धि ग्रन्थ और उस की जिनपतिसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीनेमिचन्द्रसूरिकृत प्रवचनसारोद्धार, तथा उस की श्री सिद्धसेनसूरिकृत टीका से जान लेना, तथा श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योग शास्त्र से जान लेना ।

पांच समिति

अब समिई—समिति पांच प्रकार की है, उसका स्वरूप लिखते हैं। प्रथम ईर्या समिति, सो चलने को इर्या कहते हैं, अरु सम्यक्—आगम के अनुसार जो प्रवृत्ति-चेष्टा करनी, सो समिति कहिये। त्रस स्थावर जीवों को अभयदान के देने वाला जो मुनि है, तिस मुनि को जे कर किसी आवश्यक प्रयोजन के वास्ते चलना पड़े, तो किस रीति से चलना? प्रथम तो प्रसिद्ध रस्ते से चलना। जो रस्ता सूर्य की किरणों

एकत्व भावना, ५. अन्यत्व भावना, ६. अशुचित्व भावना, ७. आश्रवभावना, ८. संवरभावना, ९. निर्जराभावना,

बारह भावनाएं १०. लोकस्वभाव भावना, ११. बोधिदुर्लभ भावना, १२ धर्मभावना है। यह बारां भावना जिस तरे से रात दिनमें भावने योग्य हैं, तैसे अभ्यास करना। अब इन बारां भावनाओं का किंचित् स्वरूप लिखते हैं।

पहली–अनित्यभावना कहते हैं:—जिन का वज्र की तरें सार अरु कठिन शरीर था, वो भी अनित्य रूप राक्षस ने भक्षण कर लिये, तो फिर केले के गर्भ की तरें निःसार जीवों के जो शरीर हैं, सो इस अनित्य रूप राक्षस से कैसे बचेंगे? तथा लोग बिल्ली की तरें आनन्दित हो कर विषयसुख का दूध की तरें स्वाद लेते हैं, परन्तु लाठी की मार को नहीं देखते हैं, अर्थात् विषय सुख भोग कर आनन्द तो मानते हैं, परन्तु जन्मांतरमें प्राप्त होने वाले नरकपतन रूप संकट से नहीं डरते हैं। तथा जीवों का शरीर तो पानी के बुलबुले की तरे है, अरु जीवन जो है, सो ध्वजा की तरे चंचल है, तथा स्त्री, परिवार, आंख के झमकने की तरें चंचल हैं। अरु यौवन जो है, सो हाथी के कान की तरें चंचल है, तथा स्वामीपना जो है, सो स्वप्न श्रेणी की तरें है, अरु लक्ष्मी जो है सो चपला-बिजली की तरें चंचल है। इसी तरें सर्व पदार्थों की अनित्यता को विचारते हुए यदि प्यारा पुत्रादिक भी मर जावे, तो भी अपने मन में सोच न करे। तथा जो मूर्ख जीव सर्व

एकत्व भावना, ५. अन्यत्व भावना, ६. अशुचित्व भावना, ७. आश्रवभावना, ८.संवरभावना, ९.निर्जराभावना,

बारह भावनाएं १०. लोकस्वभाव भावना, ११. बोधिदुर्लभ भावना, १२ धर्मभावना है। यह बारां भावना जिस तरे से रात दिनमें भावने योग्य हैं,तैसे अभ्यास करना। अब इन बारां भावनाओं का किंचित् स्वरूप लिखते हैं।

पहली—अनित्यभावना कहते हैंः—जिन का वज्र की तरें सार अरु कठिन शरीर था, वो भी अनित्य रूप राक्षस ने भक्षण कर लिये, तो फिर केले के गर्भ की तरें निःसार जीवों के जो शरीर हैं, सो इस अनित्य रूप राक्षस से कैसे बचेंगे? तथा लोग बिल्ली की तरें आनन्दित हो कर विषयसुख का दूध की तरें स्वाद लेते हैं, परन्तु लाठी की मार को नहीं देखते हैं, अर्थात् विषय सुख भोग कर आनन्द तो मानते हैं, परन्तु जन्मांतरमें प्राप्त होने वाले नरकपतन रूप संकट से नहीं डरते हैं। तथा जीवों का शरीर तो पानी के बुलबुले की तरे है,अरु जीवन जो है,सो ध्वजा की तरे चंचल है, तथा स्त्री, परिवार, आंख के झमकने की तरें चंचल हैं। अरु यौवन जो है, सो हाथी के कान की तरें चंचल है, तथा स्वामीपना जो है, सो स्वप्न श्रेणी की तरें है, अरु लक्ष्मी जो है सो चपला-विजली की तरें चंचल है। इसी तरें सर्व पदार्थों की अनित्यता को विचारते हुए यदि प्यारा पुत्रादिक भी मर जावे, तो भी अपने मन में सोच न करे। तथा जो मूर्ख जीव सर्व

अतः स्त्री, मित्र, पुत्रादिकों के स्नेहरूप भूत के दूर करने के वास्ते शुद्धमति जीव अशरण भावना को भावे ।

तीसरी संसार भावना कहते हैं:—बुद्धिमान् तथा बुद्धि रहित, सुखी, दुःखी रूपवान् तथा कुरूपवान्, स्वामी तथा दास, प्यारा तथा वैरी, राजा तथा प्रजा, देवता, मनुष्य, तिर्यक्, नारक, इत्यादिक अनेक प्रकार के कर्मों के वश से सांग धार कर, इस संसार रूप अखाड़े में यह जीव नाटक करता है । तथा अनेक प्रकार के पापों—महारंभ, मांसभक्षण, मदिरापानादिक करके महा अंधकार युक्त-जहां कुछ नहीं दीखता, ऐसी नरक भूमिका में जा पड़ता है । तिहां पर अङ्गच्छेदन, अग्नि में जलनादि क्लेश रूप महा दुःख जो जीव को होते हैं, उन दुःखों को केवली भी कथन नहीं कर सकता । यह प्रथम नरक गति कही । तथा छल, झूठादि कारणों से प्राणी तिर्यंच गति में सिंह, वाघ, हाथी, मृग, बैल, बकरे आदि के शरीर धारण करता है । अरु तिस तिर्यंच गति में क्षुधा, तृषा, वध, बन्धन, ताडन, रोग, हल प्रमुख में वहना-जुतना इत्यादिक जो दुःख जीव सदा सहता है, वो कौन कहने को समर्थ है ? यह दूसरी तिर्यग्गति कही । तथा मनुष्यों में कितने ही खाद्य, अखाद्य में विवेक शून्य हैं, मनमें लज्जा नहीं रखते हैं, अरु गम्यागम्य का विचार नहीं करते हैं । जो अनार्य मनुष्य हैं, वो तो निरंतर जीवघात, मांसभक्षण, चोरी, परस्त्रीगमन प्रमुख कारणों करके बड़ा भारी

अतः स्त्री, मित्र, पुत्रादिकों के स्नेहरूप भूत के दूर करने के वास्ते शुद्धमति जीव अशरण भावना को भावे ।

तीसरी संसार भावना कहते हैं:—बुद्धिमान् तथा बुद्धि रहित, सुखी, दुःखी रूपवान् तथा कुरूपवान्, स्वामी तथा दास, प्यारा तथा वैरी, राजा तथा प्रजा, देवता, मनुष्य, तिर्यक्, नारक, इत्यादिक अनेक प्रकार के कर्मों के वश से सांग धार कर, इस संसार रूप अखाडे में यह जीव नाटक करता है । तथा अनेक प्रकार के पापों—महारंभ, मांसभक्षण, मदिरापानादिक करके महा अंधकार युक्त-जहां कुछ नहीं दीखता, ऐसी नरक भूमिका में जा पड़ता है । तिहां पर अङ्गच्छेदन, अग्नि में जलनादि क्लेश रूप महा दुःख जो जीव को होते हैं, उन दुःखों को केवली भी कथन नहीं कर सकता । यह प्रथम नरक गति कही । तथा छल, झूठादि कारणों से प्राणी तिर्यंच गति में सिंह, बाघ, हाथी, मृग, बैल, बकरे आदि के शरीर धारण करता है । अरु तिस तिर्यंच गति में क्षुधा, तृषा, वध, बन्धन, ताडन, रोग, हल प्रमुख में वहना-जुतना इत्यादिक जो दुःख जीव सदा सहता है, वो कौन कहने को समर्थ है ? यह दूसरी तिर्यग्गति कही । तथा मनुष्यों में कितने हो खाद्य, अखाद्य में विवेक शून्य हैं, मनमें लज्जा नहीं रखते हैं, अरु गम्यागम्य का विचार नहीं करते हैं । जो अनार्य मनुष्य हैं, वो तो निरंतर जीवघात, मांसभक्षण, चोरी, परस्त्रीगमन प्रमुख कारणों करके बड़ा भारी

है, अरु अकेला ही फल भोगता है। तथा इस जीव ने बहुत कष्ट करके जो धन *उपार्ज्या है, सो धन तो स्त्री, मित्र, पुत्र, भाई प्रमुख खा जावेंगे, अरु जो पाप कर्म उपार्ज्या है, उस का फल तो करने वाला जीव अकेला ही नरक, तिर्यंच गति में जा कर भोगता है। देखो यह कैसा आश्चर्य है! तथा यह जीव जिस देह के वास्ते रात दिन फिरता है, अरु दीनपना अवलम्बन करता है, धर्म से भ्रष्ट होता है, अपने हित को ठगाता है, न्याय से दूर होता है; सो देह इस आत्मा के साथ एक पग तक भी परभव में न चलेगी। तो फिर यह देह क्या करेगी? क्या साहाय्य देगी? अरु स्वजन जो हैं, सो अपने २ स्वार्थ में तत्पर हैं, वास्तव में तेरा कोई भी नहीं है। इस वास्ते हे बुद्धिमान्! तू अपने हित के वास्ते धर्म करने में प्रयत्न कर। इस तरे से जीव चौथी एकत्व भावना भावे।

पांचमी अन्यत्व भावना कहते हैं:—जीव इस देह को छोड़ कर परलोक को जाता है, इस वास्ते इस शरीर से जीव भिन्न है, तो फिर इस शरीर पर नाना प्रकार का सुगन्धित लेप करना व्यर्थ है। तथा इस शरीर को कोई दंडादि करके मारे तो साधु को समता रस पीना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये। जो पुरुष अन्यत्वभावना से भावित है, तिस को शरीर, धन, पुत्रादिक के वियोग होने से भी शोक नहीं होता।

* एकत्रित किया है।

है, अरु अकेला ही फल भोगता है। तथा इस जीव ने बहुत कष्ट करके जो धन *उपार्ज्या है, सो धन तो स्त्री, मित्र, पुत्र, भाई प्रमुख खा जावेंगे, अरु जो पाप कर्म उपार्ज्या है, उस का फल तो करने वाला जीव अकेला ही नरक, तिर्यंच गति में जा कर भोगता है। देखो यह कैसा आश्चर्य है! तथा यह जीव जिस देह के वास्ते रात दिन फिरता है, अरु दीनपना अवलम्बन करता है, धर्म से भ्रष्ट होता है, अपने हित को ठगाता है, न्याय से दूर होता है; सो देह इस आत्मा के साथ एक पग तक भी परभव में न चलेगी। तो फिर यह देह क्या करेगी? क्या साहाय्य देगी? अरु स्वजन जो हैं, सो अपने २ स्वार्थ में तत्पर हैं, वास्तव में तेरा कोई भी नहीं है। इस वास्ते हे बुद्धिमान्! तू अपने हित के वास्ते धर्म करने में प्रयत्न कर। इस तरे से जीव चौथी एकत्व भावना भावे।

पांचमी अन्यत्व भावना कहते हैं:—जीव इस देह को छोड़ कर परलोक को जाता है, इस वास्ते इस शरीर से जीव भिन्न है, तो फिर इस शरीर पर नाना प्रकार का सुगन्धित लेप करना व्यर्थ है। तथा इस शरीर को कोई दंडादि करके मारे तो साधु को समता रस पीना चाहिये, क्रोध न करना चाहिये। जो पुरुष अन्यत्वभावना से भावित है, तिस को शरीर, धन, पुत्रादिक के वियोग होने से भी शोक नहीं होता।

* एकत्रित किया है।

रूपता का विचार करके बुद्धिमान् पुरुष, इस शरीर का ममत्व न करे। इस तरे से जीव छठी भावना भावे।

सातमी आश्रव भावना कहते हैं:—मन, वचन, और काया के योग करके शुभाशुभ कर्म, जो जीव ग्रहण करते हैं, तिस का नाम आश्रव है। जिनेश्वर देव कहते हैं कि *सर्व जीवों विषे मैत्री भावना, गुणाधिक जीव में प्रमोद भावना, अविनीत शिष्यादिक में मध्यस्थ भावना, दुःखी जीवों में कारुण्य भावना, इन चारों भावनाओं करके जिस पुरुष का अन्तःकरण निरन्तर वासित होवे, वो पुण्यवान् जीव बैतालीस प्रकार का पुण्य उपार्जन करता है। तथा रौद्रध्यान, आर्त्तध्यान, †पांच प्रकार का मिथ्यात्व, ‡सोलां प्रकार का कषाय, पांच प्रकार का विषय, इनों करके जिनों का मन वासित है, वे जीव, व्यासी प्रकार का अशुभ कर्म उपार्जन

---

* सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देवं !

[सामायिकपाठ, श्लो० १]

† आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक, अनाभोगिक—ये मिथ्यात्व के पांच भेद हैं।

[विशेष के लिये देखो गुणस्थान क्रमारोह, प्रथम गुणस्थान।]

‡ क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों में से प्रत्येक के क्रमशः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, ये चार चार भेद होने से सोलह प्रकार का कषाय हो जाता है।

रूपता का विचार करके बुद्धिमान् पुरुष, इस शरीर का ममत्व न करे। इस तरे से जीव छठी भावना भावे।

सातमी आश्रव भावना कहते हैं:—मन, वचन, और काया के योग करके शुभाशुभ कर्म, जो जीव ग्रहण करते हैं, तिस का नाम आश्रव है। जिनेश्वर देव कहते हैं कि *सर्व जीवों विषे मैत्री भावना, गुणाधिक जीव में प्रमोद भावना, अविनीत शिष्यादिक में मध्यस्थ भावना, दुःखी जीवों में कारुण्य भावना, इन चारों भावनाओं करके जिस पुरुष का अन्तःकरण निरन्तर वासित होवे, वो पुण्यवान् जीव बैतालीस प्रकार का पुण्य उपार्जन करता है। तथा रौद्रध्यान, आर्त्तध्यान, †पांच प्रकार का मिथ्यात्व, ‡सोलां प्रकार का कषाय, पांच प्रकार का विषय, इनों करके जिनों का मन वासित है, वे जीव, ब्यासी प्रकार का अशुभ कर्म उपार्जन

---

* सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देवं!

[सामायिकपाठ, श्लो० १]

† आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक, अनाभोगिक—ये मिथ्यात्व के पांच भेद हैं।

[विशेष के लिये देखो गुणस्थान क्रमारोह, प्रथम गुणस्थान।]

‡ क्रोध, मान, माया, लोभ—इन चार कषायों में से प्रत्येक के क्रमशः अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, ये चार चार भेद होने से सोलह प्रकार का कषाय हो जाता है।

संवर है, सो एक दो प्रमुख आश्रव के निरोध करने वाले में होता है। फिर यह संवर दो प्रकार का है, एक द्रव्यसंवर, दूसरा भावसंवर। आश्रव करके जो कर्म पुद्गल जीव ग्रहण करता है, तिनका जो देश से वा सर्व प्रकार से छेदन करना, सो द्रव्य संवर, अरु जो भवहेतु क्रिया का त्याग, सो भावसंवर है। मिथ्यात्व, कषाय प्रमुख आश्रवों को जो बुद्धिमान् उपाय करके निरोध करे, आर्त्त और रौद्र ध्यान को वर्जे, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यानको ध्यावे, क्रोध को क्षमा करके जीते, मान को मृदु भाव करके जीते, माया को सरलता करके जीते, लोभ को सन्तोष करके जीते, इन्द्रियों के विषय-इष्टा निष्ट को रागद्वेष के त्यागने से जीते। इस प्रकार जो बुद्धिमान् संवर भावना भावे तो स्वर्ग मोक्ष रूप लक्ष्मी अवश्य उस के वशी भूत हो जाती है।

नवमी निर्जरा भावना लिखते हैं:—संसार की हेतुभूत जो कर्म की संतति है, तिस को अतिशय करके जो हानि करे, तिस का नाम निर्जरा है। सो निर्जरा दो प्रकार की है। एक सकाम निर्जरा, दूसरी अकाम निर्जरा, इन दोनों में से जो सकाम निर्जरा है, सो उपशांत चित्तवाले साधु को होती है, अरु अकाम निर्जरा शेष जीवों को होती है। ए दोनों निर्जरा उदाहरण से कहते हैं। कर्म का पाक स्वयमेव होता है, अरु उपाय से भी होता है; जैसे आम्र का फल स्वयमेव वृक्ष की डाली में लगा हुआ ही पक जाता

संवर है, सो एक दो प्रमुख आश्रव के निरोध करने वाले में होता है। फिर यह संवर दो प्रकार का है, एक द्रव्यसंवर, दूसरा भावसंवर। आश्रव करके जो कर्म पुद्गल जीव ग्रहण करता है, तिनका जो देश से वा सर्व प्रकार से छेदन करना, सो द्रव्य संवर, अरु जो भवहेतु क्रिया का त्याग, सो भावसंवर है। मिथ्यात्व, कषाय प्रमुख आश्रवों को जो बुद्धिमान् उपाय करके निरोध करे, आर्त्त और रौद्र ध्यान को वर्जे, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यानको ध्यावे, क्रोध को क्षमा करके जीते, मान को मृदु भाव करके जीते, माया को सरलता करके जीते, लोभ को सन्तोष करके जीते, इन्द्रियों के विषय-इष्टानिष्ट को रागद्वेष के त्यागने से जीते। इस प्रकार जो बुद्धिमान् संवर भावना भावे तो स्वर्ग मोक्ष रूप लक्ष्मी अवश्य उस के वशी भूत हो जाती है।

नवमी निर्जरा भावना लिखते हैं:—संसार की हेतुभूत जो कर्म की संतति है, तिस को अतिशय करके जो हानि करे, तिस का नाम निर्जरा है। सो निर्जरा दो प्रकार की है। एक सकाम निर्जरा, दूसरी अकाम निर्जरा, इन दोनों में से जो सकाम निर्जरा है, सो उपशांत चित्तवाले साधु को होती है, अरु अकाम निर्जरा शेष जीवों को होती है। ए दोनों निर्जरा उदाहरण से कहते हैं। कर्म का पाक स्वयमेव होता है, अरु उपाय से भी होता है; जैसे आम्र का फल स्वयमेव वृक्ष की डाली में लगा हुआ ही पक जाता

में न्यारी न्यारी नीचे ऊपर सात पृथ्वी हैं, उन में नरकवासी जीव रहते हैं। तथा किसी जगे भवनपति अरु व्यंतर भी रहते हैं। तिरछे लोक में मनुष्य, तिर्यंच और व्यंतर भी रहते हैं। ऊर्ध्व लोक में देवता रहते हैं। विशेष करके जो लोकस्वरूप देखना होवे, तो लोकनाडीद्वात्रिंशतिका से तथा लोकप्रकाश ग्रन्थ से जान लेना। इस तरे लोक के स्वरूप का जो चिंतन करना है, सो दशमी लोक स्वभाव भावना है।

ग्यारवीं बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं:—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, इन में अपने करे हुए क्लिष्ट कर्मों करके जीव भ्रमण करता है। इस भयानक संसार में अनंतानंत पुद्गलपरावर्त्तन करता हुआ यह जीव अकाम निर्जरा करके, अरु पुण्य उपार्जन करके, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय रूप त्रस भाव को पावे है। फिर आर्यक्षेत्र, सुजाति, भला कुल, रोगरहित शरीर, संपदा, राज्यसुख, हलके कर्म और तत्त्वातत्त्व के विवेचन करने वाली, बोध बीज के बोने वाली, कर्मक्षय करके मोक्ष सुखों की जननी, ऐसी श्री सर्वज्ञ अर्हंत की देशना मिलनी बहुत दुर्लभ है। जेकर जीव एक वार भी सम्यक्त्वरूप बोधि को प्राप्त कर लेता, तो इतने काल तक कदापि संसार में पर्यटन न करता। जो अतीत काल में सिद्ध हुए, जो वर्त्तमान में सिद्ध होते हैं, अरु जो अनागत काल में सिद्ध होंगे, वे

में न्यारी न्यारी नीचे ऊपर सात पृथ्वी हैं, उन में नरकवासी जीव रहते हैं। तथा किसी जगे भवनपति अरु व्यंतर भी रहते हैं। तिरछे लोक में मनुष्य, तिर्यंच और व्यंतर भी रहते हैं। ऊर्ध्व लोक में देवता रहते हैं। विशेष करके जो लोकस्वरूप देखना होवे, तो लोकनाडीद्वात्रिंशतिका से तथा लोकप्रकाश ग्रन्थ से जान लेना। इस तरे लोक के स्वरूप का जो चिंतन करना है, सो दशमी लोक स्वभाव भावना है।

ग्यारवीं बोधिदुर्लभ भावना कहते हैं:—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, इन में अपने करे हुए क्लिष्ट कर्मों करके जीव भ्रमण करता है। इस भयानक संसार में अनंतानंत पुद्गलपरावर्त्तन करता हुआ यह जीव अकाम निर्जरा करके, अरु पुण्य उपार्जन करके, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय रूप त्रस भाव को पावे है। फिर आर्यक्षेत्र, सुजाति, भला कुल, रोगरहित शरीर, संपदा, राज्यसुख, हलके कर्म और तत्त्वातत्त्व के विवेचन करने वाली, बोध बीज के बोने वाली, कर्मक्षय करके मोक्ष सुखों की जननी, ऐसी श्री सर्वज्ञ अर्हंत की देशना मिलनी बहुत दुर्लभ है। जेकर जीव एक वार भी सम्यक्त्वरूप बोधि को प्राप्त कर लेता, तो इतने काल तक कदापि संसार में पर्यटन न करता। जो अतीत काल में सिद्ध हुए, जो वर्त्तमान में सिद्ध होते हैं, अरु जो अनागत काल में सिद्ध होंगे, वे

नहीं हैं, अरु यथार्थ पालते नहीं हैं । प्रथम तो उन शास्त्रों के जो उपदेशक हैं, वे ही कामाग्नि में प्रज्वलित थे, यह बात सर्व सुज्ञ जनों को विज्ञात है। इस वास्ते अर्हंत भगवन्त ही सत्यार्थ के उपदेशक हैं। तथा बड़े २ मदझर हाथियों की घटा संयुक्त जो राज्य का पावना, और सर्व जनों को आनन्द देने वाली संपदा का पावना, तथा जो चन्द्रमा की तरे निर्मल गुणों के समूह को पावना, अरु उत्कृष्ट सौभाग्य का विस्तार पावना, यह सर्व धर्म ही का प्रभाव है । तथा समुद्र जो पृथिवी को अपनी कल्लोलों से बहाता नहीं है, तथा मेघ जो सर्व पृथिवी को रेलपेल नहीं करता, अरु चन्द्रमा, सूर्य जो उदय होते हैं, सर्व अन्धकार का विच्छेद करते हैं, सो सर्व जयवन्त धर्म का ही प्रभाव है । जिस का भाई नहीं, जिस का मित्र नहीं, जिस रोगी का कोई वैद्य नहीं, जिस के पास धन नहीं, जिस का कोई नाथ नहीं, जिस में कोई गुण नहीं, उन सर्व का भाई, मित्र, वैद्य, धन, नाथ, गुणों का निधान धर्म है। तथा यह जो अर्हंत का कथन किया हुआ धर्म है, सो महापथ्य है, ऐसे जो भव्यजीव मन में ध्यावे, सो धर्म में दृढतर होवे। एक ही निर्मल धर्म भावना को निरन्तर जी जीव मन में ध्यावे, सो भव्य अशेष पाप कर्म नाश करके अनेक जीवों को उपदेश द्वारा सुखी करके परम पद को प्राप्त होता है, तो फिर जो बारां ही भावना को भावे, तिस को परमपद की प्राप्ति होने में क्या आश्चर्य है ? यह

नहीं हैं, अरु यथार्थ पालते नहीं हैं । प्रथम तो उन शास्त्रों के जो उपदेशक हैं, वे ही कामाग्नि में प्रज्वलित थे, यह बात सर्व सुज्ञ जनों को विज्ञात है । इस वास्ते अर्हंत भगवन्त ही सत्यार्थ के उपदेशक हैं । तथा बड़े २ मद्झर हाथियों की घटा संयुक्त जो राज्य का पावना, और सर्व जनों को आनन्द देने वाली संपदा का पावना, तथा जो चन्द्रमा की तरे निर्मल गुणों के समूह को पावना, अरु उत्कृष्ट सौभाग्य का विस्तार पावना, यह सर्व धर्म ही का प्रभाव है । तथा समुद्र जो पृथिवी को अपनी कल्लोलों से बहाता नहीं है, तथा मेघ जो सर्व पृथिवी को रेलपेल नहीं करता, अरु चन्द्रमा, सूर्य जो उदय होते हैं, सर्व अन्धकार का विच्छेद करते हैं, सो सर्व जयवन्त धर्म का ही प्रभाव है । जिस का भाई नहीं, जिस का मित्र नहीं, जिस रोगी का कोई वैद्य नहीं, जिस के पास धन नहीं, जिस का कोई नाथ नहीं, जिस में कोई गुण नहीं, उन सर्व का भाई, मित्र, वैद्य, धन, नाथ, गुणों का निधान धर्म है । तथा यह जो अर्हंत का कथन किया हुआ धर्म है, सो महापथ्य है, ऐसे जो भव्यजीव मन में ध्यावे, सो धर्म में दृढतर होवे । एक ही निर्मल धर्म भावना को निरन्तर जो जीव मन में ध्यावे, सो भव्य अशेष पाप कर्म नाश करके अनेक जीवों को उपदेश द्वारा सुखी करके परम पद को प्राप्त होता है, तो फिर जो बारां ही भावना को भावे, तिस को परमपद की प्राप्ति होने में क्या आश्चर्य है ? यह

करके उस की आज्ञा से, तथा गच्छ की आज्ञा लेकर करे। तथा प्रथम अपने गच्छ में ही रह कर प्रतिमा अंगीकार करने का प्रतिकर्म करे। सो प्रतिकर्म यह है:— मासादिक सात जो प्रतिमा हैं, तिन का प्रतिकर्म भी उतना ही है, वर्षा काल में ए प्रतिमा नहीं अङ्गीकार करी जाती है। अरु प्रतिकर्म भी वर्षा काल में नहीं करना। तथा आदि की दो प्रतिमा एक वर्ष में होती हैं, तीसरी एक वर्ष में, चौथी एक वर्ष में, शेष पांचमी, छठी, सातमी, इन तीनों प्रतिमाओं का एक वर्ष में प्रतिकर्म, एक वर्ष में प्रतिपत्ति, ऐसे नव वर्ष में आदिकी सात प्रतिमा समाप्त होती हैं।

जो यह प्रतिमा अङ्गीकार करता है, उस का कितना श्रुतज्ञान होता है? उस का श्रुतज्ञान किंचित् न्यून दश पूर्व तक होता है। और जिस को सम्पूर्ण दश पूर्व की विद्या होती है, उस का वचन अमोघ होता है। तथा उस के उपदेश से बहुत से भव्य जीवों का उपकार अरु तीर्थ की वृद्धि होती है। इस कार्य में बाधा न आवे, इस वास्ते वो प्रतिमा आदि कल्प अङ्गीकार नहीं करता *। अरु प्रतिमा का अङ्गीकार करने वालों को जघन्य श्रुतज्ञान नवमे पूर्व की तीसरी वस्तु— आचार वस्तु तक होवे। यह ज्ञान सूत्र तथा अर्थ दोनों ही रूप से होता है। जो इस ज्ञान से रहित है, वो निरतिशय

* संम्पूर्णदशपूर्वधरो हि अमोघवचनत्वाद्धर्मदेशनया भव्योपकारित्वेन तीर्थवृद्धिकारित्वात्प्रतिमादिकल्पं न प्रतिपद्यते। [प्र० सा, गा० ५७६ की वृत्ति]

करके उस की आज्ञा से, तथा गच्छ की आज्ञा लेकर करे। तथा प्रथम अपने गच्छ में ही रह कर प्रतिमा अंगीकार करने का प्रतिकर्म करे। सो प्रतिकर्म यह है:—मासादिक सात जो प्रतिमा हैं, तिन का प्रतिकर्म भी उतना ही है, वर्षा काल में ए प्रतिमा नहीं अङ्गीकार करी जाती है। अरु प्रतिकर्म भी वर्षा काल में नहीं करना। तथा आदि की दो प्रतिमा एक वर्ष में होती हैं, तीसरी एक वर्ष में, चौथी एक वर्ष में, शेष पांचमी, छठी, सातमी, इन तीनों प्रतिमाओं का एक वर्ष में प्रतिकर्म, एक वर्ष में प्रतिपत्ति, ऐसे नव वर्ष में आदिकी सात प्रतिमा समाप्त होती हैं।

जो यह प्रतिमा अङ्गीकार करता है, उस का कितना श्रुतज्ञान होता है? उस का श्रुतज्ञान किंचित् न्यून दश पूर्व तक होता है। और जिस को सम्पूर्ण दश पूर्व की विद्या होती है, उस का वचन अमोघ होता है। तथा उस के उपदेश से बहुत से भव्य जीवों का उपकार अरु तीर्थ की वृद्धि होती है। इस कार्य में बाधा न आवे, इस वास्ते वो प्रतिमा आदि कल्प अङ्गीकार नहीं करता *। अरु प्रतिमा का अङ्गीकार करने वालों को जघन्य श्रुतज्ञान नवमे पूर्व की तीसरी वस्तु—आचार वस्तु तक होवे। यह ज्ञान सूत्र तथा अर्थ दोनों ही रूप से होता है। जो इस ज्ञान से रहित है, वो निरतिशय

---

* संम्पूर्णदशपूर्वधरो हि अमोघवचनत्वाद्धर्मदेशनया भव्योपकारित्वेन तीर्थवृद्धिकारित्वात्प्रतिमादिकल्पं न प्रतिपद्यते। [प्र० सा, गा० ५७६ की वृत्ति]

एकः पंचसु सक्तः, प्रयाति भस्मान्ततां मूढः ॥२॥
तुरगैरिव तरलतरै-र्दुर्दान्तैरिंद्रियैः समाकृष्य।
उन्मार्गे नीयंते, तमोघने दुःखदे जीवाः ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां जये तस्मा-द्यत्नः कार्यः सुबुद्धिभिः ।
तज्जयो येन भविनां, परत्रेह च शर्मणे ॥ ४ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५८६ की वृत्ति में उद्धृत]

अथ * प्रतिलेखना जैन साधुओं में प्रसिद्ध है, इस वास्ते नहीं लिखी।

ही मूर्ख—परमार्थ को न जानते हुए नष्ट हो जाते हैं। फिर एक प्राणी जो कि पांचों ही विषयों में आसक्त होवे, उस मूर्ख की क्या दशा होगी! अर्थात् वह सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥२॥

जिस प्रकार चंचल, हठी घोड़े अपने सवार को विकट मार्ग में ले जा कर पटक देते हैं। इसी प्रकार ये चपल इन्द्रियां भी प्राणी को कुमार्ग की तरफ़ बल पूर्वक खींच ले जाती हैं ॥३॥

अतः बुद्धिमान् मनुष्यों को इन इन्द्रियों के जय करने में सर्वदा यत्नशील रहना चाहिये। जिस से कि इहलोक और परलोक में सुख की प्राप्ति हो ॥४॥

* प्रतिलेखना के २५ भेद हैं। साधु के वस्त्र, पात्र आदि जो धर्मोपकरण [संयमनिर्वाह के लिये जिन के रखने की शास्त्रों में आज्ञा है] हैं; उन की शास्त्रविधि पूर्वक देख भाल करनी—उन को झाड़ना,

एकः पंचसु सक्तः, प्रयाति भस्मान्ततां मूढः ॥२॥
तुरगैरिव तरलतरै–र्दुर्दांतैरिंद्रियैः समाकृष्य।
उन्मार्गे नीयंते, तमोघने दुःखदे जीवाः ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणां जये तस्मा-द्यत्नः कार्यः सुबुद्धिभिः ।
तज्जयो येन भविनां, परत्रेह च शर्मणे ॥ ४ ॥

[प्रव० सा०, गा० ५८६ की वृत्ति में उद्धृत]

अथ * प्रतिलेखना जैन साधुओं में प्रसिद्ध है, इस वास्ते नहीं लिखी।

ही मूर्ख—परमार्थ को न जानते हुए नष्ट हो जाते हैं। फिर एक प्राणी जो कि पांचों ही विषयों में आसक्त होवे, उस मूर्ख की क्या दशा होगी ! अर्थात् वह सर्वथा नष्ट हो जायगा ॥२॥

जिस प्रकार चंचल, हठी घोड़े अपने सवार को विकट मार्ग में ले जा कर पटक देते हैं। इसी प्रकार ये चपल इन्द्रियां भी प्राणी को कुमार्ग की तरफ़ बल पूर्वक खींच ले जाती हैं ॥३॥

अतः बुद्धिमान् मनुष्यों को इन इन्द्रियों के जय करने में सर्वदा यत्नशील रहना चाहिये। जिस से कि इहलोक और परलोक में सुख की प्राप्ति हो ॥४॥

* प्रतिलेखना के २५ भेद हैं। साधु के वस्त्र, पात्र आदि जो धर्मोपकरण [संयमनिर्वाह के लिये जिन के रखने की शास्त्रों में आज्ञा है] हैं; उन की शास्त्रविधि पूर्वक देख भाल करनी—उन को झाड़ना,

अंगुली निर्देश, ऊंचा होना, खांसना, हुंकारा करना, पत्थर फैंकना आदि हेतुओं से अपने किसी कार्य विशेष की सूचना करने का त्याग करना, ए प्रथम वचन गुप्ति। क्योंकि जब चेष्टा द्वारा सब कुछ सूचन कर दिया, तब मौन रहना व्यर्थ है। दूसरे के प्रश्न का उत्तर देना, लोक अरु आगम से विरोध न होवे तैसे और वस्त्रादिक से मुख का यत्न करके बोलना, ए दूसरी वचन गुप्ति। इन दोनों भेदों करके वचन का निरोध, अरु सम्यक् भाषणरूप वचन गुप्ति जाननी।

कायागुप्ति दो प्रकार से है। १. चेष्टा का निषेध, २. आगम के अनुसार चेष्टा का नियम करना। तहां देवता और मनुष्यादि के उपसर्ग में क्षुधा तृषादि परिषहों के उत्पन्न होने से कायोत्सर्गादि के द्वारा शरीर को निश्चल करना, तथा अयोगी अवस्था में सर्वथा काया की चेष्टा का निरोध करना, ए प्रथम कायगुप्ति है। तथा गुरुप्रच्छन, शरीर संस्तारक, भूम्यादि का प्रतिलेखन, प्रमार्जनादि क्रियाकलाप का जैसे शास्त्र में विधान है, उसी के अनुसार साधु को शयन आदि करना चाहिये। अतः शयन, आसन, ग्रहण और स्थापन आदि कृत्यों में काया की स्वच्छन्द चेष्टा का त्याग और मर्यादित चेष्टा का स्वीकार करना दूसरी कायगुप्ति है।

अथ अभिग्रह-प्रतिज्ञा लिखते हैं। सो अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल अरु भाव करी चार प्रकार का है, इस का विस्तार

अंगुली निर्देश, ऊंचा होना, खांसना, हुंकारा करना, पत्थर फैंकना आदि हेतुओं से अपने किसी कार्य विशेष की सूचना करने का त्याग करना, ए प्रथम वचन गुप्ति। क्योंकि जब चेष्टा द्वारा सब कुछ सूचन कर दिया, तब मौन रहना व्यर्थ है। दूसरे के प्रश्न का उत्तर देना, लोक अरु आगम से विरोध न होवे तैसे और वस्त्रादिक से मुख का यत्न करके बोलना, ए दूसरी वचन गुप्ति। इन दोनों भेदों करके वचन का निरोध, अरु सम्यक् भाषणारूप वचन गुप्ति जाननी।

कायागुप्ति दो प्रकार से है। १. चेष्टा का निषेध, २. आगम के अनुसार चेष्टा का नियम करना। तहां देवता और मनुष्यादि के उपसर्ग में क्षुधा तृषादि परिषहों के उत्पन्न होने से कायोत्सर्गादि के द्वारा शरीर को निश्चल करना, तथा अयोगी अवस्था में सर्वथा काया की चेष्टा का निरोध करना, ए प्रथम कायगुप्ति है। तथा गुरुप्रच्छन, शरीर संस्तारक, भूम्यादि का प्रतिलेखन, प्रमार्जनादि क्रियाकलाप का जैसे शास्त्र में विधान है, उसी के अनुसार साधु को शयन आदि करना चाहिये। अतः शयन, आसन, ग्रहण और स्थापन आदि कृत्यों में काया की स्वच्छन्द चेष्टा का त्याग और मर्यादित चेष्टा का स्वीकार करना दूसरी कायगुप्ति है।

अथ अभिग्रह-प्रतिज्ञा लिखते हैं। सो अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल अरु भाव करी चार प्रकार का है, इस का विस्तार

है, वैसी वृत्ति वाला कोई भी जैन का साधु देखने में नहीं आता है, तो फिर जैनमत के साधुओं को इस काल में गुरु क्योंकर मानना चाहिये ?

पंचम काल के साधुओं का स्वरूप

उत्तरः—तुम ने जैनमत के शास्त्र न पढ़े होंगे, अरु किसी गीतार्थ गुरु की संगत भी नहीं करी होगी, क्योंकि जेकर जैनमत के चरणकरणानुयोग के शास्त्र पढ़े होते, अथवा किसी गीतार्थ गुरु के मुखारविंद से उन के वचनरूप अमृत का पान करा होता, तो पूर्वोक्त संशय-रूप रोग की उत्पत्ति कदापि न होती। क्योंकि जैनमत में छे प्रकार के निर्ग्रंथ कहे हैं। इस काल में जो जैन के साधु हैं, वे पूर्वोक्त छे प्रकार में से दो प्रकार के हैं। क्योंकि श्रीभगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के छठे उद्देश में लिखा है, कि पंचम काल में दो तरे के निर्ग्रंथ होंगे, उनों से ही तीर्थ चलेगा। कषायकुशील निर्ग्रंथ तो किसी में परिणामापेक्षा होगा, मुख्य तो दो ही रहेंगे। अरु जो जैन शास्त्रों में गुरु की वृत्ति लिखी है, सो प्रायः उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा से लिखी है। और इस काल में तो प्रायः अपवाद मार्ग की ही प्रवृत्ति है। तब उत्सर्गवृत्ति वाले मुनि इस काल में क्योंकर हो सकते हैं ? कदाचित् नहीं हो सकते हैं। क्योंकि न तो वज्रऋषभनाराच संहनन है, न वैसा मनोबल है, न जीवों की वैसी श्रद्धा है, न वैसा देश काल, और न वैसा धैर्य है,

है, वैसी वृत्ति वाला कोई भी जैन का साधु देखने में नहीं आता है, तो फिर जैनमत के साधुओं को इस काल में गुरु क्योंकर मानना चाहिये ?

पंचम काल के साधुओं का स्वरूप

उत्तरः—तुम ने जैनमत के शास्त्र न पढ़े होंगे, अरु किसी गीतार्थ गुरु की संगत भी नहीं करी होगी, क्योंकि जेकर जैनमत के चरणकरणानुयोग के शास्त्र पढ़े होते, अथवा किसी गीतार्थ गुरु के मुखारविंद से उन के वचनरूप अमृत का पान करा होता, तो पूर्वोक्त संशयरूप रोग की उत्पत्ति कदापि न होती। क्योंकि जैनमत में छे प्रकार के निर्ग्रंथ कहे हैं। इस काल में जो जैन के साधु हैं, वे पूर्वोक्त छे प्रकार में से दो प्रकार के हैं। क्योंकि श्रीभगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के छठे उद्देश में लिखा है, कि पंचम काल में दो तरे के निर्ग्रंथ होंगे, उनों से ही तीर्थ चलेगा। कषायकुशील निर्ग्रंथ तो किसी में परिणामापेक्षा होगा, मुख्य तो दो ही रहेंगे। अरु जो जैन शास्त्रों में गुरु की वृत्ति लिखी है, सो प्रायः उत्सर्ग मार्ग की अपेक्षा से लिखी है। और इस काल में तो प्रायः अपवाद मार्ग की ही प्रवृत्ति है। तब उत्सर्गवृत्ति वाले मुनि इस काल में क्योंकर हो सकते हैं? कदाचित् नहीं हो सकते हैं। क्योंकि न तो वज्रऋषभनाराच संहनन है, न वैसा मनोबल है, न जीवों की वैसी श्रद्धा है, न वैसा देश काल, और न वैसा धैर्य है,

चाहिये ? ३. पूर्वकाल में तालोद्घाटिनी, अवस्वापिनी आदिक विद्या के धारक चोर थे, परन्तु इस काल में वो विद्या नहीं है, क्या फिर चोरी करने वालों को चोर न कहना चाहिये ? ४. पूर्वकाल में चौदह पूर्व के पाठी को गीतार्थ कहते थे, तो क्या इस काल में जघन्य आचारप्रकल्प, निशीथ और मध्यम आचारप्रकल्प तथा बृहत्कल्प के पढ़े हुये को गीतार्थ न कहना चाहिये ? ५. पूर्वकाल में श्रीआचारांग के शस्त्रप्रज्ञा अध्ययन को पढ़ने के बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थापन करते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के षड्-जीवनिका अध्ययन के पढ़ने से स्थापन नहीं करना चाहिये ? ६. पूर्व समय में आचारांग के दूसरे लोकविजय नामक अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पांचवें उद्देश में जो आमगन्धि सूत्र है, उस सूत्र के अनुसार मुनि आहार का ग्रहण करते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के पिंडैषणा अध्ययन के अनुसार न करना चाहिये ? ७. प्रथम आचारांग के पीछे उत्तराध्ययन पढ़ते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के पीछे जो उत्तराध्ययन पढ़ा जाता है, सो नहीं पढ़ना चाहिये ? ८. पूर्वकाल में मत्तांग आदिक दश प्रकार के वृक्ष थे, तो क्या अब अंबादिक को वृक्ष न कहना चाहिये ? ९. प्राचीनकाल में बड़े २ बलवान् वृषभ होते थे, अभी वैसे नहीं हैं, तो क्या अब के वृषभों को वृषभ-बैल नहीं कहना चाहिये ? १०. पूर्व में बहुत गौओं के समूह वाले नन्द

चाहिये ? ३. पूर्वकाल में तालोद्घाटिनी, अवस्वापिनी आदिक विद्या के धारक चोर थे, परन्तु इस काल में वो विद्या नहीं है, क्या फिर चोरी करने वालों को चोर न कहना चाहिये ? ४. पूर्वकाल में चौदह पूर्व के पाठी को गीतार्थ कहते थे, तो क्या इस काल में जघन्य आचारप्रकल्प, निशीथ और मध्यम आचारप्रकल्प तथा बृहत्कल्प के पढ़े हुये को गीतार्थ न कहना चाहिये ? ५. पूर्वकाल में श्रीआचारांग के शस्त्रप्रज्ञा अध्ययन को पढ़ने के बाद छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थापन करते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के षड्-जीवनिका अध्ययन के पढ़ने से स्थापन नहीं करना चाहिये ? ६. पूर्व समय में आचारांग के दूसरे लोकविजय नामक अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पांचवें उद्देश में जो आमगन्धि सूत्र है, उस सूत्र के अनुसार मुनि आहार का ग्रहण करते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के पिंडैषणा अध्ययन के अनुसार न करना चाहिये ? ७. प्रथम आचारांग के पीछे उत्तराध्ययन पढ़ते थे, तो क्या अब दशवैकालिक के पीछे जो उत्तराध्ययन पढ़ा जाता है, सो नहीं पढ़ना चाहिये ? ८. पूर्वकाल में मत्तांग आदिक दश प्रकार के वृक्ष थे, तो क्या अब अंबादिक को वृक्ष न कहना चाहिये ? ९. प्राचीनकाल में बड़े २ बलवान् वृषभ होते थे, अभी वैसे नहीं हैं, तो क्या अब के वृषभों को वृषभ-बैल नहीं कहना चाहिये ? १०. पूर्व में बहुत गौओं के समूह वाले नन्द

भी नहीं होता। मूल गुण भंग में दो दृष्टांत हैं, उत्तरगुण भंग में मण्डप का दृष्टांत है। निश्चयनय में एक व्रत भंग हुआ, तो सर्व व्रत भंग होजाते हैं, परन्तु व्यवहार नयके मत में जो व्रत भंग होवे, सोई भंग होवे, दूसरा नहीं। इस वास्ते बहुत अतिचार के लगने से भी संयम नहीं जाता, परन्तु जो कुशील सेवे, अरु धन रक्खे और कच्चा-सचित्त पानी पीवे, प्रवचन की उपेक्षा करे वो साधु नहीं। जहां तक छेद प्रायश्चित लगे, तहां तक संयम सर्वथा नहीं जाता। इस वास्ते जो कोई इस काल में साधु का होना न माने, सो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि स्थानांग सूत्र में लिखा है, कि अतिचार बहुत लगते हैं और आलोचना-प्रायश्चित यथार्थ रूप से कोई लेता देता नहीं, इस वास्ते साधु कोई नहीं है; ऐसे जो कहता है वो चरित्र भेदिनी विकथा का करने वाला है। तथा श्रीभगवती सूत्र के पच्चीसमे शतक के छठे उद्देश में संग्रहणीकार श्रीमदभयदेवसूरि ने इन दोनों निर्ग्रंथों का जो स्वरूप लिखा है, सो इहां भाषा में प्रगट लिखा जाता है।

बउसं सबलं कब्बुरमेगट्ठं तमिह जस्स चारित्तं।
अइयारपंकभावा सो बउसो होइ निग्गंथो॥

[पं० नि०, गा० १२]

भी नहीं होता। मूल गुण भंग में दो दृष्टांत हैं, उत्तरगुण भंग में मण्डप का दृष्टांत है। निश्चयनय में एक व्रत भंग हुआ, तो सर्व व्रत भंग होजाते हैं, परन्तु व्यवहार नयके मत में जो व्रत भंग होवे, सोई भंग होवे, दूसरा नहीं। इस वास्ते वहुत अतिचार के लगने से भी संयम नहीं जाता, परन्तु जो कुशील सेवे, अरु धन रक्खे और कच्चा-सचित्त पानी पीवे, प्रवचन की उपेक्षा करे वो साधु नहीं। जहां तक छेद प्रायश्चित लगे, तहां तक संयम सर्वथा नहीं जाता। इस वास्ते जो कोई इस काल में साधु का होना न माने, सो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि स्थानांग सूत्र में लिखा है, कि अतिचार वहुत लगते हैं और आलोचना-प्रायश्चित यथार्थ रूप से कोई लेता देता नहीं, इस वास्ते साधु कोई नहीं है; ऐसे जो कहता है वो चरित्र भेदिनी विकथा का करने वाला है। तथा श्रीभगवती सूत्र के पच्चीसमे शतक के छठे उद्देश में संग्रहणीकार श्रीमदभयदेवसूरि ने इन दोनों निर्ग्रंथों का जो स्वरूप लिखा है, सो इहां भाषा में प्रगट लिखा जाता है।

वउसं सवलं कव्वुरमेगट्ठं तमिह जस्स चारित्तं।
अइयारपंकभावा सो वउसो होइ निग्गंथो॥

[पं० नि० गा० १२]

अर्थः—इस में से दो पदों का अर्थ तो ऊपर दिया है, अगले दो पदों का अर्थ लिखते हैं। साधु को यह करने योग्य नहीं, ऐसे जानता भी है, तो भी उस काम को जो करे, सो पहला आभोग बकुश, और जो अज्ञानपने करे सो दूसरा अनाभोग बकुश, मूल गुण और उत्तर गुणों में जो छिप कर दोष लगावे, सो तीसरा संवृत बकुश, जो मूल गुण और उत्तर गुणों में प्रगट दोष लगावे सो चौथा असंवृत बकुश, अरु नेत्र, नासिका, और मुख आदिक का जो मल दूर करे, सो पांचमा सूक्ष्म बकुश जानना।

अथ उपकरण बकुश का स्वरूप लिखते हैंः—

जो उवगरणे बउसो, सो धुवइ अपाउसेऽवि वत्थाइं।
इच्छइ य लण्हयाइं, किंचि विभूसाइ भुंजइ य ॥
[पं० नि०, गा० १४]

अर्थः—जो उपकरण बकुश है, सो प्रावृट्-पावस ऋतु के विना भी क्षार जल से वस्त्र धोता है। पावस ऋतु में तो सर्व गच्छवासी साधुओं को आज्ञा है, कि साधु एक वार वर्षा से पहिले आप सर्व उपकरण क्षार जल से धो लेवे, नहीं तो वर्षाऋतु में मल के संसर्ग से निगोदादिक जीवों की उत्पत्ति हो जावेगा। परन्तु यह जो बकुश निर्ग्रंथ है, सो तो पावसऋतु विना अन्य ऋतुओं में भी क्षार जल से वस्त्रादिक धो लेता है। तथा बकुश निर्ग्रंथ, सुंदर, सुकुमाल वस्त्र भी वांछता है, और विभूषा-शोभा के वास्ते पहरता है।

अर्थः—इस में से दो पदों का अर्थ तो ऊपर दिया है, अगले दो पदों का अर्थ लिखते हैं। साधु को यह करने योग्य नहीं, ऐसे जानता भी है, तो भी उस काम को जो करे, सो पहला आभोग बकुश, और जो अज्ञानपने करे सो दूसरा अनाभोग बकुश, मूल गुण और उत्तर गुणों में जो छिप कर दोष लगावे, सो तीसरा संवृत बकुश, जो मूल गुण और उत्तर गुणों में प्रगट दोष लगावे सो चौथा असंवृत बकुश, अरु नेत्र, नासिका, और मुख आदिक का जो मल दूर करे, सो पांचमा सूक्ष्म बकुश जानना।

अथ उपकरण बकुश का स्वरूप लिखते हैं:—

जो उवगरणे बउसो, सो धुवइ अपाउसेऽवि वत्थाइं।
इच्छइ य लण्हयाइं, किंचि विभूसाइ भुंजइ य ॥
[पं० नि०, गा० १४]

अर्थः—जो उपकरण बकुश है, सो प्रावृट्–पावस ऋतु के विना भी क्षार जल से वस्त्र धोता है। पावस ऋतु में तो सर्व गच्छवासी साधुओं को आज्ञा है, कि साधु एक वार वर्षा से पहिले आप सर्व उपकरण क्षार जल से धो लेवे, नहीं तो वर्षाऋतु में मल के संसर्ग से निगोदादिक जीवों की उत्पत्ति हो जावेगा। परन्तु यह जो बकुश निर्ग्रंथ है, सो तो पावसऋतु विना अन्य ऋतुओं में भी क्षार जल से वस्त्रादिक धो लेता है। तथा बकुश निर्ग्रंथ, सुंदर, सुकुमाल वस्त्र भी वांछता है, और विभूषा–शोभा के वास्ते पहरता है।

इच्छा करे है । तिस यश के होने से बहुत खुशी माने है। सुखशीलिया होवे है, और दिन रात्रि की क्रिया सामाचारी में बहुत उद्यमी भी नहीं होवे है।

परिवारो य असंजम, अविवित्तो होइ किंचि एयस्स ।
घंसियपाओ तिल्लाइमसिणिओ कत्तरियकेसो ॥
[पं० नि०, गा० १८]

अर्थः—इस का जो परिवार होवे, सो असंयमी—असंयम वाला होवे है, वस्त्र पात्रादिक के मोह से वस्त्र पात्रादिक से दूर न जावे, पग को झांवें आदिक से रगड़ कर तैलादिक चोपड़ के सुकुमार करे और शिर, दाढ़ी, मूंछ के बाल कतरणी से कतरे एतावता लोच की जगे उस्तरे, वा कतरणी से बाल दूर करे है।

तह देससव्वछेयारिहेहिं सबलेहिं संजुओ बउसो ।
मोहक्खयत्थमब्भुट्ठिओ सुत्तंमि भणियं च ॥
[पं० नि०, गा० १९]

अर्थः—देशच्छेद तथा सर्वच्छेद के योग्य दोषों करी जिस का चारित्र कर्बुर है [अर्थात् उक्त दोषों से युक्त है] परन्तु मन में उस के मोहक्षय करने की इच्छा है, एतावता मन में संयम पालने में उत्साह है, परन्तु पूर्ण संयम पाल नहीं सकता। उस को बकुश निर्ग्रन्थ कहिये। और सूत्र में जो कहा है, सो लिखते हैं:—

इच्छा करे है । तिस यश के होने से बहुत खुशी माने है। सुखशीलिया होवे है, और दिन रात्रि की क्रिया सामाचारी में बहुत उद्यमी भी नहीं होवे है।

परिवारो य असंजम, अविवित्तो होइ किंचि एयस्स ।
घंसियपाओ तिल्लाइमसिणिओ कत्तरियकेसो ॥
[पं० नि०, गा० १८]

अर्थः—इस का जो परिवार होवे, सो असंयमी—असंयम वाला होवे है, वस्त्र पात्रादिक के मोह से वस्त्र पात्रादिक से दूर न जावे, पग को झांवें आदिक से रगड़ कर तैलादिक चोपड़ के सुकुमार करे और शिर, दाढ़ी, मूंछ के बाल कतरणी से कतरे एतावता लोच की जगे उस्तरे, वा कतरणी से बाल दूर करे है ।

तह देससव्वछेयारिहेहिं सबलेहिं संजुओ बउसो ।
मोहक्खयत्थमब्भुट्ठिओ सुत्तंमि भणियं च ॥
[पं० नि०, गा० १९]

अर्थः—देशच्छेद तथा सर्वच्छेद के योग्य दोषों करी जिस का चारित्र कर्बुर है [अर्थात् उक्त दोषों से युक्त है] परन्तु मन में उस के मोहक्षय करने की इच्छा है, एतावता मन में संयम पालने में उत्साह है, परन्तु पूर्ण संयम पाल नहीं सकता । उस को बकुश निर्ग्रन्थ कहिये । और सूत्र में जो कहा है, सो लिखते हैं:—

इह नाणाइकुसीलो, उवजीवं होइ नाणपभिईए ।
अहसुहुमो पुण तुस्सइ, एस तवस्सि त्ति संसाए ॥

[पं० नि०, गा० २२—२४]

कुशील निर्ग्रंथ का स्वरूप

अर्थः—शील—चारित्र जिस का कुत्सित है, सो कुशील निर्ग्रंथ । इस के दो भेद हैं । एक प्रतिसेवनाकुशील, दूसरा कषायकुशील । प्रतिसेवना—विपरीत आराधना करके जिस का शील कुत्सित हो सो प्रतिसेवनाकुशील, और संज्वलन रूप कषायों से जिस का शील कुत्सित हो सो कषायकुशील है । इन दोनों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और यथासूक्ष्म, ये पांच भेद हैं । यहां ज्ञानादिप्रतिसेवनाकुशील वो है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अरु तप, इन चारों को आजीविका के वास्ते करे । तथा यह तपस्वी है, इत्यादि प्रशंसा को सुन के जो बहुत खुशी होवे, सो पांचमां यथासूक्ष्मप्रतिसेवनाकुशील जानना । तथा जो ज्ञान, दर्शन, अरु तप का संज्वलन कषाय के उदय से अपने २ विषय में उपयोग करे, सो ज्ञानादि कषायकुशील जानना । जो चारित्र कुशील है, स कषाय के वश हो करके शाप दे देता है । मन करके जो क्रोधादि को सेवे, सो यथासूक्ष्मकषायकुशील है । अथवा कषायों करके जो ज्ञानादिकों को विराधे, सो ज्ञानादिककुशील

इह नाणाइकुसीलो, उवजीवं होइ नाणपभिईए ।
अहसुहुमो पुण तुस्सइ, एस तवस्सि त्ति संसाए ॥

[पं० नि०, गा० २२—२४]

कुशील निर्ग्रंथ का स्वरूप

अर्थः—शील—चारित्र जिस का कुत्सित है, सो कुशील निर्ग्रंथ । इस के दो भेद हैं । एक प्रतिसेवनाकुशील, दूसरा कषाय-कुशील । प्रतिसेवना—विपरीत आराधना करके जिस का शील कुत्सित हो सो प्रति-सेवनाकुशील, और संज्वलन रूप कषायों से जिस का शील कुत्सित हो सो कषायकुशील है । इन दोनों के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और यथासूक्ष्म, ये पांच भेद हैं । यहां ज्ञानादिप्रतिसेवनाकुशील वो है, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अरु तप, इन चारों को आजीविका के वास्ते करे । तथा यह तपस्वी है, इत्यादि प्रशंसा को सुन के जो बहुत खुशी होवे, सो पांचमां यथासूक्ष्मप्रतिसेवना-कुशील जानना । तथा जो ज्ञान, दर्शन, अरु तप का संज्वलन कषाय के उदय से अपने २ विषय में उपयोग करे, सो ज्ञानादि कषायकुशील जानना । जो चारित्र कुशील है,स कषाय के वश हो करके शाप दे देता है । मन करके जो क्रोधा-दि को सेवे, सो यथासूक्ष्मकषायकुशील है । अथवा कषायों करके जो ज्ञानादिकों को विराधे, सो ज्ञानादिककुशील

चतुर्थ परिच्छेद

अथ चतुर्थ परिच्छेद में कुगुरु तत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥
[योे० शा०, प्र० २ श्लो० ९]

कुगुरु का स्वरूप

अर्थः—"सर्वाभिलाषिणः"—स्त्री, धन, धान्य, हिरण्य-सोना रूपादि सर्व धातु तथा क्षेत्र, वास्तु—हाट हवेली, चतुष्पदादिक अनेक प्रकार के पशु, इन सर्व की अभिलाषा करने का शील है जिसका, सो सर्वाभिलाषी। "सर्वभोजिनः"—मद्य, मांसादिक बावीस अभक्ष्य, तथा बत्तीस अनंतकाय, तथा अपर जो अनुचित आहारादिक, इन सर्व का भोजन करने का शील है जिस का सो सर्वभोजी। "सपरिग्रहाः"—जो पुत्र, कलत्र, बेटा, बेटी प्रमुख करी युक्त होवे, सो सपरिग्रह, इसी वास्ते अब्रह्मचारी है। जो अब्रह्मचारी होता है, तिस में महा दोष होते हैं। इस वास्ते अब्रह्मचारी ऐसा न्यारा उपन्यास करा है। अथ अगुरुपने का असाधारण कारण कहते हैं। "मिथ्योपदेशाः"—मिथ्या—वितथ—अयथार्थ धर्म का उपदेश है जिनका सो अगुरु है। जे कर इहां कोई ऐसी तर्क करे, कि जो धर्मोपदेश का दाता है, सो गुरु है, तो

चतुर्थ परिच्छेद

अथ चतुर्थ परिच्छेद में कुगुरु तत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—

सर्वाभिलाषिणः सर्वभोजिनः सपरिग्रहाः ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥
[यो० शा०, प्र० २ श्लो० ६]

कुगुरु का स्वरूप

अर्थः—"सर्वाभिलाषिणः"—स्त्री, धन, धान्य, हिरण्य-सोना रूपादि सर्व धातु तथा क्षेत्र, वास्तु-हाट हवेली, चतुष्पदादिक अनेक प्रकार के पशु, इन सर्व की अभिलाषा करने का शील है जिसका, सो सर्वाभिलाषी। "सर्वभोजिनः"—मद्य, मांसादिक बावीस अभक्ष्य, तथा बत्तीस अनंतकाय, तथा अपर जो अनुचित आहारादिक, इन सर्व का भोजन करने का शील है जिस का सो सर्वभोजी। "सपरिग्रहाः"—जो पुत्र, कलत्र, बेटा, बेटी प्रमुख करी युक्त होवे, सो सपरिग्रह, इसी वास्ते अब्रह्मचारी है। जो अब्रह्मचारी होता है, तिस में महा दोष होते हैं। इस वास्ते अब्रह्मचारी ऐसा न्यारा उपन्यास करा है। अथ अगुरुपने का असाधारण कारण कहते हैं। "मिथ्योपदेशाः"—मिथ्या-वितथ-अयथार्थ धर्म का उपदेश है जिनका सो अगुरु है। जे कर इहां कोई ऐसी तर्क करे, कि जो धर्मोपदेश का दाता है, सो गुरु है, तो

क्रियावादी के १८० मत

तिन में जो क्रियावादी हैं सो ऐसे कहते हैं—कर्त्ता के विना पुण्यबंधादिलक्षण क्रिया नहीं होती है। तिस वास्ते क्रिया जो है, सो आत्मा के साथ * समवाय संबंध वाली है। यह जो क्रियावादी हैं, सो आत्मादिक नव पदार्थों को एकांत अस्तिस्वरूप से मानते हैं। तिस क्रियावादी के एक सौ अस्सी मत इस उपाय करके जान लेने। १. जीव, २. अजीव, ३. आश्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा, ७. पुण्य, ८. अपुण्य ९. मोक्ष, यह नव पदार्थ अनुक्रम करके पट्टी पत्रादिक में लिखने, जीव पदार्थ के हेठ (नीचे) स्वतः अरु परतः यह दो भेद स्थापन करने, इन स्वतः परतः के हेठ न्यारे न्यारे नित्य अरु अनित्य यह दो भेद स्थापन करने अरु नित्य अनित्य इन दोनों के हेठ न्यारे न्यारे १. काल, २. ईश्वर, ३. आत्मा, ४. नियति, ५. स्वभाव, यह पांच स्थापन करने, और पीछे से विकल्प कर लेने। यन्त्र स्थापना इस तरे है—

जीव

स्वतः		परतः	
नित्य	अनित्य	नित्य	अनित्य
१. काल	१. काल	१. काल	१. काल
२. ईश्वर	२. ईश्वर	२. ईश्वर	२. ईश्वर
३. आत्मा	३. आत्मा	३. आत्मा	३. आत्मा
४. नियति	४. नियति	४. नियति	४. नियति
५. स्वभाव	५. स्वभाव	५. स्वभाव	५. स्वभाव

* नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय है।

क्रियावादी के १८० मत

तिन में जो क्रियावादी हैं सो ऐसे कहते हैं—कर्त्ता के विना पुण्यबंधादिलक्षण क्रिया नहीं होती है। तिस वास्ते क्रिया जो है, सो आत्मा के साथ * समवाय संबंध वाली है। यह जो क्रियावादी हैं, सो आत्मादिक नव पदार्थों को एकांत अस्तिस्वरूप से मानते हैं। तिस क्रियावादी के एक सौ अस्सी मत इस उपाय करके जान लेने। १. जीव, २. अजीव, ३. आश्रव, ४. बंध, ५. संवर, ६. निर्जरा, ७. पुण्य, ८. अपुण्य ९. मोक्ष, यह नव पदार्थ अनुक्रम करके पट्टी पत्रादिक में लिखने, जीव पदार्थ के हेठ (नीचे) स्वतः अरु परतः यह दो भेद स्थापन करने, इन स्वतः परतः के हेठ न्यारे न्यारे नित्य अरु अनित्य यह दो भेद स्थापन करने अरु नित्य अनित्य इन दोनों के हेठ न्यारे न्यारे १. काल, २. ईश्वर, ३. आत्मा, ४. नियति, ५. स्वभाव, यह पांच स्थापन करने, और पीछे से विकल्प कर लेने। यन्त्र स्थापना इस तरे है—

जीव

स्वतः		परतः	
नित्य	अनित्य	नित्य	अनित्य
१. काल	१. काल	१. काल	१. काल
२. ईश्वर	२. ईश्वर	२. ईश्वर	२. ईश्वर
३. आत्मा	३. आत्मा	३. आत्मा	३. आत्मा
४. नियति	४. नियति	४. नियति	४. नियति
५. स्वभाव	५. स्वभाव	५. स्वभाव	५. स्वभाव

* नित्य सम्बन्ध का नाम समवाय है।

न कालव्यतिरेकेण, गर्भबालशुभादिकं ।
यत्किंचिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥
किंच कालादृतेनैव, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
स्थाल्यादिसन्निधानेऽपि, ततःकालादसौ मता ॥
कालाभावे च गर्भादि-सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेष्टहेतुसद्भाव-मात्रादेव तदुद्भवात् ॥
कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥

[शा० स०, स्त० २, श्लो० ५३, ५५, ५६, ५४]

इन श्लोकों का कुछ भावार्थ तो ऊपर लिख आये हैं, बाकी अब लिखते हैं:—परेष्ट हेतु के सद्भाव मात्र से गर्भादि कार्य हो जाता है, एतावता दूसरों ने जो मान्या है, कि स्त्री पुरुष के संयोगमात्र हेतु से गर्भ की उत्पत्ति होती है। तब एक वर्ष के स्त्री पुरुष के संयोग से क्यों नहीं हो जाती है? इस वास्ते काल ही गर्भ की उत्पत्ति का हेतु है, इसी के प्रभाव से स्त्री को गर्भ होता है । तथा काल ही पकाता है, अर्थात् पृथिवी आदिक भूतों को परिणामांतर को पहुंचाता है । तथा "कालः संहरते प्रजाः"—†काल ही पूर्व

† अर्थात् काल ही जीवों का नाश करता है ।

न कालव्यतिरेकेण, गर्भबालशुभादिकं ।
यत्किंचिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ॥
किंच कालादृतेनैव, मुद्गपक्तिरपीक्ष्यते ।
स्थाल्यादिसन्निधानेऽपि, ततःकालादसौ मता ॥
कालाभावे च गर्भादि–सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेष्टहेतुसद्भाव–मात्रादेव तदुद्भवात् ॥
कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥

[शा० स०, स्त० २, श्लो० ५३, ५५, ५६, ५४]

इन श्लोकों का कुछ भावार्थ तो ऊपर लिख आये हैं, बाकी अब लिखते हैं:—परेष्ट हेतु के सद्भाव मात्र से गर्भादि कार्य हो जाता है, एतावता दूसरों ने जो मान्या है, कि स्त्री पुरुष के संयोगमात्र हेतु से गर्भ की उत्पत्ति होती है। तब एक वर्ष के स्त्री पुरुष के संयोग से क्यों नहीं हो जाती है? इस वास्ते काल ही गर्भ की उत्पत्ति का हेतु है, इसी के प्रभाव से स्त्री को गर्भ होता है । तथा काल ही पकाता है, अर्थात् पृथिवी आदिक भूतों को परिणामांतर को पहुंचाता है । तथा "कालः संहरते प्रजाः"—†काल ही पूर्व

† अर्थात् काल ही जीवों का नाश करता है ।

चौथा विकल्प नियतिवादियों का है। नियतिवादी ऐसे कहते हैं, कि नियति एक तत्त्वान्तर है, जिस की सामर्थ्य से सर्व पदार्थ अपने अपने स्वरूप करके वैसे वैसे ही होते हैं, अन्यथा नहीं होते हैं—एतावता जो पदार्थ जिस काल में जिस करके होता है, सो पदार्थ तिस काल में तिस करके नियत रूप से ही होता दीखता है, अन्यथा नहीं। जेकर ऐसा न मानें तो कार्यकारणभाव की व्यवस्था कदापि न होवेगी। तिस वास्ते कार्य की नियतता से प्रतीत होने वाली जो नियति है, तिस को कौन प्रमाण पंथ का कुशल पुरुष है, जो बाध सकता है ? जे कर नियति बाधित हो जावेगी, तो और जगे भी प्रमाण मिथ्या हो जावेंगे। तथा चोक्तम्:—

नियतिवादी का मत

नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवंति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः ॥
यद्यदेव यतो यावत्, तत्तदेव ततस्तथा॥
नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः ॥

[शा० स०, स्त० २ श्लो० ६१, ६२]

इन दोनों श्लोकों का अर्थ उपर लिख दिया है।

पांचमा विकल्प, स्वभाववादियों का है। वो स्वभाव-

चौथा विकल्प नियतिवादियों का है। नियतिवादी ऐसे कहते हैं, कि नियति एक तत्त्वान्तर है, जिस की सामर्थ्य से सर्व पदार्थ अपने अपने स्वरूप करके वैसे वैसे ही होते हैं, अन्यथा नहीं होते हैं—एतावता जो पदार्थ जिस काल में जिस करके होता है, सो पदार्थ तिस काल में तिस करके नियत रूप से ही होता दीखता है, अन्यथा नहीं। जेकर ऐसा न मानें तो कार्यकारणभाव की व्यवस्था कदापि न होवेगी। तिस वास्ते कार्य की नियतता से प्रतीत होने वाली जो नियति है, तिस को कौन प्रमाण पंथ का कुशल पुरुष है, जो बाध सकता है ? जे कर नियति बाधित हो जावेगी, तो और जगे भी प्रमाण मिथ्या हो जावेंगे। तथा चोक्तम्:—

नियतिवादी का मत

नियतेनैव रूपेण, सर्वे भावा भवंति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते, तत्स्वरूपानुवेधतः ॥
यद्यदैव यतो यावत्, तत्तदैव ततस्तथा ॥
नियतं जायते न्यायात्, क एनां बाधितुं क्षमः ॥

[शा० स०, स्त० २ श्लो० ६१, ६२]

इन दोनों श्लोकों का अर्थ उपर लिख दिया है।

पांचमा विकल्प, स्वभाववादियों का है। वो स्वभाव-

अजीवादिक पदार्थों के साथ न्यारे न्यारे वीस विकल्प जान लेने। तब वीस को नव से गुणाकार करने पर एक सौ अस्सी मत क्रियावादी के होते हैं।

अथ अक्रियावादी के चौरासी मत लिखते हैं। अक्रियावादी कहते हैं, कि क्रिया–पुण्यपापरूपादि नहीं है। क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है। परन्तु स्थिर पदार्थ तो जगत् में कोई भी नहीं है, क्योंकि उत्पत्त्यनंतर ही पदार्थ का विनाश हो जाता है। ऐसे जो कहते हैं, सो अक्रियावादी *। तथा चाहुरेकेः—

अक्रियावादी के ८४ मत

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया।
भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते॥

[षड्० स० श्लो० १ बृहद्वृत्ति]

अर्थः—सर्व संस्कार—पदार्थ क्षणिक है, इस वास्ते अस्थिर पदार्थों को पुण्यपापादि क्रिया कहां से होवे? पदार्थों का जो होना है, सोई क्रिया है, सोई कारक है, इस वास्ते पुण्यपापादि क्रिया नहीं है। यह जो अक्रियावादी हैं, सो

* न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिन आत्मादिनास्तित्ववादिन इत्यर्थः। [षड्० स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

अजीवादिक पदार्थों के साथ न्यारे न्यारे बीस विकल्प जान लेने। तब बीस को नव से गुणाकार करने पर एक सौ अस्सी मत क्रियावादी के होते हैं।

अक्रियावादी के ८४ मत

अथ अक्रियावादी के चौरासी मत लिखते हैं। अक्रियावादी कहते हैं, कि क्रिया—पुण्यपापरूपादि नहीं है। क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है। परन्तु स्थिर पदार्थ तो जगत् में कोई भी नहीं है, क्योंकि उत्पत्त्यनंतर ही पदार्थ का विनाश हो जाता है। ऐसे जो कहते हैं, सो अक्रियावादी *। तथा चाहुरेकेः—

क्षणिकाः सर्वसंस्कारा अस्थिराणां कुतः क्रिया।
भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यते॥

[षड्० स० श्लो० १ बृहद्वृत्ति]

अर्थः—सर्व संस्कार—पदार्थ क्षणिक है, इस वास्ते अस्थिर पदार्थों को पुण्यपापादि क्रिया कहां से होवे? पदार्थों का जो होना है, सोई क्रिया है, सोई कारक है, इस वास्ते पुण्यपापादि क्रिया नहीं है। यह जो अक्रियावादी हैं, सो

* न कस्यचित्प्रतिक्षणमवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया संभवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिन आत्मादिनास्तित्ववादिन इत्यर्थः। [षड्० स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

का आपस में कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव प्रमाण से ग्रहण नहीं करा जाता है। तथाहि—मृतक मेंडक से भी मेंडक उत्पन्न होता है, अरु गोवर से भी मेंडक उत्पन्न होता है। अग्नि से भी अग्नि उत्पन्न होती है, अरु अरणि के काष्ठ से भी अग्नि उत्पन्न होती है। धूम से भी धूम उत्पन्न होता है, अरु अग्नि से भी धूम उत्पन्न होता है। कदली के कंद से भी केला उत्पन्न होता है, अरु केले के वीज से भी केला उत्पन्न होता है। वीज से भी वटवृक्ष उत्पन्न होता है, अरु वट वृक्ष की शाखा से भी वटवृक्ष उत्पन्न होता है। इस वास्ते प्रतिनियत कार्यकारणभाव किसी जगे भी नहीं देखने में आता है। इस वास्ते यदृच्छा करके किसी जगे कुछ होता है, ऐसे मानना चाहिये। क्योंकि जव यह जान लिया कि जो कुछ होता है, सो यदृच्छा से होता है, तो फिर काहे को वुद्धिमान् कार्यकारणभाव को माने, और आत्मा को क्लेश देवे। यह जैसे 'नास्ति स्वतः' के साथ छः विकल्प करे हैं, ऐसे ही 'नास्ति परतः' के साथ भी छः विकल्प होते हैं। यह जव सर्व विकल्प मिलायें, तव वारां विकल्प होते हैं। इन वारां को जीवादिक सात पदार्थों करके सात गुणा करने पर चौरासी भेद अक्रियावादी के होते है।

अव तीसरा अज्ञानवादी का भेद कहते हैं—भूंडा ज्ञान है जिसका सो अज्ञानवादी जानना, अथवा अज्ञान करके जो प्रवर्त्ते, सो अज्ञानिक-

अज्ञानवादी का मत

का आपस में कार्यकारणभाव नहीं है, क्योंकि कार्यकारणभाव प्रमाण से ग्रहण नहीं करा जाता है। तथाहि-मृतक मेंडक से भी मेंडक उत्पन्न होता है, अरु गोवर से भी मेंडक उत्पन्न होता है। अग्नि से भी अग्नि उत्पन्न होती है, अरु अरणि के काष्ठ से भी अग्नि उत्पन्न होती है। धूम से भी धूम उत्पन्न होता है, अरु अग्नि से भी धूम उत्पन्न होता है। कदली के कंद से भी केला उत्पन्न होता है, अरु केले के वीज से भी केला उत्पन्न होता है। वीज से भी वटवृक्ष उत्पन्न होता है, अरु वट वृक्ष की शाखा से भी वटवृक्ष उत्पन्न होता है। इस वास्ते प्रतिनियत कार्यकारणभाव किसी जगे भी नहीं देखने में आता है। इस वास्ते यदृच्छा करके किसी जगे कुछ होता है, ऐसे मानना चाहिये। क्योंकि जब यह जान लिया कि जो कुछ होता है, सो यदृच्छा से होता है, तो फिर काहे को वुद्धिमान् कार्यकारणभाव को माने, और आत्मा को क्लेश देवे। यह जैसे 'नास्ति स्वतः' के साथ छः विकल्प करे हैं, ऐसे ही 'नास्ति परतः' के साथ भी छः विकल्प होते हैं। यह जब सर्व विकल्प मिलायें, तब बारां विकल्प होते हैं। इन बारां को जीवादिक सात पदार्थों करके सात गुणा करने पर चौरासी भेद अक्रियावादी के होते है।

अब तीसरा अज्ञानवादी का भेद कहते हैं—कुत्सित ज्ञान है जिसका सो अज्ञानवादी जानना, अथवा अज्ञान करके जो प्रवर्त्तें, सो अज्ञानिक-

अज्ञानवादी का मत

भी चूने की भीत के ऊपर वालु-रेत की मुष्टि के सम्बन्धवत् स्पर्शमात्र है; परन्तु बन्ध नहीं होता है। इस वास्ते अज्ञान ही मोक्षगामी पुरुषों को अंगीकार करना श्रेय है; परन्तु ज्ञान अंगीकार करना श्रेय नहीं है। अज्ञानवादी कहते हैं, कि जेकर ज्ञानका निश्चय करने में सामर्थ्य होवे, तो हम ज्ञान को मान भी लेवें। प्रथम तो ज्ञान सिद्ध ही नहीं हो सकता है, क्योंकि जितने मतावलंबी पुरुष हैं, सो सर्व परस्पर भिन्न ही ज्ञान अंगीकार करते हैं, इस वास्ते क्यों कर यह निश्चय हो सके, कि इस मत का ज्ञान सम्यग् है, अरु इस मत का ज्ञान सम्यग् नहीं है। जेकर कहोगे कि सकल वस्तु के समूह को साक्षात् करने वाले ज्ञान से युक्त जो भगवान् है, तिस के उपदेश से जो ज्ञान होवे सो सम्यग् ज्ञान है। अरु जो इस के विना दूसरे मत हैं, उस का ज्ञान सम्यग् नहीं है। क्योंकि उन के मत में जो ज्ञान है, सो सर्वज्ञ का कथन किया हुआ नहीं है।

अज्ञानवादी कहते हैं कि यह तुमारा कहना तो सत्य है, किंतु सकल वस्तु के समूह का साक्षात् करने वाला ज्ञानी, क्या सुगत, विष्णु, ब्रह्मादिक को हम मानें? किंवा भगवान् महावीर स्वामी को? फिर भी वोही संशय रहा, निश्चय न हुआ, कि कौन सर्वज्ञ है? जेकर कहोगे कि जिस भगवान् के पादारविंद युगल को इन्द्रादि सर्व देवता, परस्पर अहं पूर्वक (मैं पहिले कि मैं पहिले) विशिष्ट विशिष्टतर विभूति

भी चूने की भीत के ऊपर वालु-रेत की मुष्टि के सम्बन्धवत् स्पर्शमात्र है; परन्तु बन्ध नहीं होता है। इस वास्ते अज्ञान ही मोक्षगामी पुरुषों को अंगीकार करना श्रेय है; परन्तु ज्ञान अंगीकार करना श्रेय नहीं है। अज्ञानवादी कहते हैं, कि जेकर ज्ञानका निश्चय करने में सामर्थ्य होवे, तो हम ज्ञान को मान भी लेवें। प्रथम तो ज्ञान सिद्ध ही नहीं हो सकता है, क्योंकि जितने मतावलंबी पुरुष हैं, सो सर्व परस्पर भिन्न ही ज्ञान अंगीकार करते हैं, इस वास्ते क्यों कर यह निश्चय हो सके, कि इस मत का ज्ञान सम्यग् है, अरु इस मत का ज्ञान सम्यग् नहीं है। जेकर कहोगे कि सकल वस्तु के समूह को साक्षात् करने वाले ज्ञान से युक्त जो भगवान् है, तिस के उपदेश से जो ज्ञान होवे सो सम्यग् ज्ञान है। अरु जो इस के विना दूसरे मत हैं, उस का ज्ञान सम्यग् नहीं है। क्योंकि उन के मत में जो ज्ञान है, सो सर्वज्ञ का कथन किया हुआ नहीं है।

अज्ञानवादी कहते हैं कि यह तुमारा कहना तो सत्य है, किंतु सकल वस्तु के समूह का साक्षात् करने वाला ज्ञानी, क्या सुगत, विष्णु, ब्रह्मादिक को हम मानें? किंवा भगवान् महावीर स्वामी को? फिर भी वोही संशय रहा, निश्चय न हुआ, कि कौन सर्वज्ञ है? जेकर कहोगे कि जिस भगवान् के पादारविंद युगल को इन्द्रादि सर्व देवता, परस्पर अहं पूर्वक (मैं पहिले कि मैं पहिले) विशिष्ट विशिष्टतर विभूति

से प्रगट कर देते हैं। इंद्रजाल के २७ पीठ हैं, तिन में से कितनेक पीठों के पाठक अपने आपको तीर्थंकर के रूप में अरु पूजा करते हुए इन्द्र, देवता, बना सकते हैं। तो फिर देवताओं का आगमन अरु पूजा देखने से सर्वज्ञपन क्योंकर सिद्ध होवे, जो हम श्रीमहावीर जी को सर्वज्ञ मान लेवें। तुमारे मत का स्तुतिकार आचार्य समंतभद्र भी कहता है।

देवागमनभोयान—चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान् ॥

[आ० मी०, श्लो० १]

इस श्लोक का भावार्थः—देवताओं का आगमन, आकाश में चलना, छत्र चामरादिक की विभूति, यह सर्व आडंबर, इंद्रजालियों में भी हो सकता है। इस हेतु से तो हे भगवन्! तू हमारा महान्–स्तुति करने योग्य नहीं हो सकता है। तथा हे जैन! तेरे कहने से महावीर ही सर्वज्ञ होवे, तो भी यह जो आचारांगादिक शास्त्र हैं, सो महावीर सर्वज्ञ ही के कथन करे हुए हैं, यह क्योंकर जाना जाये? क्या जाने किसी धूर्त ने रच करके महावीर का नाम रख दिया होवेगा? क्योंकि यह बात इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है; अरु अतींद्रिय ज्ञान की सिद्धि में कोई भी प्रमाण नहीं है।

भला कदी यह भी होवे, कि जो आचारांगादिक शास्त्र

से प्रगट कर देते हैं। इंद्रजाल के २७ पीठ हैं, तिन में से कितनेक पीठों के पाठक अपने आपको तीर्थंकर के रूप में अरु पूजा करते हुए इन्द्र, देवता, बना सकते हैं। तो फिर देवताओं का आगमन अरु पूजा देखने से सर्वज्ञपन क्योंकर सिद्ध होवे, जो हम श्रीमहावीर जी को सर्वज्ञ मान लेवें। तुमारे मत का स्तुतिकार आचार्य समंतभद्र भी कहता है।

देवागमनभोयान–चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान्॥

[आ० मी०, श्लो० १]

इस श्लोक का भावार्थः—देवताओं का आगमन, आकाश में चलना, छत्र चामरादिक की विभूति, यह सर्व आडंबर, इंद्रजालियों में भी हो सकता है। इस हेतु से तो हे भगवन्! तू हमारा महान्–स्तुति करने योग्य नहीं हो सकता है। तथा हे जैन! तेरे कहने से महावीर ही सर्वज्ञ होवे, तो भी यह जो आचारांगादिक शास्त्र हैं, सो महावीर सर्वज्ञ ही के कथन करे हुए हैं, यह क्योंकर जाना जाये? क्या जाने किसी धूर्त ने रच करके महावीर का नाम रख दिया होवेगा? क्योंकि यह वात इन्द्रिय ज्ञान का विषय नहीं है; अरु अतींद्रिय ज्ञान की सिद्धि में कोई भी प्रमाण नहीं है।

भला कदी यह भी होवे, कि जो आचारांगादिक शास्त्र

परन्तु भगवान् का अभिप्राय किसी ने नहीं जाना। जैसे आर्यदेशोत्पन्न पुरुष के शब्द उच्चारण से म्लेच्छ भी वैसा शब्द उच्चार सकता है; परन्तु तात्पर्य कुछ नहीं जानता। ऐसे ही महावीर के शब्द के अनुवादक गौतमादिक हैं, परन्तु महावीर का अभिप्राय नहीं जानते। इस वास्ते सम्यग् ज्ञान किसी मत में भी सिद्ध नहीं होता है। एक तो, ज्ञान होने से पुरुष अभिमान से बहुत कर्म बांध कर दीर्घ संसारी हो जाता है, दूसरे, सम्यग् ज्ञान किसी मत में है नहीं, इस वास्ते अज्ञान ही श्रेय है।

सो अज्ञानी सतसठ प्रकार के हैं। तिन के जानने का यह उपाय है, कि जीवादिक नव पदार्थ किसी पट्टादिक (पट्टी आदि) में लिखने, अरु दशमे स्थान में उत्पत्ति लिखनी। तिन जीवादि नव पदार्थों के हेठ न्यारे न्यारे सत्त्वादिक सात पद स्थापन करने, सो यह हैं:—१. सत्त्व, २. असत्त्व, ३. सद्-सत्त्व, ४. अवाच्यत्त्व, ५. सद्वाच्यत्व, ६. असद्वाच्यत्त्व, ७. सदसद्वाच्यत्व। १. सत्त्व—स्वरूप करके विद्यमान पना, २. असत्त्व—पररूप करके अविद्यमान पना, ३. सदसत्त्व—स्वरूप से विद्यमानपना और पररूप करके अविद्यमान पना। यद्यपि सर्व वस्तु स्वपररूप करके सर्वदा ही स्वभाव से सदसत् स्वरूप वाली है, तो भी उस की किसी जगे कदाचित् कुछ अद्भुत रूप करके विवक्षा की जाती है। तिस हेतु से यह तीन विकल्प होते हैं, तथा ४. अवाच्यत्व-सोई सत्त्व, असत्त्व

परन्तु भगवान् का अभिप्राय किसी ने नहीं जाना । जैसे आर्यदेशोत्पन्न पुरुष के शब्द उच्चारण से म्लेच्छ भी वैसा शब्द उच्चार सकता है; परन्तु तात्पर्य कुछ नहीं जानता। ऐसे ही महावीर के शब्द के अनुवादक गौतमादिक हैं, परन्तु महावीर का अभिप्राय नहीं जानते। इस वास्ते सम्यग् ज्ञान किसी मत में भी सिद्ध नहीं होता है। एक तो, ज्ञान होने से पुरुष अभिमान से बहुत कर्म बांध कर दीर्घ संसारी हो जाता है, दूसरे, सम्यग् ज्ञान किसी मत में है नहीं, इस वास्ते अज्ञान ही श्रेय है।

सो अज्ञानी सतसठ प्रकार के हैं। तिन के जानने का यह उपाय है, कि जीवादिक नव पदार्थ किसी पट्टादिक (पट्टी आदि) में लिखने, अरु दशमे स्थान में उत्पत्ति लिखनी। तिन जीवादि नव पदार्थों के हेठ न्यारे न्यारे सत्त्वादिक सात पद स्थापन करने, सो यह हैं:—१. सत्त्व, २. असत्त्व, ३. सद-सत्त्व, ४. अवाच्यत्त्व, ५. सदवाच्यत्व, ६. असदवाच्यत्व, ७. सदसदवाच्यत्व। १. सत्त्व—स्वरूप करके विद्यमान पना, २. असत्त्व—पररूप करके अविद्यमान पना, ३. सदसत्त्व—स्वरूप से विद्यमानपना और पररूप करके अविद्यमान पना। यद्यपि सर्व वस्तु स्वपररूप करके सर्वदा ही स्वभाव से सदसत् स्वरूप वाली है, तो भी उस की किसी जगे कदाचित् कुछ अद्भुत रूप करके विवक्षा की जाती है। तिस हेतु से यह तीन विकल्प होते हैं, तथा ४. अवाच्यत्व–सोई सत्त्व, असत्त्व

बढ़ जावेगा, तब तो ज्ञानवान् बहुत कर्म बन्ध करके दीर्घतर संसारी हो जावेगा। ऐसे ही असत् आदिक शेष विकल्पों का भी अर्थ जान लेना।

विनयवादी का मत

विनय करके जो प्रवर्त्ते, सो *वैनयिक। इन विनयवादियों के लिंग अरु शास्त्र नहीं होता है, केवल विनय ही से मोक्ष मानते हैं, तिन विनयवादियों के बत्तीस मत हैं, सो इस तरे से हैं:—१. सुर, २. राजा, ३. यति, ४. ज्ञाति, ५. स्थविर, ६. अधम, ७. माता, ८. पिता, इन आठों की मन करके, वचन करके, काया करके, अरु देशकाल उचित दान देने से विनय करे। इन चारों से आठ को गुणा करने पर बत्तीस होते हैं।

ए सब मिल कर तीन सौ त्रेसठ मत हुये। ए सर्व मतधारी तथा इन मतों के प्ररूपणे वाले सर्व कुगुरु हैं, क्योंकि यह सर्व मत मिथ्यादृष्टियों के हैं। यह सब एकांतवादी हैं, अर्थात् स्याद्वादरूप अमृत के स्वाद से रहित हैं। इन का जो अभिमत तत्त्व है, सो प्रमाण करके बाधित है, इन के मतों को पूर्वाचार्योंने अनेक युक्तियों से खंडन करा है। सो भव्य जीवों के जानने वास्ते पूर्वाचार्यों की युक्तियां किंचित् मात्र नीचे लिखते हैं।

---

* विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः। [षड्०स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

वढ़ जावेगा, तव तो ज्ञानवान् बहुत कर्म बन्ध करके दीर्घतर संसारी हो जावेगा। ऐसे ही असत् आदिक शेष विकल्पों का भी अर्थ जान लेना।

विनयवादी का मत

विनय करके जो प्रवर्त्ते, सो *वैनयिक। इन विनयवादियों के लिंग अरु शास्त्र नहीं होता है, केवल विनय ही से मोक्ष मानते हैं, तिन विनयवादियों के वत्तीस मत हैं, सो इस तरे से हैं:—१. सुर, २. राजा, ३. यति, ४. ज्ञाति, ५. स्थविर, ६. अधम, ७. माता, ८. पिता, इन आठों की मन करके, वचन करके, काया करके, अरु देशकाल उचित दान देने से विनय करे। इन चारों से आठ को गुणा करने पर वत्तीस होते हैं।

ए सब मिल कर तीन सौ त्रेसठ मत हुये। ए सर्व मतधारी तथा इन मतों के प्ररूपणे वाले सर्व कुगुरु हैं, क्योंकि यह सर्व मत मिथ्यादृष्टियों के हैं। यह सब एकांतवादी हैं, अर्थात् स्याद्वादरूप अमृत के स्वाद से रहित हैं। इन का जो अभिमत तत्त्व है, सो प्रमाण करके वाधित है, इन के मतों को पूर्वाचार्योंने अनेक युक्तियों से खडन करा है। सो भव्य जीवों के जानने वास्ते पूर्वाचार्यों की युक्तियां किंचित् मात्र नीचे लिखते हैं।

* विनयेन चरन्तीति वैनयिकाः। [षड्०स०, श्लो० १ की बृहद्वृत्ति]

अन्य दूसरे काल के योग से है ।

सिद्धान्तीः—जेकर दूसरे काल के योग से प्रथम काल का पूर्वापर व्यवहार है, तब तो दूसरे कालका पूर्वापर व्यवहार तीसरे काल के योग से होगा, ऐसे ही चलते जाएं, तो अनवस्था दूषण का प्रसंग हो जायगा ।

प्रतिवादीः—यह दूषण हम को नहीं लगता है, क्योंकि हम तो तिस काल ही के स्वयमेव पूर्वापर विभाग मानते हैं, किसी कालादि के योग से नहीं मानते हैं । तथा चोक्तम्ः—

पूर्वकालादियोगी यः पूर्वादिव्यपदेशभाक् ।
पूर्वापरत्वं तस्यापि, स्वरूपादेव नान्यतः ॥

अर्थः—जो पूर्वापर काल के योगी भरत रामादि हैं, सो भरत रामादि पूर्वापर व्यपदेश वाले हैं, अरु कालका जो पूर्वापर विभाग है, सो स्वतः ही है, परन्तु अन्यकालादि के योग से नहीं है ।

सिद्धान्तीः—हे कालवादी ! यह तुमारा कहना ऐसा है, कि जैसा कंठ लग मदिरा पीने वाले का प्रलाप है । क्योंकि तुमने प्रथम पक्षमें काल को एकांत रूप से एक, नित्य, व्यापी माना है, तो फिर कैसे तिस काल का पूर्वापर व्यवहार होवे ?

प्रतिवादीः—सहचारी के संग से एक वस्तु का भी पूर्वापर कल्पनामात्र व्यवहार हो सकता है । जैसे सहचारी भरतादिकों का पूर्वापर व्यवहार है, तैसे ही भरतादि संहचारियों के संग से काल का भी कल्पनामात्र पूर्वापर व्यपदेश होता

अन्य दूसरे काल के योग से है ।

सिद्धान्तीः—जेकर दूसरे काल के योग से प्रथम काल का पूर्वापर व्यवहार है, तब तो दूसरे कालका पूर्वापर व्यवहार तीसरे काल के योग से होगा, ऐसे ही चलते जाएं, तो अनवस्था दूषण का प्रसंग हो जायगा ।

प्रतिवादीः—यह दूषण हम को नहीं लगता है, क्योंकि हम तो तिस काल ही के स्वयमेव पूर्वापर विभाग मानते हैं, किसी कालादि के योग से नहीं मानते हैं । तथा चोक्तम्ः—

पूर्वकालादियोगी यः पूर्वादिव्यपदेशभाक् ।
पूर्वापरत्वं तस्यापि, स्वरूपादेव नान्यतः ॥

अर्थः—जो पूर्वापर काल के योगी भरत रामादि हैं, सो भरत रामादि पूर्वापर व्यपदेश वाले हैं, अरु कालका जो पूर्वापर विभाग है, सो स्वतः ही है, परन्तु अन्यकालादि के योग से नहीं है ।

सिद्धान्तीः—हे कालवादी ! यह तुमारा कहना ऐसा है, कि जैसा कंठ लग मदिरा पीने वाले का प्रलाप है । क्योंकि तुमने प्रथम पक्षमें काल को एकांत रूप से एक, नित्य, व्यापी माना है, तो फिर कैसे तिस काल का पूर्वापर व्यवहार होवे ?

प्रतिवादीः—सहचारी के संग से एक वस्तु का भी पूर्वापर कल्पनामात्र व्यवहार हो सकता है । जैसे सहचारी भरतादिकों का पूर्वापर व्यवहार है, तैसे ही भरतादि सहचारियों के संग से काल का भी कल्पनामात्र पूर्वापर व्यपदेश होता

इस वास्ते प्रथम पक्ष श्रेय नहीं है। जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तो वो भी अयुक्त है। क्योंकि समयादिकरूप परिणामी काल विषे काल एक भी है, तो भी विचित्रपना उपलब्ध होता है। तथाहि—एक काल में मूंग पकाते हुए कोई पकता है, कोई नहीं पकता है। तथा समकाल में एक राजा की नौकरी करते हुए एक नौकर को थोड़े ही काल में नौकरी का फल मिल जाता है, अरु दूसरे को बहु कालांतर में भी वैसा फल नहीं मिलता है। तथा समकाल में खेती करते हुए एक जाट के तो बहु धान्य उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु दूसरे को थोड़ा उत्पन्न होता है। तथा समकाल में कौड़ियों को मुट्ठी भर कर भूमिका में गेरे, तब कितनीक कौड़ियां सीधी पड़ती हैं, अरु कितनीक औंधी पड़ती हैं। अब जेकर काल ही एकला कारण होवे, तब तो सर्व मूंग एक ही काल में पक जाते, परंतु पकते नहीं हैं। इस वास्ते केवल काल ही जगत् की विचित्रता का कर्त्ता नहीं है, किंतु कालादि सामग्री के मिलने से कर्म कारण है, यह सिद्ध पक्ष है।

अथ दूसरा ईश्वरवादी अरु तीसरा अद्वैतवादी, ए दोनों मतों का खण्डन द्वितीय परिच्छेद में लिख आये हैं, तहां से जान लेना।

अब चौथा मत नियतिवादी का है, तिस का खण्डन

इस वास्ते प्रथम पक्ष श्रेय नहीं है। जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तो वो भी अयुक्त है। क्योंकि समयादिकरूप परिणामी काल विषे काल एक भी है, तो भी विचित्रपना उपलब्ध होता है। तथाहि—एक काल में मूंग पकाते हुए कोई पकता है, कोई नहीं पकता है। तथा समकाल में एक राजा की नौकरी करते हुए एक नौकर को थोड़े ही काल में नौकरी का फल मिल जाता है, अरु दूसरे को बहु कालांतर में भी वैसा फल नहीं मिलता है। तथा समकाल में खेती करते हुए एक जाट के तो बहु धान्य उत्पन्न हो जाते हैं, परन्तु दूसरे को थोड़ा उत्पन्न होता है। तथा समकाल में कौड़ियों को मुट्ठी भर कर भूमिका में गेरे, तब कितनीक कौड़ियां सीधी पड़ती हैं, अरु कितनीक औंधी पड़ती हैं। अब जेकर काल ही एकला कारण होवे, तब तो सर्व मूंग एक ही काल में पक जाते, परंतु पकते नहीं हैं। इस वास्ते केवल काल ही जगत् की विचित्रता का कर्त्ता नहीं है, किंतु कालादि सामग्री के मिलने से कर्म कारण है, यह सिद्ध पक्ष है।

अथ दूसरा ईश्वरवादी अरु तीसरा अद्वैतवादी, ए दोनों मतों का खण्डन द्वितीय परिच्छेद में लिख आये हैं, तहां से जान लेना।

अब चौथा मत नियतिवादी का है, तिस का खण्डन

करके कार्य उत्पन्न करे, तब तो सर्वदा तिसही रूप करके कार्य उत्पन्न करना चाहिये; क्योंकि तिस के रूप में कोई भी विशेषता नहीं है, अर्थात् एक ही रूप है। परन्तु सर्वदा तिस ही रूप करके तो कार्य उत्पन्न नहीं करती है, क्योंकि कभी कैसा अरु कभी कैसा कार्य उत्पन्न होता दीख पड़ता है। तथा एक और भी बात है, कि जो दूसरे तीसरे आदि क्षण में नियति ने कार्य करने हैं, वो सर्व कार्य प्रथम समय ही में उत्पन्न कर लेवे, क्योंकि तिस नियति का जो नित्य करण-स्वभाव द्वितीयादि क्षण में है, सो स्वभाव प्रथम समय में भी विद्यमान है। जे कर प्रथम क्षण में द्वितीयादि क्षण-वर्त्ती कार्य करने की शक्ति नहीं, तो द्वितीयादि क्षण में भी कार्य न होना चाहिये; क्योंकि प्रथम द्वितीयादि क्षण में कुछ भी विशेष नहीं है। जेकर प्रथम द्वितीयादि क्षण में नियति के रूप में परस्पर विशेष मानोगे तब तो जोरा जोरी नियति के रूप में अनित्यता आगई। क्योंकि "अताद्वस्थ्यमनित्यतां ब्रूमः इति वचन प्रामाण्यात्"—जो जैसा है वो तैसा न रहे, [इस वचन प्रमाण से] उस को हम अनित्य कहते हैं।

प्रतिवादीः—नियति नित्य, विशेष रहित भी है, तो भी तिस तिस सहकारी की अपेक्षा करके कार्य उत्पन्न करती है। अरु जो सहकारी हैं, सो प्रतिनियत देश, काल वाले हैं, तिस वास्ते सहकारियों के योग से कार्य क्रम करके होता है।

करके कार्य उत्पन्न करे, तब तो सर्वदा तिसही रूप करके कार्य उत्पन्न करना चाहिये; क्योंकि तिस के रूप में कोई भी विशेषता नहीं है, अर्थात् एक ही रूप है। परन्तु सर्वदा तिस ही रूप करके तो कार्य उत्पन्न नहीं करती है, क्योंकि कभी कैसा अरु कभी कैसा कार्य उत्पन्न होता दीख पड़ता है। तथा एक और भी बात है, कि जो दूसरे तीसरे आदि क्षण में नियति ने कार्य करने हैं, वो सर्व कार्य प्रथम समय ही में उत्पन्न कर लेवे, क्योंकि तिस नियति का जो नित्य करण-स्वभाव द्वितीयादि क्षण में है, सो स्वभाव प्रथम समय में भी विद्यमान है। जे कर प्रथम क्षण में द्वितीयादि क्षण-वर्त्ती कार्य करने की शक्ति नहीं, तो द्वितीयादि क्षण में भी कार्य न होना चाहिये; क्योंकि प्रथम द्वितीयादि क्षण में कुछ भी विशेष नहीं है। जेकर प्रथम द्वितीयादि क्षण में नियति के रूप में परस्पर विशेष मानोगे तब तो जोरा जोरी नियति के रूप में अनित्यता आगई। क्योंकि "अताद्वस्थ्यमनित्यतां ब्रूमः इति वचन प्रामाण्यात्"—जो जैसा है वो तैसा न रहे, [इस वचन प्रमाण से] उस को हम अनित्य कहते हैं।

प्रतिवादी:—नियति नित्य, विशेष रहित भी है, तो भी तिस तिस सहकारी की अपेक्षा करके कार्य उत्पन्न करती है। अरु जो सहकारी हैं, सो प्रतिनियत देश, काल वाले हैं, तिस वास्ते सहकारियों के योग से कार्य क्रम करके होता है।

रूप मानी थी, तिस प्रतिज्ञा का व्याघात होने का प्रसङ्ग हो जायगा। अरु जो पदार्थ क्षणक्षयी होता है, वो किसी का कार्य कारण नहीं हो सकता है। तथा एक और भी बात है कि जेकर नियति एक रूप होवे, तदा तिस में जो कार्य उत्पन्न होवेंगे, सो सर्व एक रूप ही होने चाहिये, क्योंकि विना कारण के भेद हुए कार्यभेद कदापि नहीं हो सकता है। जेकर हो जावे, तब तो वह कार्यभेद निर्हेतुक ही होवेगा। परन्तु हेतु विना किसी कार्य का भेद नहीं है। जेकर अनेक रूप नियति मानोगे, तब तो तिस नियति से अन्य नानारूप विशेषण विना नियति नानारूप कदापि न होवेगी। जैसे मेघ का पानी, काली, पीली, ऊषर भूमि के सम्बन्ध विना नानारूप नहीं हो सकता है, यदुक्तं—*"विशेषणं विना यस्मान्न तुल्यानां विशिष्टतेति वचनप्रामाण्यात्"। तिस वास्ते अवश्य अन्य नानारूप विशेषणों का जो होना है, सो क्या तिस नियति से ही होता है, अथवा किसी दूसरे से होता है? जेकर कहोगे कि नियति से ही होता है, तब तो एक रूप नियति से होने वाले विशेषणों की नानारूपता कैसे होवे? जेकर कहोगे कि विचित्र कार्य की † अन्यथानुपपत्ति करके

---

* क्योंकि विशेषण के विना समान वस्तुओं में विशिष्टता-भिन्नता नहीं आती है।

† कार्य का कारण के विना न होना अन्यथानुपपत्ति है; जैसे कि

रूप मानी थी, तिस प्रतिज्ञा का व्याघात होने का प्रसङ्ग हो जायगा। अरु जो पदार्थ क्षणक्षयी होता है, वो किसी का कार्य कारण नहीं हो सकता है। तथा एक और भी बात हैं कि जेकर नियति एक रूप होवे, तदा तिस में जो कार्य उत्पन्न होवेंगे, सो सर्व एक रूप ही होने चाहिये, क्योंकि विना कारण के भेद हुए कार्यभेद कदापि नहीं हो सकता है। जेकर हो जावे, तब तो वह कार्यभेद निर्हेतुक ही होवेगा। परन्तु हेतु विना किसी कार्य का भेद नहीं है। जेकर अनेक रूप नियति मानोगे, तब तो तिस नियति से अन्य नानारूप विशेषण विना नियति नानारूप कदापि न होवेगी। जैसे मेघ का पानी, काली, पीली, ऊषर भूमि के सम्बन्ध विना नानारूप नहीं हो सकता है, यदुक्तं—*"विशेषणं विना यस्मान्न तुल्यानां विशिष्टतेति वचनप्रामाण्यात्"। तिस वास्ते अवश्य अन्य नानारूप विशेषणों का जो होना है, सो क्या तिस नियति से ही होता है, अथवा किसी दूसरे से होता है? जेकर कहोगे कि नियति से ही होता है, तब तो एक रूप नियति से होने वाले विशेषणों की नानारूपता कैसे होवे? जेकर कहोगे कि विचित्र कार्य की † अन्यथानुपपत्ति करके

---

* क्योंकि विशेषण के विना समान वस्तुओं में विशिष्टता-भिन्नता नहीं आती है।

† कार्य का कारण के विना न होना अन्यथानुपपत्ति है; जैसे कि

आकाश भी देश भेद करके सुख दुःख का हेतु है, जैसे मारवाड़ देश में आकाश दुःखदायी है, शेष सजल देशों में सुखदायी है। यह भी तुमारा कहना असत् है। क्योंकि तिन मारवाड़ादि देशों में भी आकाश में रहे हुए जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलों ही करी दुःख सुख होते हैं। तथाहि मरुस्थली जो है, सो प्रायः जल करके रहित है, अरु तिस में वालु भी बहुत है। तहां जब रस्ते में चलते हुए पग वालु में धस जाते हैं, तब तो पसीना बहुत आ जाता है। जब उष्ण काल में सूर्य की किरणों से वालु तप जाता है, तब बहुत संताप होता है। अरु जल भी पीने को पूरा नहीं मिलता है; तिस के खोदने में बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। इस वास्ते उन देशों में बहुत दुःख है। परन्तु सजल देशों में पूर्वोक्त कारण नहीं हैं। इस वास्ते पूर्वोक्त दुःख भी नहीं है। इस हेतु से पुद्गल ही सुख दुःख का हेतु है, परन्तु आकाश नहीं।

अब जेकर नियति को अभावरूप मानोगे, तो यह भी तुमारा पक्ष अयुक्त है, क्योंकि अभाव जो है सो तुच्छरूप है, शक्ति रहित है, और कार्य करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि कटक कुण्डलादिकों का जो अभाव है। सो कटक कुण्डल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है, ऐसे देखने में आता है। जेकर कटक कुण्डलादिकों का अभाव कटक कुण्डलादिक उत्पन्न करे, तब तो जगत् में कोई भी दरिद्री न रहे।

प्रतिवादीः—घटाभाव जो है सो मृत्पिंड है। तिस माटी

आकाश भी देश भेद करके सुख दुःख का हेतु है, जैसे मारवाड़ देश में आकाश दुःखदायी है, शेष सजल देशों में सुखदायी है। यह भी तुमारा कहना असत् है। क्योंकि तिन मारवाड़ादि देशों में भी आकाश में रहे हुए जो पुद्गल हैं, उन पुद्गलों ही करी दुःख सुख होते हैं। तथाहि मरुस्थली जो है, सो प्रायः जल करके रहित है, अरु तिस में वालु भी बहुत है। तहां जब रस्ते में चलते हुए पग वालु में धस जाते हैं, तब तो पसीना बहुत आ जाता है। जब उष्ण काल में सूर्य की किरणों से वालु तप जाता है, तब बहुत संताप होता है। अरु जल भी पीने को पूरा नहीं मिलता है; तिस के खोदने में बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। इस वास्ते उन देशों में बहुत दुःख है। परन्तु सजल देशों में पूर्वोक्त कारण नहीं हैं। इस वास्ते पूर्वोक्त दुःख भी नहीं है। इस हेतु से पुद्गल ही सुख दुःख का हेतु है, परन्तु आकाश नहीं।

अब जेकर नियति को अभावरूप मानोगे, तो यह भी तुमारा पक्ष अयुक्त है, क्योंकि अभाव जो है सो तुच्छरूप है, शक्ति रहित है, और कार्य करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि कटक कुण्डलादिकों का जो अभाव है। सो कटक कुण्डल उत्पन्न करने को समर्थ नहीं है, ऐसे देखने में आता है। जेकर कटक कुण्डलादिकों का अभाव कटक कुण्डलादिक उत्पन्न करे, तब तो जगत् में कोई भी दरिद्री न रहे।

प्रतिवादीः—घटाभाव जो है सो मृत्पिंड है। तिस माटी

पिंडादिक से भी घट क्यों नहीं हो जाता ? जैसा मृत्पिड में घट के प्रागभाव का अभाव है, वैसा ही सूत्रपिंडादिक में भी घट के प्रागभाव का अभाव है। तथा मृतपिंड से खरशृंग क्यों उत्पन्न नहीं हो जाता ? इस वास्ते यह तुमारा कहना कुछ काम का नहीं है। तथा जो तुमने कहा था, कि जो वस्तु जिस अवसर में जिस से उत्पन्न होवे है, सो कालांतर में भी वही वस्तु तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होती हुई दीखती है। सो यह तुमारा कहना ठीक है, क्योंकि कारण सामग्री के अनादि नियमों से कार्य भी तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होता है। जब कि कारणशक्ति के नियम से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर कौन ऐसा प्रेक्षावान् प्रमाण पंथ का कुशल है, जो प्रमाणबाधित नियति को अंगीकार करे ?

स्वभाव-वाद का खण्डन

अथ पांचमा स्वभाववादी का खण्डन लिखते हैं। स्वभाववादी ऐसे कहते हैं, कि इस संसार में सर्व भाव पदार्थ स्वभाव ही से उत्पन्न होते हैं। यह स्वभाववादियों का मत भी नियतिवाद के खण्डन से ही खण्डित हो गया, क्योंकि जो दूषण नियतिवादी के मत में कहे हैं, वे सर्व दूषण प्रायः यहां भी समान ही हैं। यथा—यह जो तुमारा स्वभाव है, सो भावरूप है ? अथवा अभावरूप है ? जेकर कहोगे कि भावरूप है, तो क्या एक

पिंडादिक से भी घट क्यों नहीं हो जाता ? जैसा मृत्पिंड में घट के प्रागभाव का अभाव है, वैसा ही सूत्रपिंडादिक में भी घट के प्रागभाव का अभाव है। तथा मृतपिंड से खरशृंग क्यों उत्पन्न नहीं हो जाता ? इस वास्ते यह तुमारा कहना कुछ काम का नहीं है। तथा जो तुमने कहा था, कि जो वस्तु जिस अवसर में जिस से उत्पन्न होवे है, सो कालांतर में भी वही वस्तु तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होती हुई दीखती है। सो यह तुमारा कहना ठीक है, क्योंकि कारण सामग्री के अनादि नियमों से कार्य भी तिस अवसर में तिस से ही नियतरूप करके उत्पन्न होता है। जब कि कारणशक्ति के नियम से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, तो फिर कौन ऐसा प्रेक्षावान् प्रमाण पंथ का कुशल है, जो प्रमाणबाधित नियति को अंगीकार करे ?

स्वभाव-वाद का खण्डन

अथ पांचमा स्वभाववादी का खण्डन लिखते हैं। स्वभाववादी ऐसे कहते हैं, कि इस संसार में सर्व भाव पदार्थ स्वभाव ही से उत्पन्न होते हैं। यह स्वभाववादियों का मत भी नियतिवाद के खण्डन से ही खण्डित हो गया, क्योंकि जो दूषण नियतिवादी के मत में कहे हैं, वे सर्व दूषण प्रायः यहां भी समान ही हैं। यथा—यह जो तुमारा स्वभाव है, सो भावरूप है ? अथवा अभावरूप है ? जेकर कहोगे कि भावरूप है, तो क्या एक

था, कि मूंगों में पकने का स्वभाव है, कोकडु में नहीं, इत्यादि। सो भी कारणगत स्वभाव का अंगीकार कर लेने से समीचीन हो जाता है। जैसे एक कोकडु मूंग स्वकारण वशसे तैसे रूप वाले हुए हैं, कि हांडी, ईंधन, कालादि सामग्री का संयोग भी है, तो भी नहीं पकते। तथा स्वभाव जो है सो कारण से अभिन्न है। इस वास्ते सर्व वस्तु सकारण ही हैं, यह सिद्ध पक्ष है।

यदृच्छा-वाद का खण्डन

अथ अक्रियावादियों में जो यदृच्छावादी हैं, तिनों ने कहा था, कि वस्तुओं का नियत कार्यकारण-भाव नहीं है, इत्यादि। सो उन का यह कहना भी कार्यकारण के विवेचन करन वाली बुद्धि से रहित होने का सूचक है। क्योंकि कार्य कारण का आपस में प्रतिनियत सम्बन्ध है। तथाहि—शालूक से जो शालूक उत्पन्न होता है, सो वह सदा शालूक ही से उत्पन्न होगा, परन्तु गोबर से नहीं। अरु जो गोबर से शालूक उत्पन्न होता है, वह सदा गोबर ही से उत्पन्न होगा, परन्तु शालूक से नहीं। अरु इन दोनों शालूकों की शक्ति, वर्णादि की विचित्रता से और परस्पर जात्यंतर होने से एकरूपता भी नहीं हैं, तथा जो अग्नि से अग्नि उत्पन्न होती है, सो भी सदैव अग्नि ही से उत्पन्न होगी, परन्तु अरणी के काष्ठ से नहीं। अरु जो अरणी के काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, सो सदा अरणी के काष्ठ से ही

था, कि मूंगों में पकने का स्वभाव है, कोकडु में नहीं, इत्यादि। सो भी कारणगत स्वभाव का अंगीकार कर लेने से समीचीन हो जाता है। जैसे एक कोकडु मूंग स्वकारण वशसे तैसे रूप वाले हुए हैं, कि हांडी, ईंधन, कालादि सामग्री का संयोग भी है, तो भी नहीं पकते। तथा स्वभाव जो है सो कारण से अभिन्न है। इस वास्ते सर्व वस्तु सकारण ही हैं, यह सिद्ध पक्ष है।

यदृच्छा-वाद का खण्डन

अथ अक्रियावादियों में जो यदृच्छावादी हैं, तिनों ने कहा था, कि वस्तुओं का नियत कार्यकारण-भाव नहीं है, इत्यादि। सो उन का यह कहना भी कार्यकारण के विवेचन करन वाली बुद्धि से रहित होने का सूचक है। क्योंकि कार्य कारण का आपस में प्रतिनियत सम्बन्ध है। तथाहि—शालूक से जो शालूक उत्पन्न होता है, सो वह सदा शालूक ही से उत्पन्न होगा, परन्तु गोबर से नहीं। अरु जो गोवर से शालूक उत्पन्न होता है, वह सदा गोवर ही से उत्पन्न होगा, परन्तु शालूक से नहीं। अरु इन दोनों शालूकों की शक्ति, वर्णादि की विचित्रता से और परस्पर जात्यंतर होने से एकरूपता भी नहीं हैं, तथा जो अग्नि से अग्नि उत्पन्न होती है, सो भी सदैव अग्नि ही से उत्पन्न होगी, परन्तु अरणी के काष्ठ से नहीं। अरु जो अरणी के काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, सो सदा अरणी के काष्ठ से ही

तो दूर रही, परन्तु प्रथम हम तुमको दो बातें पूछते हैं—ज्ञान का जो तुम निषेध करते हो, सो ज्ञान से करते हो ? वा अज्ञान से करते हो ? जे कर कहोगे कि ज्ञान से करते हैं, तो फिर कैसे कहते हो कि अज्ञान ही श्रेय है ? इस कहने से तो ज्ञान ही श्रेय हुआ, क्योंकि ज्ञान के बिना अज्ञान को कोई स्थापन करने में समर्थ नहीं है । जेकर उक्त कहने को मानोगे, तो तुमारी प्रतिज्ञा के व्याघात का प्रसंग होगा। जेकर कहोगे कि अज्ञान से निषेध करते हैं । सो भी अयुक्त है, क्योंकि अज्ञान में ज्ञान का निषेध करने की सामर्थ्य नहीं है । जब अज्ञान निषेध करने में समर्थ न हुआ, तब तो सिद्ध है कि ज्ञान ही श्रेय है । अरु जो तुमने कहा था, कि जब ज्ञान होगा, तब परस्पर में होने वाले विवाद के योग से चित्त कालुष्यादि भाव को प्राप्त होगा। सो यह भी विना विचारे कहना है । हम परमार्थ से ज्ञानी उस को कहते हैं, कि जिस की आत्मा विवेक करके पवित्र होवे, अरु जो ज्ञान का गर्व न करे। तथा जो थोड़ा सा ज्ञानी हो कर, कंठ लग मद्य पी कर जैसे उन्मत्त बोलता है तैसे बोले, अरु सकल जगत् को तृण की तरे तुच्छ माने, सो परमार्थ से ज्ञानवान् नहीं किन्तु अज्ञानी ही है । क्योंकि उस को ज्ञान का फल नहीं हुआ है। ज्ञान का फल तो रागद्वेषादि दूषणों का त्याग करना है । जब कि यह नहीं हुआ, तब तो परमार्थ से ज्ञान ही नहीं। यथा—

तो दूर रही, परन्तु प्रथम हम तुमको दो बातें पूछते हैं—ज्ञान का जो तुम निषेध करते हो, सो ज्ञान से करते हो ? वा अज्ञान से करते हो ? जे कर कहोगे कि ज्ञान से करते हैं, तो फिर कैसे कहते हो कि अज्ञान ही श्रेय है ? इस कहने से तो ज्ञान ही श्रेय हुआ, क्योंकि ज्ञान के बिना अज्ञान को कोई स्थापन करने में समर्थ नहीं है । जेकर उक्त कहने को मानोगे, तो तुमारी प्रतिज्ञा के व्याघात का प्रसंग होगा। जेकर कहोगे कि अज्ञान से निषेध करते हैं। सो भी अयुक्त है, क्योंकि अज्ञान में ज्ञान का निषेध करने की सामर्थ्य नहीं है । जब अज्ञान निषेध करने में समर्थ न हुआ, तब तो सिद्ध है कि ज्ञान ही श्रेय है । अरु जो तुमने कहा था, कि जब ज्ञान होगा, तब परस्पर में होने वाले विवाद के योग से चित्त कालुष्यादि भाव को प्राप्त होगा। सो यह भी बिना विचारे कहना है । हम परमार्थ से ज्ञानी उस को कहते हैं, कि जिस की आत्मा विवेक करके पवित्र होवे, अरु जो ज्ञान का गर्व न करे। तथा जो थोड़ा सा ज्ञानी हो कर, कंठ लग मद्य पी कर जैसे उन्मत्त बोलता है तैसे बोले, अरु सकल जगत् को तृण की तरे तुच्छ माने, सो परमार्थ से ज्ञानवान् नहीं किन्तु अज्ञानी ही है । क्योंकि उस को ज्ञान का फल नहीं हुआ है। ज्ञान का फल तो रागद्वेषादि दूषणों का त्याग करना है । जब कि यह नहीं हुआ, तब तो परमार्थ से ज्ञान ही नहीं। यथा—

योग्य है, कि ज्ञान के होते हुए कदाचित् कर्मदोष से अकार्य में प्रवृत्ति भी होवे, तो भी ज्ञान के बल से प्रतिक्षण संवेग भावना के द्वारा ज्ञानी में तीव्र अशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। जैसे कोई एक पुरुष राजादि के दुष्ट नियोग से विषमिश्रित अन्न को भयभीत मन से खाता है, तैसे ही सम्यक् ज्ञानी भी कथंचित् कर्मदोष से यदि अकार्य भी करेगा, तो भी संसार के दुःखों से भयभीत मनवाला अवश्य होवेगा, किंतु निःशंक-निर्भय नहीं होवेगा। संसार से जो भयभीत होना है, तिस ही को संवेग कहते हैं। तब सिद्ध हुआ कि जो संवेगवान् है, वह तीव्र अशुभ अध्यवसाय वाला नहीं होता। अरु जो तुम ने कहा था, कि अज्ञान ही सत्पुरुषों को मोक्ष जाने के वास्ते श्रेय है, ज्ञान श्रेय नहीं। सो यह कहना भी मूढता का सूचक है, क्योंकि जिसका नाम ही अज्ञान है, वो श्रेय क्योंकर हो सकता है? अरु जो तुमने कहा था, कि हम ज्ञान को मान भी लेवें, जेकर ज्ञान का निश्चय करने में कोई सामर्थ्य होवे। सो भी मूर्खों का सा कहना है। क्योंकि यद्यपि सर्व मतों वाले परस्पर भिन्न ही ज्ञान अंगीकार करते हैं, तो भी जिस का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित नहीं, अरु पूर्वापर-व्याहत नहीं है, वो यथार्थरूप माना ही जावेगा। सो तैसा वचन तो भगवान् ही का कहा हुआ हो सकता है, सोई प्रमाण है, शेष नहीं। अरु जो कहा था कि बौद्ध भी अपने बुद्ध भगवान् को सर्वज्ञ मानते हैं, इत्यादि। सो भी असत् है,

योग्य है, कि ज्ञान के होते हुए कदाचित् कर्मदोष से अकार्य में प्रवृत्ति भी होवे, तो भी ज्ञान के बल से प्रतिक्षण संवेग भावना के द्वारा ज्ञानी में तीव्र अशुद्ध परिणाम नहीं होते हैं। जैसे कोई एक पुरुष राजादि के दुष्ट नियोग से विषमिश्रित अन्न को भयभीत मन से खाता है, तैसे ही सम्यक् ज्ञानी भी कथंचित् कर्मदोष से यदि अकार्य भी करेगा, तो भी संसार के दुःखों से भयभीत मनवाला अवश्य होवेगा, किंतु निःशंक-निर्भय नहीं होवेगा। संसार से जो भयभीत होना है, तिस ही को संवेग कहते हैं। तव सिद्ध हुआ कि जो संवेगवान् है, वह तीव्र अशुभ अध्यवसाय वाला नहीं होता। अरु जो तुम ने कहा था, कि अज्ञान ही सत्पुरुषों को मोक्ष जाने के वास्ते श्रेय है, ज्ञान श्रेय नहीं। सो यह कहना भी मूढता का सूचक है, क्योंकि जिसका नाम ही अज्ञान है, वो श्रेय क्योंकर हो सकता है? अरु जो तुमने कहा था, कि हम ज्ञान को मान भी लेवें, जेकर ज्ञान का निश्चय करने में कोई सामर्थ्य होवे। सो भी मूर्खों का सा कहना है। क्योंकि यद्यपि सर्व मतों वाले परस्पर भिन्न ही ज्ञान अंगीकार करते हैं, तो भी जिस का वचन प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित नहीं, अरु पूर्वापर-व्याहत नहीं है, वो यथार्थरूप माना ही जावेगा। सो तैसा वचन तो भगवान् ही का कहा हुआ हो सकता है, सोई प्रमाण है, शेष नहीं। अरु जो कहा था कि बौद्ध भी अपने बुद्ध भगवान् को सर्वज्ञ मानते हैं, इत्यादि। सो भी असत् है,

निश्चय हो सकता है। तथा विचित्र अर्थों वाले शब्द भी भगवान् ने हो कहे हैं। सो शब्द जैसे २ प्रकरण का होगा, तैसे तैसे ही अर्थ का प्रतिपादक हो सकता है। इस वास्ते कोई भी दूषण नहीं, क्योंकि जिस जिस प्रकरण के अनुसार जिस जिस अर्थ का निश्चय हो जाता है। अरु गौतमादिकों ने जिस जिस जगे जिस जिस शब्द का जैसा जैसा अर्थ करा है, सो भगवान् ने निषेध नहीं करा। इस वास्ते भी जाना जाता है, कि गौतमादिक ने यथार्थ ही जाना है, अरु यथार्थ ही शब्दों का अर्थ करा है। अरु जो कुछ गौतमादिकों ने कहा था, सोई आचार्यों की अविच्छिन्न परंपरा करके अब तक तैसे ही अर्थ का अवगम होता है। तथा ऐसे भी न कहना कि आचार्यों की परंपरा हम को प्रमाण नहीं ? क्योंकि अविपरीतार्थ कहने से आचार्यों की परंपरा को कोई भी झूठी करने में समर्थ नहीं है।

एक और भी बात है वह, यह कि तुमारा जो मत है, सो आगममूलक है ? वा अनागममूलक है ? जेकर कहोगे कि आगममूलक है, तब तो आचार्यों की परंपरा क्योंकर अप्रामाणिक हो सकती है ? आचार्यों की परंपरा के बिना, आगम का अर्थ ही क्योंकर जाना जाएगा ? जेकर कहोगे कि अनागममूलक है, तब तो उन्मत्त के वचनवत् प्रामाणिक ही न होवेगा।

प्रतिवादी:—यद्यपि हमारा मत आगममूलक नहीं है, तो

निश्चय हो सकता है। तथा विचित्र अर्थों वाले शब्द भी भगवान् ने ही कहे हैं। सो शब्द जैसे २ प्रकरण का होगा, तैसे तैसे ही अर्थ का प्रतिपादक हो सकता है। इस वास्ते कोई भी दूषण नहीं, क्योंकि जिस जिस प्रकरण के अनुसार जिस जिस अर्थ का निश्चय हो जाता है। अरु गौतमादिकों ने जिस जिस जगे जिस जिस शब्द का जैसा जैसा अर्थ करा है, सो भगवान् ने निषेध नहीं करा। इस वास्ते भी जाना जाता है, कि गौतमादिक ने यथार्थ ही जाना है, अरु यथार्थ ही शब्दों का अर्थ करा है। अरु जो कुछ गौतमादिकों ने कहा था, सोई आचार्यों की अविच्छिन्न परंपरा करके अब तक तैसे ही अर्थ का अवगम होता है। तथा ऐसे भी न कहना कि आचार्यों की परंपरा हम को प्रमाण नहीं? क्योंकि अविपरीतार्थ कहने से अचार्यों की परंपरा को कोई भी झूठी करने में समर्थ नहीं है।

एक और भी बात है वह, यह कि तुमारा जो मत है, सो आगममूलक है? वा अनागममूलक है? जेकर कहोगे कि आगममूलक है, तब तो आचार्यों की परंपरा क्योंकर अप्रामाणिक हो सकती है? आचार्यों की परंपरा के बिना, आगम का अर्थ ही क्योंकर जाना जाएगा? जेकर कहोगे कि अनागममूलक है, तब तो उन्मत्त के वचनवत् प्रामाणिक ही न होवेगा।

प्रतिवादीः—यद्यपि हमारा मत आगममूलक नहीं है, तो

है। परंतु जो सुर, नरपति आदिक की विनय है, सो संसार का हेतु है; क्योंकि जो जिस की विनय करता है, वो उस के गुणों को बहुमान देता है। अरु सुर, नरपति प्रमुख में तो विषय भोगने का प्रधान गुण है, जब उन की विनय करी, तब तो उन के भोगों को बहुमान दिया, जब भोगों को बहुमान दिया, तब दीर्घ संसार पथ की प्रवृत्ति कर लीनी। इस वास्ते एकांत विनय से जो मोक्ष मानते हैं, सो भी असत् वादी हैं, क्योंकि ज्ञानादिकों से रहित विनय साक्षात् मुक्ति का अंग नहीं है। ज्ञान, दर्शन, और चारित्र से रहित पुरुष, केवल *पादपतनादिक विनय से मुक्ति नहीं पा सकता है, किंतु ज्ञानादिक सहित हो कर ही पा सकता है, तब ज्ञानादिक ही साक्षात् मुक्ति के अंग हुए विनय नहीं।

प्रतिवादीः—हम कैसे जाने कि ज्ञानादिक ही मुक्ति के अंग हैं?

सिद्धान्तीः—इस संसार में मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, इन तीनों ही करके कर्म वर्गणा का सम्बन्ध आत्मा के साथ होता है, कर्ममल का जो क्षय होना है, सोई मोक्ष है, †"मुक्तिः-कर्मक्षयादिष्टेति वचनप्रामाण्यात्"। कर्म का क्षय तब होगा, जब कर्मबन्ध के कारण का उच्छेद होगा, कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्वादि तीन हैं, इन मिथ्यात्व आदि का प्रति-

---

* पैरों पड़ने आदि। †[शा० स०, स्त० २ श्लो० ४४]

है। परंतु जो सुर, नरपति आदिक की विनय है, सो संसार का हेतु है; क्योंकि जो जिस की विनय करता है, वो उस के गुणों को बहुमान देता है। अरु सुर, नरपति प्रमुख में तो विषय भोगने का प्रधान गुण है, जब उन की विनय करी, तब तो उन के भोगों को बहुमान दिया, जब भोगों को बहुमान दिया, तब दीर्घ संसार पथ की प्रवृत्ति कर लीनी। इस वास्ते एकांत विनय से जो मोक्ष मानते हैं, सो भी असत् वादी हैं, क्योंकि ज्ञानादिकों से रहित विनय साक्षात् मुक्ति का अंग नहीं है। ज्ञान, दर्शन, और चारित्र से रहित पुरुष, केवल *पादपतनादिक विनय से मुक्ति नहीं पा सकता है, किंतु ज्ञानादिक सहित हो कर ही पा सकता है, तब ज्ञानादिक ही साक्षात् मुक्ति के अंग हुए विनय नहीं।

प्रतिवादीः—हम कैसे जाने कि ज्ञानादिक ही मुक्ति के अंग हैं?

सिद्धान्तीः—इस संसार में मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, इन तीनों ही करके कर्म वर्गणा का सम्बन्ध आत्मा के साथ होता है, कर्ममल का जो क्षय होना है, सोई मोक्ष है, †"मुक्तिः कर्मक्षयादिष्टेति वचनप्रामाण्यात्"। कर्म का क्षय तब होगा, जब कर्मबन्ध के कारण का उच्छेद होगा, कर्मबन्ध के कारण मिथ्यात्वादि तीन हैं, इन मिथ्यात्व आदि का प्रति-

---

* पैरों पड़ने आदि। †[शा० स०, स्त० २ श्लो० ४४]

खाना, अपराह्न में पानी पीना, अर्द्ध रात्रि में द्राक्षाखंड, मिसरी आदि का खाना, मरण के अन्त में मोक्ष, यह बौद्धों का चलन है। तथा मनगमता भोजन करना, मनगमती शय्या, आसन, अरु मनगमता रहने का स्थान, ऐसी अच्छी सामग्री से मुनि अच्छा ध्यान करता है। अरु भिक्षा के समय पात्र में जो कुछ पड़ जावे, सो सर्व शुद्ध मान करके ये मांस भी खा लेते हैं। अरु अपनी ब्रह्मचर्यादि की क्रिया में बहुत दृढ होते हैं। यह इन का आचार है। धर्म, बुद्ध, संघ, इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं। अरु शासन के विघ्नों का नाश करने वाली तारा देवी को मानते हैं। विपश्यादिक सात, इन के बुद्धावतार हैं, जिन की मूर्त्तियों के कंठ में तीन तीन रेखा का चिह्न होता है। तिन को भगवान् मानते हैं, अरु सर्वज्ञ मानते हैं।

ये बुद्ध भगवान् को जितने नामों से कहते हैं, सो नाम लिखते हैं:—१. बुद्ध, २. सुगत, ३. धर्मधातु, ४. त्रिकालवित्, ५. जिन, ६. बोधिसत्त्व, ७. महाबोधी, ८. आर्य, ९. शास्ता, १०. तथागत, ११. पंचज्ञान, १२. षडभिज्ञ, १३. दशार्ह, १४. दशभूमिग, १५. चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ, १६. दशपारमिताधर, १७. द्वादशाक्ष, १८. दशबल, १९. त्रिकाय, २० श्रीघन, २१. अद्वय, २२. समंतभद्र, २३. संगुप्त, २४. दयाकूर्च, २५. विनायक, २६. मारजित्, २७. लोकजित्, २८. मुखजित्, २९. धर्मराज, ३०. विज्ञानमात्रक, ३१. महामैत्र, ३२. मुनीन्द्र, यह बत्तीस नाम

खाना, अपराह्न में पानी पीना, अर्द्ध रात्रि में द्राक्षाखंड, मिसरी आदि का खाना, मरण के अन्त में मोक्ष, यह बौद्धों का चलन है। तथा मनगमता भोजन करना, मनगमती शय्या, आसन, अरु मनगमता रहने का स्थान, ऐसी अच्छी सामग्री से मुनि अच्छा ध्यान करता है। अरु भिक्षा के समय पात्र में जो कुछ पड़ जावे, सो सर्व शुद्ध मान करके ये मांस भी खा लेते हैं। अरु अपनी ब्रह्मचर्यादि की क्रिया में बहुत दृढ होते हैं। यह उन का आचार है। धर्म, बुद्ध, संघ, इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं। अरु शासन के विघ्नों का नाश करने वाली तारा देवी को मानते हैं। विपश्यादिक सात, इन के बुद्धावतार हैं, जिन की मूर्त्तियों के कंठ में तीन तीन रेखा का चिह्न होता है। तिन को भगवान् मानते हैं, अरु सर्वज्ञ मानते हैं।

ये बुद्ध भगवान् को जितने नामों से कहते हैं, सो नाम लिखते हैं:—१. बुद्ध, २. सुगत, ३. धर्मधातु, ४. त्रिकालवित्, ५. जिन, ६. बोधिसत्त्व, ७. महाबोधी, ८. आर्य, ९. शास्ता, १०. तथागत, ११. पंचज्ञान, १२. षडभिज्ञ, १३. दशार्ह, १४. दशभूमिग, १५. चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञ, १६. दशपारमिताधर, १७. द्वादशाक्ष, १८. दशबल, १९. त्रिकाय, २० श्रीघन, २१. अद्वय, २२. समंतभद्र, २३. संगुप्त, २४. दयाकूर्च, २५. विनायक, २६. मारजित्, २७. लोकजित्, २८. मुखजित्, २९. धर्मराज, ३०. विज्ञानमात्रक, ३१. महामैत्र, ३२. मुनीन्द्र; यह बत्तीस नाम

सविकल्पक ज्ञान जो है, सो संज्ञास्कंध है। [४] पुण्य और अपुण्यादिक जो धर्म समुदाय है, सो संस्कारस्कंध है। इस ही संस्कार के प्रबोध से पूर्व अनुभूत विषय का स्मरणादिक होता है। [५] पृथ्वी, धातु आदिक तथा रूपादिक, यह रूपस्कंध है। इन पांचों के अतिरिक्त आत्मादि और कोई पदार्थ नहीं है। अरु यह जो पांचों स्कंध हैं, वे सर्व एक क्षणमात्र रहते हैं। यह दुःख तत्त्व के पांच भेद कहे।

अब समुदाय तत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—

समुदेति यतो लोके, रागादीनां गणोऽखिलः।
आत्मात्मीयभावाख्यः समुदयः स उदाहृतः॥

[षड्० स०, श्लो० ६ की बृहद्वृत्ति]

अर्थः—जिस से आत्मा और आत्मीय तथा पर और परकीय सम्बन्ध के द्वारा रागद्वेषादि दोषों का समस्त गण—समूह उत्पन्न होता है, उस को समुदय या समुदाय कहते हैं। इस का तत्पर्य यह है, कि मैं हूं; यह मेरा है, इस सम्बन्ध से, तथा यह दूसरा है, दूसरे की वस्तु है, इस सम्बन्ध से जिस करके रागद्वेषादि दोषों की उत्पत्ति ह, उसका नाम समुदाय है। ये दोनों तत्त्व—दुःख और समुदाय संसार की प्रवृत्ति के हेतु हैं।

इन दोनों के विपक्षीभूत मार्ग और निरोध तत्त्व हैं। अब उनका स्वरूप लिखते हैं। "परमनिःकृष्टः कालः क्षणम्"—

सविकल्पक ज्ञान जो है, सो संज्ञास्कंध है। [४] पुण्य और अपुण्यादिक जो धर्म समुदाय है, सो संस्कारस्कंध है। इस ही संस्कार के प्रबोध से पूर्व अनुभूत विषय का स्मरणादिक होता है। [५] पृथ्वी, धातु आदिक तथा रूपादिक, यह रूपस्कंध है। इन पांचों के अतिरिक्त आत्मादि और कोई पदार्थ नहीं है। अरु यह जो पांचों स्कंध हैं, वे सर्व एक क्षणमात्र रहते हैं। यह दुःख तत्त्व के पांच भेद कहे।

अब समुदाय तत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:—

समुदेति यतो लोके, रागादीनां गणोऽखिलः ।
आत्मात्मीयभावाख्यः समुदयः स उदाहृतः ॥

[षड्० स०, श्लो० ६ की बृहद्वृत्ति]

अर्थः—जिस से आत्मा और आत्मीय तथा पर और परकीय सम्बन्ध के द्वारा रागद्वेषादि दोषों का समस्त गण–समूह उत्पन्न होता है, उस को समुदय या समुदाय कहते हैं। इस का तात्पर्य यह है, कि मैं हूं; यह मेरा है, इस सम्बन्ध से, तथा यह दूसरा है, दूसरे की वस्तु है, इस सम्बन्ध से जिस करके रागद्वेषादि दोषों की उत्पत्ति ह , उसका नाम समुदाय है। ये दोनों तत्त्व—दुःख और समुदाय संसार की प्रवृत्ति के हेतु हैं।

इन दोनों के विपक्षीभूत मार्ग और निरोध तत्त्व हैं। अब उनका स्वरूप लिखते हैं। "परमनिःकृष्टः कालः क्षणम्"—

करते हैं, बांह (बाहु) के मूल में तूंबी रखते हैं, प्रायः वनों में रहते हैं, आतिथ्य कर्म में तत्पर रहते हैं, कंद, मूल, फल, खाते हैं, कितनेक स्त्री रखते हैं, और कितनेक नहीं रखते हैं, जो स्त्री नहीं रखते हैं, सो तिन में उत्तम माने जाते हैं, पंचाग्नि तापते हैं, हाथ में और जटा में प्राणलिंग रखते हैं, जब उत्तम संयम अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब नग्न हो कर भ्रमण करते हैं, सवेरे दंत धावन और पदादि को पवित्र करके शिव का ध्यान करते हुए भस्म से तीन तीन वार अङ्ग को स्पर्श करते हैं। उनका भक्त हाथ जोड़ कर उनको वन्दना करते समय "ॐ नमः शिवाय" कहता है, अरु गुरु भक्त के तांई "शिवाय नमः" ऐसे कहता है। उनका कहना ऐसा भी है, कि जो पुरुष शैवी दीक्षा को बारां वर्ष तक पाल करके छोड़ भी देवे, जेकर पीछे वो दास दासी भी होवे, तो भी निर्वाण पद को प्राप्त होता है*। अरु शंकर इन का देव है, जो कि सर्वज्ञ और सृष्टि के संहार का कर्त्ता है।

इस शंकर के अठारह अवतार मानते हैं, तिन के नाम लिखते हैं—१. नकुली, २. शोष्यकौशिक, ३. गार्ग्य, ४. मैत्र्य, ५. अकौरुष, ६. ईशान, ७. पारगार्ग्य, ८. कपिलांड, ९. मनु-

---

* शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं, सेवित्वा योऽपि मुञ्चति।
दासी दासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति॥
[षड्० स०, श्लो० १२ की बृहद्वृत्ति में उद्धृत]

करते हैं, बांह (बाहु) के मूल में तूंबी रखते हैं, प्रायः वनों में रहते हैं, आतिथ्य कर्म में तत्पर रहते हैं, कंद, मूल, फल, खाते हैं, कितनेक स्त्री रखते हैं, और कितनेक नहीं रखते हैं, जो स्त्री नहीं रखते हैं, सो तिन में उत्तम माने जाते हैं, पंचाग्नि तापते हैं, हाथ में और जटा में प्राणलिंग रखते हैं, जब उत्तम संयम अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब नग्न हो कर भ्रमण करते हैं, सवेरे दंत धावन और पदादि को पवित्र करके शिव का ध्यान करते हुए भस्म से तीन तीन बार अङ्ग को स्पर्श करते हैं। उनका भक्त हाथ जोड़ कर उनको वन्दना करते समय "ॐ नमः शिवाय" कहता है, अरु गुरु भक्त के तांई "शिवाय नमः" ऐसे कहता है। उनका कहना ऐसा भी है, कि जो पुरुष शैवी दीक्षा को बारां वर्ष तक पाल करके छोड़ भी देवे, जेकर पीछे वो दास दासी भी होवे, तो भी निर्वाण पद को प्राप्त होता है*। अरु शंकर इन का देव है, जो कि सर्वज्ञ और सृष्टि के संहार का कर्त्ता है।

इस शंकर के अठारह अवतार मानते हैं, तिन के नाम लिखते हैं—१. नकुली, २. शोष्यकौशिक, ३. गार्ग्य, ४. मैत्र्य, ५. अकौरुष, ६. ईशान, ७. पारगार्ग्य, ८. कपिलांड, ९. मनु-

* शैवीं दीक्षां द्वादशाब्दीं, सेवित्वा योऽपि मुञ्चति।
दासी दासोऽपि भवति सोऽपि निर्वाणमृच्छति॥
[षड्० स०, श्लो० १२ की बृहद्वृत्ति में उद्धृत]

यह चार प्रमाण माने हैं । अरु १. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धांत, ७. अवयव, ८. तर्क, ६. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितंडा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, और १६. निग्रहस्थान, यह सोलां पदार्थ मानते हैं । इन का विस्तार बहुत है, इस वास्ते नहीं लिखा । दुःखों का जो आत्यन्तिक वियोग, तिस को मोक्ष कहते हैं । न्यायसूत्र—कर्त्ता अक्षपाद मुनि, भाष्य-कर्त्ता वात्स्यायन मुनि, न्याय वार्त्तिक—कर्त्ता उद्योतकर, तात्पर्य टीका—कर्त्ता वाचस्पति मिश्र, तात्पर्य परिशुद्धि-कर्त्ता उदयनाचार्य, न्यायालंकार वृत्ति-कर्त्ता श्रीकंठाभयतिलकोपाध्याय और भासर्वज्ञप्रणीत न्यायसार की अठारह टीका हैं, तिन में से न्यायभूषण नामक टीका, जयंतरचित, न्यायकलिका, और न्याय कुसुमांजलि आदि इन नैयायिकों के तर्क मुख्य ग्रंथ हैं ।

वैशेषिक मत का स्वरूप

वैशेषिक मत भी यहाँ लिख देते हैं । वैशेषिकों का मत नैयायिकों के तुल्य ही है, परंतु इतना विशेष है, कि इस मत वाले प्रत्यक्ष अरु अनुमान यह दो प्रमाण मानते हैं, तथा १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, इन भावरूप छ तत्त्वों को मानते हैं । इन सर्व का विस्तार देखना होवे, तो वैशेषिक मत के ग्रन्थों में देख लेना, तथा तपागच्छाचार्य श्रीगुणरत्नसूरि विरचित षड्दर्शन-

यह चार प्रमाण माने हैं । अरु १. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टान्त, ६. सिद्धांत, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितंडा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, और १६. निग्रहस्थान, यह सोलां पदार्थ मानते हैं । इन का विस्तार बहुत है, इस वास्ते नहीं लिखा । दुःखों का जो आत्यन्तिक वियोग, तिस को मोक्ष कहते हैं । न्यायसूत्र—कर्त्ता अक्षपाद मुनि, भाष्य-कर्त्ता वात्स्यायन मुनि, न्याय वार्त्तिक—कर्त्ता उद्योतकर, तात्पर्य टीका—कर्त्ता वाचस्पति मिश्र, तात्पर्य परिशुद्धि-कर्त्ता उदयनाचार्य, न्यायालंकार वृत्ति-कर्त्ता श्रीकंठाभयतिलकोपाध्याय और भासर्वज्ञप्रणीत न्यायसार की अठारह टीका हैं, तिन में से न्यायभूषण नामक टीका, जयंत-रचित, न्यायकलिका, और न्याय कुसुमांजलि आदि इन नैयायिकों के तर्क मुख्य ग्रंथ हैं ।

वैशेषिक मत का स्वरूप

वैशेषिक मत भी यहीं लिख देते हैं । वैशेषिकों का मत नैयायिकों के तुल्य ही है, परंतु इतना विशेष है, कि इस मत वाले प्रत्यक्ष अरु अनुमान यह दो प्रमाण मानते हैं, तथा १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, ६. समवाय, इन भावरूप छ तत्त्वों को मानते हैं । इन सर्व का विस्तार देखना होवे, तो वैशेषिक मत के ग्रन्थों में देख लेना, तथा तपागच्छाचार्य श्रीगुणरत्नसूरि विरचित षड्दर्शन-

लिखा है, इस काष्ठ को मुखवस्त्रिका को मुख के निःश्वास-निरोध के वास्ते रखते हैं, जिस से मुखश्वास से जीवहिंसा न होवे। यदाहुस्तेः—

घ्राणादितोऽनुयातेन, श्वासेनैकेन जंतवः।
हन्यंते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिनाम् ॥

[षड्० स०, वृ० वृत्ति, अ० ३]

ये सांख्य मत के * गुरु (साधु) जल के जीवों की दया के वास्ते अपने पास पानी के छानने के निमित्त एक गलना रखते हैं, अरु अपने भक्तों को पानी के वास्ते तीस अंगुल प्रमाण लम्बा और वीस अंगुल प्रमाण चौड़ा, दृढ गलना रखने का उपदेश करते हैं। अरु जो जीव पानी के छानने से निकलें, उस को उसी पानी में पीछे प्रक्षेप कर देना, क्योंकि मीठे पानी करके खारे पानी के पूरे मर जाते हैं, अरु खारे पानी के मिलने से मीठे पानी के पूरे मर जाते हैं, इस वास्ते दोनों पानी का परस्पर मेल न करना। बहुत सूक्ष्म पानी के एक बिन्दु में इतने जीव हैं, कि जेकर भ्रमर के समान उन जीवों की काया बनाई जावे, तो तीन

* वर्तमान काल में सांख्यमत के साधु नहीं हैं, जिस समय में वे विद्यमान थे, उस समय में उन का जो वेष तथा आचार था, उस का यह वर्णन है।

लिखा है, इस काष्ठ को मुखवस्त्रिका को मुख के निःश्वास-निरोध के वास्ते रखते हैं, जिस से मुखश्वास से जीवहिंसा न होवे। यदाहुस्तेः—

घ्राणादितोऽनुयातेन, श्वासेनैकेन जंतवः।
हन्यंते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिनाम् ॥

[षड्० स०, बृ० वृत्ति, अ० ३]

ये सांख्य मत के * गुरु (साधु) जल के जीवों की दया के वास्ते अपने पास पानी के छानने के निमित्त एक गलना रखते हैं, अरु अपने भक्तों को पानी के वास्ते तीस अंगुल प्रमाण लम्बा और वीस अंगुल प्रमाण चौड़ा, दृढ गलना रखने का उपदेश करते हैं। अरु जो जीव पानी के छानने से निकलें, उस को उसी पानी में पीछे प्रक्षेप कर देना, क्योंकि मीठे पानी करके खारे पानी के पूरे मर जाते हैं, अरु खारे पानी के मिलने से मीठे पानी के पूरे मर जाते हैं, इस वास्ते दोनों पानी का परस्पर मेल न करना। बहुत सूक्ष्म पानी के एक बिंदु में इतने जीव हैं, कि जेकर भ्रमर के समान उन जीवों की काया बनाई जावे, तो तीन

* वर्तमान काल में सांख्यमत के साधु नहीं हैं, जिस समय में वे विद्यमान थे, उस समय में उन का जो वेष तथा आचार था, उस का यह वर्णन है।

यदि विदितं कपिलमतं,
तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥

पंचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः ।
शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थः—जेकर तुमने कपिल मत जाना है, तो हंसो, पियो, खेलो, खाओ, सदा खुशी रहो, जैसे रुचि होवे, तैसे भोगों को सदा भोगो, तो तुम को थोड़े से काल में मुक्ति का सुख प्राप्त हो जावेगा। पच्चीस तत्त्वों का जो जानकार होवे, सो चाहे किसी आश्रम में रहे, शिखावाला होवे, वा मुण्डित होवे, अथवा जटावाला होवे, वे सर्व उपाधि से छूट जाता है, इस में संशय नहीं।

अब सांख्यमत में सर्व सांख्यवादी, पच्चीस तत्त्व मानते हैं।

दुःखत्रय

जब यह पुरुष तीन दुःखों से अभिहत होता है, तब तिन दुःखों के दूर करने के वास्ते जिज्ञासा उत्पन्न होती है । सो तीन दुःख यह हैं:—१. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक, ३. आधिभौतिक। आध्यात्मिक जो दुःख है, सो दो प्रकार का है, एक शारीरिक, दूसरा मानसिक। तहां जो वायु, पित्त, श्लेष्म, इन तीनों की विपमता से देह में जो अतिसारादिक होते हैं, सो शारीरिक है। अरु विपयों के देखने से जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि होवे, सो मानसिक दुःख है । यह दोनों ही

यदि विदितं कपिलमतं,
तत्प्राप्स्यसि मोक्षसौख्यमचिरेण ॥

पंचविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः ।
शिखी मुण्डी जटी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थः—जेकर तुमने कपिल मत जाना है, तो हंसो, पियो, खेलो, खाओ, सदा खुशी रहो, जैसे रुचि होवे, तैसे भोगों को सदा भोगो, तो तुम को थोड़े से काल में मुक्ति का सुख प्राप्त हो जावेगा। पच्चीस तत्त्वों का जो जानकार होवे, सो चाहे किसी आश्रम में रहे, शिखावाला होवे, वा मुण्डित होवे, अथवा जटावाला होवे, वे सर्व उपाधि से छूट जाता है, इस में संशय नहीं।

अब सांख्यमत में सर्व सांख्यवादी, पच्चीस तत्त्व मानते हैं।

दुःखत्रय

जब यह पुरुष तीन दुःखों से अभिहत होता है, तब तिन दुःखों के दूर करने के वास्ते जिज्ञासा उत्पन्न होती है। सो तीन दुःख यह हैं:—१. आध्यात्मिक, २. आधिदैविक, ३. आधिभौतिक। आध्यात्मिक जो दुःख है, सो दो प्रकार का है, एक शारीरिक, दूसरा मानसिक। तहां जो वायु, पित्त, श्लेष्म, इन तीनों की विषमता से देह में जो अतिसारादिक होते हैं, सो शारीरिक है। अरु विषयों के देखने से जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि होवे, सो मानसिक दुःख है। यह दोनों ही

शौच, लज्जा, शुद्धि, क्षमा, अनुकंपा, प्रसादादि रूप है, यह सर्व सत्त्व गुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ दुःख उपलब्ध होता है, सो द्वेष, द्रोह, मत्सर, निंदा, वंचन, वंधन, तापादि रूप है, सो रजोगुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ मोह, उपलब्ध होता है, सो अज्ञान, मद, आलस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिकता, विषाद, उन्माद स्वप्नादि रूप है, यह तमोगुण के कार्य हैं। इन परस्परोपकारी सत्त्वादिक तीन गुणों करके सर्व जगत् व्याप्त है। परन्तु ऊर्ध्व लोक में देवताओं विषे बाहुल्य करके सत्त्वगुण है, अधोलोक, तिर्यंच और नरकों विषे बाहुल्य करके तमोगुण है, तथा मनुष्यों में बहुलता करके रजोगुण है।

इन तीनों गुणों की जो सम अवस्था है, तिस का नाम प्रकृति है तिस प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं। सो प्रकृति नित्य स्वरूप है। "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं नित्यम्" यह नित्य का लक्षण है। अरु यह जो प्रकृति है, सो अनवयवा, असाधारणी, अशब्दा, अस्पर्शा, अरसा, अरूपा, अगंधा, अव्यया कही जाती है। जो मूल सांख्यमती हैं, वे एक एक आत्मा के साथ न्यारा न्यारा प्रधान मानते हैं, अरु जो नवीन सांख्यवादी हैं, वे सर्वात्माओं में एक नित्य प्रधान मानते हैं। प्रकृति अरु आत्मा के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, इस वास्ते सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम लिखते हैं।

शौच, लज्जा, बुद्धि, क्षमा, अनुकंपा, प्रसादादि रूप है, यह सर्व सत्त्व गुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ दुःख उपलब्ध होता है, सो द्वेष, द्रोह, मत्सर, निंदा, वंचन, बंधन, तापादि रूप है, सो रजोगुण के कार्य हैं। अरु जो कुछ मोह, उपलब्ध होता है, सो अज्ञान, मद, आलस्य, भय, दैन्य, अकर्मण्यता, नास्तिकता, विषाद, उन्माद स्वप्नादि रूप है, यह तमोगुण के कार्य हैं। इन परस्परोपकारी सत्त्वादिक तीन गुणों करके सर्व जगत् व्याप्त है। परन्तु ऊर्ध्व लोक में देवताओं विषे बाहुल्य करके सत्त्वगुण है, अधोलोक, तिर्यंच और नरकों विषे बाहुल्य करके तमोगुण है; तथा मनुष्यों में बहुलता करके रजोगुण है।

इन तीनों गुणों की जो सम अवस्था है, तिस का नाम प्रकृति है तिस प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त भी कहते हैं। सो प्रकृति नित्य स्वरूप है। "अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं कूटस्थं नित्यम्" यह नित्य का लक्षण है। अरु यह जो प्रकृति है, सो अनवयवा, असाधारणी, अशब्दा, अस्पर्शा, अरसा, अरूपा, अगंधा, अव्यया कही जाती है। जो मूल सांख्यमती हैं, वे एक एक आत्मा के साथ न्यारा न्यारा प्रधान मानते हैं, अरु जो नवीन सांख्यवादी हैं, वे सर्वात्माओं में एक नित्य प्रधान मानते हैं। प्रकृति अरु आत्मा के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, इस वास्ते सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम लिखते हैं।

हैं। १. रूपतन्मात्रा—सो शुक्ल कृष्णादिरूप विशेष, २. रस-तन्मात्रा–सो तिक्तादि रस विशेष,३. गंधतन्मात्रा—सो सुरभि आदि गंध विशेष, ४. शब्दतन्मात्रा–सो मधुरादि शब्द विशेष, ५. स्पर्शतन्मात्रा–सो मृदु काठिन्यादि स्पर्श विशेष है। यह षोडशक गण है। इन पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यथा—रूपतन्मात्रा–से अग्नि उत्पन्न होती है। रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। गंधतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है। और शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। तथा स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होता है। ऐसे पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यह सब मिल कर चौवीस तत्त्वरूप प्रधान सांख्य मत में निवेदन किया। अर्थात् प्रकृति, महान्, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, पांच तन्मात्रा, पांच भूत, यह चौवीस तत्त्व कहे हैं। इन में से प्रधान केवल प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं है। और बुद्धि आदिक सात अपने से उत्तरवर्त्ती के कारण और पूर्ववर्त्ती के कार्य हैं, इस वास्ते इन सातों को प्रकृति विकृति कहते हैं। षोडशक गण तो कार्यरूप होने से विकृति रूप ही है। तथा पुरुष जो है, सो न प्रकृति है, न विकृति है, क्योंकि वह न किसी से उत्पन्न हुआ है, न किसी को उत्पन्न करता है। तथा सांख्य मत के आचार्य ईश्वरकृष्ण सांख्यसप्तति नामक ग्रन्थ में लिखते हैं:—

हैं। १. रूपतन्मात्रा—सो शुक्ल कृष्णादिरूप विशेष, २. रस-तन्मात्रा–सो तिक्तादि रस विशेष,३. गंधतन्मात्रा—सो सुरभि आदि गंध विशेष, ४. शब्दतन्मात्रा–सो मधुरादि शब्द विशेष, ५. स्पर्शतन्मात्रा–सो मृदु काठिन्यादि स्पर्श विशेष है। यह षोडशक गण है। इन पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यथा—रूपतन्मात्रा–से अग्नि उत्पन्न होती है। रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। गंधतन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है। और शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। तथा स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होता है। ऐसे पांच तन्मात्राओं से पांच भूत उत्पन्न होते हैं। यह सब मिल कर चौवीस तत्त्वरूप प्रधान सांख्य मत में निवेदन किया। अर्थात् प्रकृति, महान्, अहंकार, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, पांच तन्मात्रा, पांच भूत, यह चौवीस तत्त्व कहे हैं। इन में से प्रधान केवल प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं है। और बुद्धि आदिक सात अपने से उत्तरवर्त्ती के कारण और पूर्ववर्त्ती के कार्य हैं, इस वास्ते इन सातों को प्रकृति विकृति कहते हैं। षोडशक गण तो कार्यरूप होने से विकृति रूप ही है। तथा पुरुष जो है, सो न प्रकृति है, न विकृति है, क्योंकि वह न किसी से उत्पन्न हुआ है, न किसी को उत्पन्न करता है। तथा सांख्य मत के आचार्य ईश्वरकृष्ण सांख्यसप्तति नामक ग्रन्थ में लिखते हैं:—

प्रकार के हैं, ६. आश्रित—आत्मा के उपकार के वास्ते प्रधान का अवलंब लेकर स्थित हैं, ७. लिंग [लयं क्षयं गच्छतीति लिंगम्]—जो जिस से उत्पन्न होते हैं, सो तिस ही में लय हो जाते हैं। पांच भूत, पांच तन्मात्राओं में लय होते हैं, और पांच तन्मात्रा, अरु दश इन्द्रिय, तथा मन, यह अहंकार में लय होते हैं, अरु अहंकार बुद्धि में लय होता है, अरु बुद्धि प्रकृति में लय होती है, और प्रकृति किसी में भी लय नहीं होती है। ८. सावयव-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादिकों करके संयुक्त हैं, ९. परतंत्र-कारण के अधीन होने से परवश हैं। प्रकृति इन से विपरीत है। सो सुगम है, आपही समझ लेनी। यह थोड़ा सा स्वरूप लिखा है, जेकर विस्तार देखना होवे तो सांख्यसप्तति आदिक सांख्य मत के शास्त्रों से देख लेना।

अब पच्चीसवें पुरुष तत्त्व का स्वरूप कहते हैं।

पुरुषतत्त्व का स्वरूप

*"अकर्त्ता विगुणो भोक्ता नित्यचिदभ्युपेतश्च पुमान्"—पुरुष तत्त्व आत्मा को कहते हैं। आत्मा जो है, सो विषय सुख आदि के कारणभूत पुण्यादि के करने वाला नहीं है, इस वास्ते 'अकर्त्ता' है। आत्मा तृण मात्र भी तोड़ने में समर्थ नहीं है, अतः कर्त्ता जो है, सो प्रकृति ही है;

* "अन्यस्त्वकर्त्ता विगुणश्च भोक्ता,
तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः"। [षड्० स०, श्लो० ४१]

प्रकार के हैं, ६. आश्रित—आत्मा के उपकार के वास्ते प्रधान का अवलंब लेकर स्थित हैं, ७. लिंग [लयं क्षयं गच्छतीति लिंगम्]—जो जिस से उत्पन्न होते हैं, सो तिस ही में लय हो जाते हैं। पांच भूत, पांच तन्मात्राओं में लय होते हैं, और पांच तन्मात्रा, अरु दश इन्द्रिय, तथा मन, यह अहंकार में लय होते हैं, अरु अहंकार बुद्धि में लय होता है, अरु बुद्धि प्रकृति में लय होती है, और प्रकृति किसी में भी लय नहीं होती है। ८. सावयव-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादिकों करके संयुक्त हैं, ९. परतंत्र-कारण के अधीन होने से परवश हैं। प्रकृति इन से विपरीत है। सो सुगम है, आपही समझ लेनी। यह थोड़ा सा स्वरूप लिखा है, जेकर विस्तार देखना होवे तो सांख्यसप्तति आदिक सांख्य मत के शास्त्रों से देख लेना।

अब पच्चीसवें पुरुष तत्त्व का स्वरूप कहते हैं।

पुरुषतत्त्व का स्वरूप

*"अकर्त्ता विगुणो भोक्ता नित्यचिदभ्युपेतश्च पुमान्"—पुरुष तत्त्व आत्मा को कहते हैं। आत्मा जो है, सो विषय सुख आदि के कारणभूत पुण्यादि के करने वाला नहीं है, इस वास्ते 'अकर्त्ता' है। आत्मा तृण मात्र भी तोड़ने में समर्थ नहीं है, अतः कर्त्ता जो है, सो प्रकृति ही है;

---

* "अन्यस्त्वकर्त्ता विगुणश्च भोक्ता, तत्त्वं पुमान्नित्यचिदभ्युपेतः"। [षड्० स०, श्लो० ४१]

*विविक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिंबोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

तथा सांख्याचार्य विंध्यवासी तो आत्मा को ऐसे भोक्ता कहता है—

‡ पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥

तथा वह आत्मा, "नित्यचिद्दाभ्युपेतः"—नित्य जो चित्-चेतना, उस करके युक्त अर्थात् नित्य चैतन्य स्वरूप है। इस कहने से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष ही चैतन्य स्वरूप है, ज्ञान नहीं। क्योंकि वह ज्ञान बुद्धि का धर्म है। तथा 'पुमान्' यह एक वचन जाति की अपेक्षा से है, वैसे आत्मा तो

---

* जिस प्रकार स्वच्छ जल में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल का ही विकार है, चन्द्रमा का नहीं। उसी प्रकार आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से, उस में जो भोक्तृत्व है, वह मात्र बुद्धि का विकार है, पुरुष—आत्मा का नहीं। आत्मा तो वस्तुतः निर्विकार ही है।

‡ जैसे जपाकुसुम के संयोग से स्फटिक रत्न लाल प्रतीत होता है। उसी प्रकार यह अविकारी चेतन—आत्मा, सन्निधान से अचेतन मन को अपने समान चेतन बना लेता है। तब इस में भोक्तृत्व का अभिमान होने लगता है।

*विविक्तेदृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिंबोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

तथा सांख्याचार्य विंध्यवासी तो आत्मा को ऐसे भोक्ता कहता है—

‡पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधिः स्फटिकं यथा ॥

तथा वह आत्मा, "नित्यचिद्भ्युपेतः"—नित्य जो चित्-चेतना, उस करके युक्त अर्थात् नित्य चैतन्य स्वरूप है। इस कहने से यह सिद्ध हुआ कि पुरुष ही चैतन्य स्वरूप है, ज्ञान नहीं। क्योंकि वह ज्ञान बुद्धि का धर्म है। तथा 'पुमान्' यह एक वचन जाति की अपेक्षा से है, वैसे आत्मा तो

* जिस प्रकार स्वच्छ जल में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल का ही विकार है, चन्द्रमा का नहीं। उसी प्रकार आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने से, उस में जो भोक्तृत्व है, वह मात्र बुद्धि का विकार है, पुरुष—आत्मा का नहीं। आत्मा तो वस्तुतः निर्विकार ही है।

‡ जैसे जपाकुसुम के संयोग से स्फटिक रत्न लाल प्रतीत होता है। उसी प्रकार यह अविकारी चेतन-आत्मा, सन्निधान से अचेतन मन को अपने समान चेतन बना लेता है। तब इस में भोक्तृत्व का अभिमान होने लगता है।

होते हैं। तिन का वेद ही गुरु है, और कोई वक्ता गुरु नहीं। वे स्वयं अपने आपको सन्यस्त २ कहते हैं, यज्ञोपवीत को प्रक्षाल करके तीन वार जल पीते हैं। वोह मीमांसक दो प्रकार के हैं—एक याज्ञिकादि—पूर्व मीमांसावादी और दूसरे उत्तर-मीमांसावादी हैं। इन में पूर्वमीमांसावादी जो हैं, सो कुकर्म के त्यागी, यजनादिक षट् कर्म के करने वाले, ब्रह्मसूत्र के धारक, गृहस्थाश्रम में स्थित और शूद्र के अन्नादि का त्याग करने वाले होते हैं। इन के भी दो भेद हैं, एक *भाट्ट, दूसरे ÷ प्राभाकर। उस में भाट्ट छः प्रमाण मानते हैं, अरु प्राभाकर पांच मानते हैं। तथा जो उत्तरमीमांसक हैं, सो वेदांती कहलाते हैं। अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं। "सर्वमेवेदं ब्रह्मेति भाषंते"—यह सारा विश्व ब्रह्म का ही रूप है, ऐसे कहते हैं। तथा प्रमाण देते हुए यह भी कहते हैं, कि एक ही आत्मा सर्व शरीरों में उपलब्ध होता है। यथा—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचंद्रवत् ॥
"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमिति"।

तथा—आत्मा ही में लय हो जाना मुक्ति मानते हैं। इस के अतिरिक्त और कोई मुक्ति नहीं मानते। सो मीमांसक

* भट्ट के अनुयायी। ÷ प्रभाकर के अनुयायी।

होते हैं। तिन का वेद ही गुरु है, और कोई वक्ता गुरु नहीं। वे स्वयं अपने आपको सन्यस्त २ कहते हैं, यज्ञोपवीत को प्रक्षाल करके तीन वार जल पीते हैं। वोह मीमांसक दो प्रकार के हैं—एक याज्ञिकादि—पूर्व मीमांसावादी और दूसरे उत्तर-मीमांसावादी हैं। इन में पूर्वमीमांसावादी जो हैं, सो कुकर्म के त्यागी, यजनादिक षट् कर्म के करने वाले, ब्रह्मसूत्र के धारक, गृहस्थाश्रम में स्थित और शूद्र के अन्नादि का त्याग करने वाले होते हैं। इन के भी दो भेद हैं, एक *भाट्ट, दूसरे ÷ प्राभाकर। उस में भाट्ट छः प्रमाण मानते हैं, अरु प्राभाकर पांच मानते हैं। तथा जो उत्तरमीमांसक हैं, सो वेदांती कहलाते हैं। अद्वैत ब्रह्म को ही मानते हैं। "सर्वमेवेदं ब्रह्मेति भाषंते"—यह सारा विश्व ब्रह्म का ही रूप है, ऐसे कहते हैं। तथा प्रमाण देते हुए यह भी कहते हैं, कि एक ही आत्मा सर्व शरीरों में उपलब्ध होता है। यथा—

एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचंद्रवत् ॥
"पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमिति"।

तथा—आत्मा ही में लय हो जाना मुक्ति मानते हैं। इस के अतिरिक्त और कोई मुक्ति नहीं मानते। सो मीमांसक

* भट्ट के अनुयायी। ÷ प्रभाकर के अनुयायी।

कि जिस का वचन प्रामाणिक माना जावे। प्रथम तो कहने वाला कोई देव ही सिद्ध नहीं हो सकता, फिर उसके रचे हुए शास्त्र कैसे प्रामाणिक हो सकते हैं। तथा उस की असिद्धि में यह अनुमान भी है। यथः—पुरुष सर्वज्ञ नहीं, मनुष्य होने से, रथ्यापुरुषवत्।

प्रश्नः—किंकर होकर जिसकी असुर, सुर सेवा करते हैं, और तीन लोक के ऐश्वर्य के सूचक छत्र चामरादि जिस की विभूति हैं, सो सर्वज्ञ है, विना सर्वज्ञ के इस प्रकार की लोकोत्तर विभूति क्योंकर हो सकती है?

उत्तरः—यह विभूति तो इन्द्रजालिया भी बना सकता है। इस बात का साक्षी तुमारे जैनमत का समंतभद्र आचार्य भी है। यथा—

देवागमनभोयान—चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान्॥
[आ० मी० श्लो० १]

प्रश्नः—जैसे अनादि सुवर्ण मल को क्षार तथा मृत्पुटपाकादि की क्रिया विशेष से दूर कर देने पर सुवर्ण सर्वथा निर्मल हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी निरंतर ज्ञानादिकों के अभ्यास से मल रहित होकर सर्वज्ञता को प्राप्त कर सकता है, अर्थात सर्वज्ञ हो जाता है।

उत्तरः—यह कहना भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि

कि जिस का वचन प्रामाणिक माना जावे। प्रथम तो कहने वाला कोई देव ही सिद्ध नहीं हो सकता, फिर उसके रचे हुए शास्त्र कैसे प्रामाणिक हो सकते हैं। तथा उस की असिद्धि में यह अनुमान भी है। यथः—पुरुष सर्वज्ञ नहीं, मनुष्य होने से, रथ्यापुरुषवत्।

प्रश्नः—किंकर होकर जिसकी असुर, सुर सेवा करते हैं, और तीन लोक के ऐश्वर्य के सूचक छत्र चामरादि जिस की विभूति हैं, सो सर्वज्ञ है, विना सर्वज्ञ के इस प्रकार की लोकोत्तर विभूति क्योंकर हो सकती है?

उत्तरः—यह विभूति तो इन्द्रजालिया भी वना सकता है। इस वात का साक्षी तुमारे जैनमत का समंतभद्र आचार्य भी है। यथा—

देवागमनभोयान–चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते, नातस्त्वमसि नो महान्॥
[आ० मी० श्लो० १]

प्रश्नः—जैसे अनादि सुवर्ण मल को क्षार तथा मृत्पुटपाकादि की क्रिया विशेष से दूर कर देने पर सुवर्ण सर्वथा निर्मल हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी निरंतर ज्ञानादिकों के अभ्यास से मल रहित होकर सर्वज्ञता को प्राप्त कर सकता है, अर्थात सर्वज्ञ हो जाता है।

उत्तरः—यह कहना भी तुमारा ठीक नहीं है, क्योंकि

भी नहीं, क्योंकि दूसरा सर्वज्ञ कोई होवे, तब उपमान बने। तैसे ही अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अन्यथा अनुपपद्यमान ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिस के होने से सर्वज्ञ सिद्ध होवे। जब भावग्राहक पांचों प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध न हुआ, तब तो सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय सिद्ध हुआ। तथा यह अनुमान भी सर्वज्ञ के अभाव को ही सिद्ध करता है। यथा, सर्वज्ञ नहीं है प्रत्यक्षादि अगोचर होने से, शशशृंगवत्। जब कि कोई सर्वज्ञ देव नहीं, और उस सर्वज्ञ देव का कहा हुआ कोई शास्त्र नहीं। तब अतींद्रिय अर्थ का ज्ञान कैसे होवे? ऐसी आशंका करके जैमिनी कहता है, कि इस संसार में "अतींद्रिय"— इन्द्रियों के अगोचर आत्मा, धर्माधर्म, काल, स्वर्ग, नरक, और परमाणु प्रमुख जो पदार्थ हैं, तिन का साक्षात् [करतलामलकवत्] देखने वाला कोई नहीं। इस हेतु से नित्य जो वेद वाक्य हैं, तिन ही से यथार्थ तत्त्व का निश्चय होता है। क्योंकि वेद जो हैं, सो अपौरुषेय हैं, एतावता किसी के रचे हुये नहीं, अनादि नित्य हैं। तिन वेद वचनों से ही अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, परन्तु किसी सर्वज्ञ के कहे हुये आगम से नहीं होता। क्योंकि सर्वज्ञ, कोई न हुआ है, न वर्त्तमान में है, न आगे को कोई होवेगा। यथा—

भी नहीं, क्योंकि दूसरा सर्वज्ञ कोई होवे, तब उपमान बने। तैसे ही अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि अन्यथा अनुपपद्यमान ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिस के होने से सर्वज्ञ सिद्ध होवे। जब भावग्राहक पांचों प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध न हुआ, तब तो सर्वज्ञ अभाव प्रमाण का ही विषय सिद्ध हुआ। तथा यह अनुमान भी सर्वज्ञ के अभाव को ही सिद्ध करता है। यथा, सर्वज्ञ नहीं है प्रत्यक्षादि अगोचर होने से, शशश्रृंगवत्। जब कि कोई सर्वज्ञ देव नहीं, और उस सर्वज्ञ देव का कहा हुआ कोई शास्त्र नहीं। तब अतींद्रिय अर्थ का ज्ञान कैसे होवे? ऐसी आशंका करके जैमिनी कहता है, कि इस संसार में "अतींद्रिय"—इन्द्रियों के अगोचर आत्मा, धर्माधर्म, काल, स्वर्ग, नरक, और परमाणु प्रमुख जो पदार्थ हैं, तिन का साक्षात् [करतलामलकवत्] देखने वाला कोई नहीं। इस हेतु से नित्य जो वेद वाक्य हैं, तिन ही से यथार्थ तत्त्व का निश्चय होता है। क्योंकि वेद जो हैं, सो अपौरुषेय हैं, एतावता किसी के रचे हुये नहीं, अनादि नित्य हैं। तिन वेद वचनों से ही अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है, परन्तु किसी सर्वज्ञ के कहे हुये आगम से नहीं होता। क्योंकि सर्वज्ञ, कोई न हुआ है, न वर्त्तमान में है, न आगे को कोई होवेगा। यथा—

क्योंकि प्रत्यक्षादिक विद्यमान के उपलंभक हैं। अरु धर्म जो है, सो कर्त्तव्यतारूप है, तथा कर्त्तव्यता जो है, सो त्रिकाल स्वभाव वाली है। तिस कर्त्तव्यता का ज्ञान नोदना ही उत्पन्न करा सकती है, यही मीमांसकों का अभ्युपगम—सिद्धांत है।

अब नोदना का व्याख्यान करते हैं। अग्निहोत्र, सर्व जीवों की अहिंसा और दानादिक क्रिया के प्रवर्त्तक-प्रेरक जो वेदों के वचन, सो नोदना है। जैसे—† "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः"। यह प्रवर्त्तक वेद वचन है, तथा निवर्तक वेद वचन-"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि, तथा न वै हिंस्रो भवेत्"। इत्यादि। इन प्रवर्तक और निवर्तक वेद वचनों से प्रेरित हुआ पुरुष जिन द्रव्य, गुण, कर्मादि के द्वारा हवनादि में प्रवृत्त और उनसे निवृत्त होता है, उस अनुष्ठान से उसके अभीष्ट स्वर्गादि फल की जिस से सिद्धि होती है, उस का नाम धर्म है। इसी प्रकार उक्त वेद वचनों से प्रेरित हुआ भी यदि प्रवृत्त अथवा निवृत्त नहीं होता, तो उस से उस को अनिष्ट नरकादि फल की जिस से प्राप्ति होती है, वह अधर्म है। तात्पर्य कि, अभीष्ट फल के देने वाला धर्म और अनिष्ट फल का सम्पादन करने वाला अधर्म है। शाबरभाष्य में भी ऐसे ही कहा है*।

---

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्नि होत्र करे।

* य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।

[अ० १ पा० १ सू० २ का भाष्य]

क्योंकि प्रत्यक्षादिक विद्यमान के उपलंभक हैं। अरु धर्म जो है, सो कर्त्तव्यतारूप है, तथा कर्त्तव्यता जो है, सो त्रिकाल स्वभाव वाली है। तिस कर्त्तव्यता का ज्ञान नोदना ही उत्पन्न करा सकती है, यही मीमांसकों का अभ्युपगम—सिद्धांत है।

अब नोदना का व्याख्यान करते हैं। अग्निहोत्र, सर्व जीवों की अहिंसा और दानादिक क्रिया के प्रवर्त्तक-प्रेरक जो वेदों के वचन, सो नोदना है। जैसे—† "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः"। यह प्रवर्त्तक वेद वचन है, तथा निवर्तक वेद वचन-"न हिंस्यात् सर्वा भूतानि, तथा न वै हिंस्रो भवेत्"। इत्यादि। इन प्रवर्तक और निवर्तक वेद वचनों से प्रेरित हुआ पुरुष जिन द्रव्य, गुण, कर्मादि के द्वारा हवनादि में प्रवृत्त और उनसे निवृत्त होता है, उस अनुष्ठान से उस के अभीष्ट स्वर्गादि फल की जिस से सिद्धि होती है, उस का नाम धर्म है। इसी प्रकार उक्त वेद वचनों से प्रेरित हुआ भी यदि प्रवृत्त अथवा निवृत्त नहीं होता, तो उस से उस को अनिष्ट नरकादि फल की जिस से प्राप्ति होती है, वह अधर्म है। तात्पर्य कि, अभीष्ट फल के देने वाला धर्म और अनिष्ट फल का सम्पादन करने वाला अधर्म है। शावरभाष्य में भी ऐसे ही कहा है*।

---

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्नि होत्र करे।

* य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते।

[अ० १ पा० १ सू० २ का भाष्य]

अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं मानते। काम का सेवन करना ही इनके मत में पुरुषार्थ है।

चार्वाक मत की उत्पत्ति

इस मत की उत्पत्ति, जैनमत के शीलतरङ्गिणी नामक शास्त्र में ऐसे लिखी है। एक बृहस्पतिनामा ब्राह्मण था, उस का दूसरा नाम वेदव्यास भी था, उस की एक बहिन थी। वो बालविधवा हो गई। उस के सुसराल में ऐसा कोई न था, जिस के आश्रय से वो अपना जीवन व्यतीत करती, तातें निराधार होकर, वह अपने भाई के घर में आ रही, वो अत्यंत रूपवाली युवती थी, उस का जो भाई था, तिस की भार्या मृत्यु को प्राप्त हो गई थी। जब बृहस्पति को काम ने अत्यंत पीडित किया, तब उसको अपनी बहिन के साथ विषय सेवन की इच्छा भई। अपनी बहिन से उस ने प्रार्थना करी, कि हे भगिनी! मेरे साथ तूं संभोग कर, तब तिस की बहिन ने कहा कि हे भाई! यह बात उभयलोक विरुद्ध है, क्योंकि प्रथम तो मैं तेरी बहिन हूं, जेकर भाई के साथ विषय भोग करूंगी तो अवश्यमेव नरक में जाऊंगी, और यदि यह बात जगत् में प्रसिद्ध हो गई, तो लोग मुझ को धिक्कार देवेंगे, इस वास्ते यह नीच काम मैं नहीं करूंगी। बहन की बात को सुन कर बृहस्पति ने अपने मन में सोचा, कि जब तक इसके मन से पाप अरु नरकादिकों का भय दूर नहीं होगा, तब तक यह मेरे साथ कभी संभोग न करेगी। अतः

अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं मानते। काम का सेवन करना ही इनके मत में पुरुषार्थ है।

चार्वाक मत की उत्पत्ति

इस मत की उत्पत्ति, जैनमत के शीलतरङ्गिणी नामक शास्त्र में ऐसे लिखी है। एक बृहस्पतिनामा ब्राह्मण था, उस का दूसरा नाम वेदव्यास भी था, उस की एक वहिन थी। वो वालविधवा हो गई। उस के सुसराल में ऐसा कोई न था, जिस के आश्रय से वो अपना जीवन व्यतीत करती, तातें निराधार होकर, वह अपने भाई के घर में आ रही, वो अत्यंत रूपवाली युवती थी, उस का जो भाई था, तिस की भार्या मृत्यु को प्राप्त हो गई थी। जब बृहस्पति को काम ने अत्यंत पीडित किया, तब उसको अपनी वहिन के साथ विषय सेवन की इच्छा भई। अपनी वहिन से उस ने प्रार्थना करी, कि हे भगिनी! मेरे साथ तूं संभोग कर, तब तिस की वहिन ने कहा कि हे भाई! यह वात उभयलोक विरुद्ध है, क्योंकि प्रथम तो मैं तेरी वहिन हूं, जेकर भाई के साथ विषय भोग करूंगी तो अवश्यमेव नरक में जाऊंगी, और यदि यह वात जगत् में प्रसिद्ध हो गई, तो लोग मुझ को धिक्कार देवेंगे, इस वास्ते यह नीच काम मैं नहीं करूंगी। वहन की वात को सुन कर बृहस्पति ने अपने मन में सोचा, कि जब तक इसके मन से पाप अरु नरकादिकों का भय दूर नहीं होगा, तब तक यह मेरे साथ कभी संभोग न करेगी। अतः

इस मत का नाम चार्वाक, लोकायत आदि है। "चर्व् अदने, चर्वंति भक्षयंति तत्त्वतो न मन्यंते पुण्यपापादिकं परोक्षवस्तुजातमिति चार्वाकाः, मयाकश्यामाकेत्यादि-सिद्धहैमोणादिदण्डकेन शब्दनिपातनम् । लोका निर्विचाराः सामान्या लोकास्तद्वदाचरंति स्मेति लोकायताः, लोकायतिका इत्यपि, बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति"—चर्व् जो धातु है, सो भक्षण अर्थ में है, चर्वण-भक्षण जो करे, तात्पर्य कि जो पुण्य पापादिक परोक्ष वस्तुसमूह को न माने, सो चार्वाक । मयाक श्यामाक इत्यादि सिद्धहैमव्याकरण के उणादिदण्डक के द्वारा निपात से सिद्ध है । तथा लोक—निर्विचार, सामान्य लोगों की तरें जो आचरण करते हैं, वे लोकायत और लोकायतिक हैं। तथा बृहस्पति के प्ररूपे मत को मानने से इनको बार्हस्पत्य भी कहते हैं ।

चार्वाक की मान्यताएं

अब चार्वाक का मत लिखते हैं। वे इस प्रकार से कहते हैं, कि जीव-चेतना लक्षण परलोक में जाने वाला नहीं है। पांच महाभूत से जो चेतन उत्पन्न होता है, सो भी यहां ही भूतों के नाश होने से नष्ट हो जाता है । जेकर जीव परलोक से आया होवे, तब तो उसे परलोक का स्मरण होना चाहिये, परन्तु होता नहीं है। इस वास्ते जीव न परलोक से आया है, अरु न परलोक में जाने वाला है । तथा जीव के स्थान में जो 'देव' ऐसा पाठ मानिये, तब यह

इस मत का नाम चार्वाक, लोकायत आदि है। "चर्व् अदने, चर्वंति भक्षयंति तत्त्वतो न मन्यंते पुण्यपापादिकं परोक्षवस्तु-जातमिति चार्वाकाः, मयाकश्यामाकेत्यादि-सिद्धहैमोणा-दिदण्डकेन शब्दनिपातनम्। लोका निर्विचाराः सामान्या लोकास्तद्वदाचरंति स्मेति लोकायताः, लोकायतिका इत्यपि, बृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्चेति"—चर्व् जो धातु है, सो भक्षण अर्थ में है, चर्वण-भक्षण जो करे, तात्पर्य कि जो पुण्य पापादिक परोक्ष वस्तुसमूह को न माने, सो चार्वाक। मयाक श्यामाक इत्यादि सिद्धहैमव्याकरण के उणादिदण्डक के द्वारा निपात से सिद्ध है। तथा लोक—निर्विचार, सामान्य लोगों की तरें जो आचरण करते हैं, वे लोकायत और लोकायतिक हैं। तथा बृहस्पति के प्ररूपे मत को मानने से इनको बार्हस्पत्य भी कहते हैं।

चार्वाक की मान्यताएं

अब चार्वाक का मत लिखते हैं। वे इस प्रकार से कहते हैं, कि जीव-चेतना लक्षण परलोक में जाने वाला नहीं है। पांच महाभूत से जो चेतन उत्पन्न होता है, सो भी यहां ही भूतों के नाश होने से नष्ट हो जाता है। जेकर जीव पर-लोक से आया होवे, तब तो उसे परलोक का स्मरण होना चाहिये, परन्तु होता नहीं है। इस वास्ते जीव न परलोक से आया है, अरु न परलोक में जाने वाला है। तथा जीव के स्थान में जो 'देव' ऐसा पाठ मानिये, तब यह

अतिरिक्त नरक स्वर्ग में जाने वाला जीव, प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ । तो जीवों के सुख दुःख का कारण धर्माधर्म है, और धर्माधर्म के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट फल भोगने की भूमि स्वर्ग नरक है, तथा पुण्य-पाप के सर्वथा क्षय होने से मोक्ष का सुख मिलता है । यह सब पूर्वोक्त वर्णन ऐसा है, जैसा कि आकाश में चित्राम करना है । क्योंकि जीव का न तो किसी ने स्पर्श किया है, न किसी ने खाकर उस का स्वाद चखा है, न किसी ने सूंघा है, न किसी ने देखा है, न किसी ने सुना है । तो फिर वे मूढ-मति किस वास्ते जीव को मान करके, स्वर्गादि सुखों की इच्छा करके, शिर, दाढ़ी और मूंछ, मुण्डवा करके, नाना प्रकार के दुष्कर तप का अनुष्ठान करके, क्यों शीत, आतप को सहन करके, इस शरीर की विडंबना करते हुए इस मनुष्य जन्म को वृथा ही खराब कर रहे हैं ? वास्तव में यह उन की समझ की विडंबना है । इस वास्ते तप संयमादि सब कुछ बाल क्रीडा के समान है । यथाः—

तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवंचना ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत, तावद्वैषयिकं सुखम् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥

[षड्० स० श्लो० ८१ की वृ० वृ०]

अतिरिक्त नरक स्वर्ग में जाने वाला जीव, प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नहीं हुआ । तो जीवों के सुख दुःख का कारण धर्माधर्म है, और धर्माधर्म के उत्कृष्ट तथा निकृष्ट फल भोगने की भूमि स्वर्ग नरक है, तथा पुण्य-पाप के सर्वथा क्षय होने से मोक्ष का सुख मिलता है । यह सब पूर्वोक्त वर्णन ऐसा है, जैसा कि आकाश में चित्राम करना है। क्योंकि जीव का न तो किसी ने स्पर्श किया है, न किसी ने खाकर उस का स्वाद चखा है, न किसी ने सूंघा है, न किसी ने देखा है, न किसी ने सुना है । तो फिर वे मूढ-मति किस वास्ते जीव को मान करके, स्वर्गादि सुखों की इच्छा करके, शिर, दाढ़ी और मूंछ, मुण्डवा करके, नाना प्रकार के दुष्कर तप का अनुष्ठान करके, क्यों शीत, आतप को सहन करके, इस शरीर की विडंबना करते हुए इस मनुष्य जन्म को वृथा ही ख़राब कर रहे हैं ? वास्तव में यह उन की समझ की विडंबना है । इस वास्ते तप संयमादि सब कुछ बाल क्रीडा के समान है। यथा:—

तपांसि यातनाश्चित्राः, संयमो भोगवंचना ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत, तावद्वैषयिकं सुखम् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः ॥

[षड्० स० श्लो० ८१ की बृ० वृ०]

से यहां पर आया है, अन्यथा भेड़िये के पगों का निशान नहीं हो सकता। तब वह नास्तिक पुरुष निज भार्या को कहने लगा, कि हे भद्रे! "वृकपदं पश्य"—भेड़िये का पंजा तू देख, जिस पंजे को ये अवहुश्रुत भेड़िये का पंजा कहते हैं। लोक रूढि से यह वहुश्रुत कहलाते हैं, परन्तु परमार्थ से तो ये महा ठोठ हैं। क्योंकि ये परमार्थ तो कुछ जानते नहीं, केवल देखा देखी रौला (शोर) करने लग रहे हैं। परमार्थ से इन का वचन मानने योग्य नहीं है। ऐसे ही बहुत मतों वाले धार्मिक धूर्त्त—धर्म के बहाने दूसरों को ठगने में तत्पर, कल्पित अनुमान आगमादि से जीवादि का अस्तित्त्व सिद्ध करते हुए भोले लोगों को स्वर्गादि सुखों का वृथा ही लोभ दिखा कर, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य, हेयोपादेयादि के संकटों में गिराते हैं। बहुत से मूर्खों के हृदय में धार्मिकता का व्यामोह उत्पन्न करते हैं। इस वास्ते बुद्धिमानों को उन का वचन नहीं मानना चाहिये। यह देख उस स्त्री ने अपने पति की सब बातों को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर वह नास्तिक अपनी भार्या को ऐसे उपदेश देने लगाः—

पिब खाद च चारुलोचने! यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते।
न हि भीरु! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥

[षड्० स०, श्लो० ८२]

व्याख्याः—हे चारुलोचने—सुन्दर आंखवाली! "पिब"—

से यहां पर आया है, अन्यथा भेड़िये के पगों का निशान नहीं हो सकता । तब वह नास्तिक पुरुष निज भार्या को कहने लगा, कि हे भद्रे ! "वृकपदं पश्य"—भेड़िये का पंजा तू देख, जिस पंजे को ये अवहुश्रुत भेड़िये का पंजा कहते हैं। लोक रूढि से यह बहुश्रुत कहलाते हैं, परन्तु परमार्थ से तो ये महा ठोठ हैं । क्योंकि ये परमार्थ तो कुछ जानते नहीं, केवल देखा देखी रौला (शोर) करने लग रहे हैं। परमार्थ से इन का वचन मानने योग्य नहीं है । ऐसे ही बहुत मतों वाले धार्मिक धूर्त्त—धर्म के बहाने दूसरों को ठगने में तत्पर, कल्पित अनुमान आगमादि से जीवादि का अस्तित्त्व सिद्ध करते हुए भोले लोगों को स्वर्गादि सुखों का वृथा ही लोभ दिखा कर, भक्ष्याभक्ष्य, गम्यागम्य, हेयोपादेयादि के संकटों में गिराते हैं। बहुत से मूर्खों के हृदय में धार्मिकता का व्यामोह उत्पन्न करते हैं। इस वास्ते बुद्धिमानों को उन का वचन नहीं मानना चाहिये । यह देख उस स्त्री ने अपने पति की सब बातों को स्वीकार कर लिया । तदनन्तर वह नास्तिक अपनी भार्या को ऐसे उपदेश देने लगाः—

पिब खाद च चारुलोचने ! यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥

[षड्० स०, श्लो० ८२]

व्याख्याः—हे चारुलोचने—सुन्दर आंखवाली ! "पिब"—

मात्र ही यह शरीर है। इन चारों भूतों के संयोग मात्र से अन्य दूसरा भवांतर में जाने वाला, शुभाशुभ कर्म विपाक का भोगने वाला जीव नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है। अरु चारों भूतों का जो संयोग है, सो विजली के उद्योत की तरें क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। इस वास्ते परलोक का भय मत कर, और जैसा मन माने, वैसा खा और पी, तथा भोग विलास कर।

अव इनके प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप कहते हैं:—

पृथ्वी जलं तथा तेजो, वायु र्भूतचतुष्टयम् ।
आधारो भूमिरेतेषां, मानं त्वक्षजमेव हि ॥

[षड्० स०, श्लो० ८३]

अर्थः—१. पृथिवी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, यह चार भूत हैं, अरु इन चारों का आधार पृथ्वी है। यह चारों एकठे होकर चैतन्य को उत्पन्न करते हैं। इन चार्वाकों के मत में प्रमाण तो एक प्रत्यक्ष ही है।

भूतचतुष्टय से उत्पन्न होने वाली देह में चेतनता कैसे उत्पन्न हो जाती है? इस शंका का समाधान करने के वास्ते वह नास्तिक कहता है:—

पृथ्व्यादिभूतसंहत्या, तथा देहपरीणतेः ।
मदशक्तिः सुरांगेभ्यो, यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ॥

[षड्० स०, श्लो० ८४]

मात्र ही यह शरीर है। इन चारों भूतों के संयोग मात्र से अन्य दूसरा भवांतर में जाने वाला, शुभाशुभ कर्म विपाक का भोगने वाला जीव नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है। अरु चारों भूतों का जो संयोग है, सो विजली के उद्योत की तरें क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है। इस वास्ते परलोक का भय मत कर, और जैसा मन माने, वैसा खा और पी, तथा भोग विलास कर।

अब इनके प्रमाण और प्रमेय का स्वरूप कहते हैं:—

पृथ्वी जलं तथा तेजो, वायु र्भूतचतुष्टयम् ।
आधारो भूमिरेतेषां, मानं त्वक्षजमेव हि ॥
[षड्० स०, श्लो० ८३]

अर्थः—१. पृथिवी, २. जल, ३. अग्नि, ४. वायु, यह चार भूत हैं, अरु इन चारों का आधार पृथ्वी है। यह चारों एकठे होकर चैतन्य को उत्पन्न करते हैं। इन चार्वाकों के मत में प्रमाण तो एक प्रत्यक्ष ही है।

भूतचतुष्टय से उत्पन्न होने वाली देह में चेतनता कैसे उत्पन्न हो जाती है? इस शंका का समाधान करने के वास्ते वह नास्तिक कहता है:—

पृथ्व्यादिभूतसंहत्या, तथा देहपरीणतेः ।
मदशक्तिः सुरांगेभ्यो, यद्वत्तद्वच्चिदात्मनि ॥
[षड्० स०, श्लो० ८४]

पूर्वापर व्याहतपना दिखलाते हैं। प्रथम बौद्ध में पूर्वापर विरोध का उद्भावन करते हैं:—

बौद्धमत में पूर्वापर विरोध

१. प्रथम तो बौद्ध मत में सर्व पदार्थों को क्षणभंगुर कहा और पीछे से ऐसे कहा है—"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषय इति" अर्थात् अर्थ के होते ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थ के बिना नहीं होता, इस प्रकार अनुकृत अन्वयव्यतिरेक वाला अर्थ ज्ञान का कारण है। तथा जिस अर्थ से यह ज्ञान उत्पन्न होती है, तिस कारण रूप अर्थ ही को विषय करता है। इस कहने से अर्थ दो क्षण स्थितिवाला कहा गया। जैसे कि अर्थ रूप कारण से ज्ञान रूप कार्य जो उत्पन्न होता है, वह दूसरे क्षण में उत्पन्न होगा। क्योंकि एक ही समय में कारण और कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा वह ज्ञान अपने जनक अर्थ ही को ग्रहण करता है। "नापरं नाकारणं विषय इति वचनात्"। जब ऐसे हुआ तब तो अर्थ दो समय की स्थिति वाला बलात् हो गया, परन्तु बौद्ध मत में दो समय की स्थिति वाला कोई पदार्थ है नहीं।

२. तथा "नाकारणं विषय इत्युक्त्वा" अर्थात् जो पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है, उस पदार्थ को ज्ञान विषय भी नहीं करता। ऐसे कह कर फिर योगी प्रत्यक्ष

पूर्वापर व्याहतपना दिखलाते हैं। प्रथम बौद्ध में पूर्वापर विरोध का उद्भावन करते हैं:—

बौद्धमत में पूर्वापर विरोध

१. प्रथम तो बौद्ध मत में सर्व पदार्थों को क्षणभंगुर कहा और पीछे से ऐसे कहा है—"नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं नाकारणं विषय इति" अर्थात् अर्थ के होते ही ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थ के बिना नहीं होता, इस प्रकार अनुकृत अन्वयव्यतिरेक वाला अर्थ ज्ञान का कारण है। तथा जिस अर्थ से यह ज्ञान उत्पन्न होती है, तिस कारण रूप अर्थ ही को विषय करता है। इस कहने से अर्थ दो क्षण स्थितिवाला कहा गया। जैसे कि अर्थ रूप कारण से ज्ञान रूप कार्य जो उत्पन्न होता है, वह दूसरे क्षण में उत्पन्न होगा। क्योंकि एक ही समय में कारण और कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं। तथा वह ज्ञान अपने जनक अर्थ ही को ग्रहण करता है। "नापरं नाकारणं विषय इति वचनात्"। जब ऐसे हुआ तब तो अर्थ दो समय की स्थिति वाला बलात् हो गया, परन्तु बौद्ध मत में दो समय की स्थिति वाला कोई पदार्थ है नहीं।

२. तथा "नाकारणं विषय इत्युक्त्वा" अर्थात् जो पदार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है, उस पदार्थ को ज्ञान विषय भी नहीं करता। ऐसे कह कर फिर योगी प्रत्यक्ष

इस श्लोक में क्षणिक वाद के विरुद्ध जन्मान्तर के विषे में 'मे' और 'अस्मि' शब्द का प्रयोग करने वाले बुद्ध के कथन में क्यों कर पूर्वापर विरोध न करना चाहिये ?

६. ऐसे ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नीलादिक वस्तुओं को सर्व प्रकार करके ग्रहण करता हुआ भी नीलादिक अंश विषयक निर्णय उत्पन्न करता है, परन्तु नीलादि अर्थ-गत क्षणक्षयी अंश के विषय में निर्णय उत्पन्न नहीं करता है, ऐसे सांशता को कहते हुए सौगत के वचन में पूर्वापर विरोध सुबोध ही है।

७. तथा हेतु को तीन रूप वाला माना है, और संशय को दो उल्लेख वाला माना है, अरु फिर कहता है, कि वस्तु सांश नहीं है।

८. तथा परस्पर अनमिले हुये परमाणु निकटता संबंध वाले एकठे होकर घटादि रूप से प्रतिभासित होते हैं, परन्तु आपस में अंगांगीभाव रूप करके किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं करते। यह बौद्धोंका मत है। तिस में यह दूषण है, कि आपस में परमाणुओं के अनमेल से, जब हम घट का एक देश हाथ से पकड़ेंगे, तब सम्पूर्ण घट को नहीं आना चाहिये। तथा घट के उठाने से भी एक देश ही घट का उठना चाहिये, सम्पूर्ण घट नहीं उठना चाहिये। तथा जब हम घट को गले से पकड़ के खेंचेंगे तब भी घट का एक देश

इस श्लोक में क्षणिक वाद के विरुद्ध जन्मान्तर के विषे में 'मे' और 'अस्मि' शब्द का प्रयोग करने वाले बुद्ध के कथन में क्यों कर पूर्वापर विरोध न करना चाहिये ?

६. ऐसे ही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नीलादिक वस्तुओं को सर्व प्रकार करके ग्रहण करता हुआ भी नीलादिक अंश विषयक निर्णय उत्पन्न करता है, परन्तु नीलादि अर्थ-गत क्षणक्षयी अंश के विषय में निर्णय उत्पन्न नहीं करता है, ऐसे सांशता को कहते हुए सौगत के वचन में पूर्वापर विरोध सुबोध ही है।

७. तथा हेतु को तीन रूप वाला माना है, और संशय को दो उल्लेख वाला माना है, अरु फिर कहता है, कि वस्तु सांश नहीं है।

८. तथा परस्पर अनमिले हुये परमाणु निकटता संबंध वाले एकठे होकर घटादि रूप से प्रतिभासित होते हैं, परन्तु आपस में अंगांगीभाव रूप करके किसी भी कार्य का आरम्भ नहीं करते। यह बौद्धोंका मत है। तिस में यह दूषण है, कि आपस में परमाणुओं के अनमेल से, जब हम घट का एक देश हाथ से पकड़ेंगे, तब सम्पूर्ण घट को नहीं आना चाहिये। तथा घट के उठाने से भी एक देश ही घट का उठना चाहिये, सम्पूर्ण घट नहीं उठना चाहिये। तथा जब हम घट को गले से पकड़ के खेंचेंगे तब भी घट का एक देश

पकार नहीं कर सकते। इस वास्ते तत्त्ववेत्ताओं को अपने पुत्रादिकों में आत्मीय अभिनिवेश, और वैरियों विषे द्वेष नहीं होता तथा लोगों को अनात्मीय पदार्थों में जो आत्मीय अभिनिवेश होता है, सो अतत्त्वमूलक होने से अनादि वासना के परिपाक से उत्पन्न हुआ जानना।

प्रश्नः—यदि परमार्थ से उपकार्य उपकारक भाव नहीं, तब तुम कैसे कहते हो कि भगवान् सुगत ने करुणा से सकल जीवों के उपकार वास्ते धर्म देशना दी? और पदार्थों की क्षणिकता भी जेकर एकांत ही है। तो तत्त्ववेत्ता ने एक क्षण के पीछे नष्ट हो जाना है, और तत्त्ववेत्ता यह भी जानता है, कि मैं पीछे नहीं था अरु आगे को मैंने नहीं होना है, तो फिर वह मोक्ष के वास्ते क्यों यत्न करे?

उत्तरः—जो कुछ तुमने कहा है, सो हमारा अभिप्राय न जानने से कहा है, और वह अयुक्त है। भगवान् जो हैं, सो प्राचीन अवस्था विषे अवस्थित हैं, अरु सकल जगत् को राग द्वेषादि दुःखों से व्याप्त जान कर, और मेरे को इस सकल जगत् का दुःख दूर करना योग्य है, ऐसी दया उत्पन्न होने से नैरात्म्य क्षणिकत्वादि को जानता हुआ भी, तिन उपकार्य जीवों में निःक्लेश क्षण उत्पन्न करने के वास्ते, प्रजाहितैषी राजा की तरें, सकल जगत् के साक्षात् करने में समर्थ, अपनी संततिगत विशिष्ट क्षण की उत्पत्ति के वास्ते यत्न का आरम्भ करता है। क्योंकि सकल जगत् के साक्षा-

पकार नहीं कर सकते। इस वास्ते तत्त्ववेत्ताओं को अपने पुत्रादिकों में आत्मीय अभिनिवेश, और वैरियों विषे द्वेष नहीं होता तथा लोगों को अनात्मीय पदार्थों में जो आत्मीय अभिनिवेश होता है, सो अतत्त्वमूलक होने से अनादि वासना के परिपाक से उत्पन्न हुआ जानना।

प्रश्नः—यदि परमार्थ से उपकार्य उपकारक भाव नहीं, तब तुम कैसे कहते हो कि भगवान् सुगत ने करुणा से सकल जीवों के उपकार वास्ते धर्म देशना दी ? और पदार्थों की क्षणिकता भी जेकर एकांत ही है। तो तत्त्ववेत्ता ने एक क्षण के पीछे नष्ट हो जाना है, और तत्त्ववेत्ता यह भी जानता है, कि मैं पीछे नहीं था अरु आगे को मैंने नहीं होना है, तो फिर वह मोक्ष के वास्ते क्यों यत्न करे ?

उत्तरः—जो कुछ तुमने कहा है, सो हमारा अभिप्राय न जानने से कहा है, और वह अयुक्त है। भगवान् जो हैं, सो प्राचीन अवस्था विषे अवस्थित हैं, अरु सकल जगत् को राग द्वेषादि दुःखों से व्याप्त जान कर, और मेरे को इस सकल जगत् का दुःख दूर करना योग्य है, ऐसी दया उत्पन्न होने से नैरात्म्य क्षणिकत्वादि को जानता हुआ भी, तिन उपकार्य जीवों में निःक्लेश क्षण उत्पन्न करने के वास्ते, प्रजाहितैषी राजा की तरें, सकल जगत् के साक्षात् करने में समर्थ, अपनी संततिगत विशिष्ट क्षण की उत्पत्ति के वास्ते यत्न का आरम्भ करता है। क्योंकि सकल जगत् के साक्षा-

तुमारा यह सर्व कहना, तुमारे अन्तःकरण में वास करने वाले मोह का विलास है, क्योंकि आत्मा के अभाव से अर्थात् उसके अस्तित्व का अस्वीकार करने से बंध मोक्षादिकों का * सामानाधिकरण्य—एकाधिकरणत्व नहीं होगा, सोई दिखाते हैं।

हे बौद्धो ! तुम आत्मा को तो मानते नहीं हो, किन्तु पूर्वापर टूटे हुए ज्ञान क्षणों की संतान ही को मानते हो। जब ऐसे माना, तब तो अन्य को बंध हुआ, और अन्य को मुक्ति हुई। तथा क्षुधा और को लगी, तृप्ति और की हुई। तैसे ही अनुभविता और हुआ, अरु स्मर्त्ता और हो गया। जुलाब और ने लिया, अरु राज़ी-रोग रहित और हो गया। तपक्लेश तो और ने करा, परन्तु स्वर्गादि का सुख और ने भोगा। एवं पढ़ने का अभ्यास तो किसी और ने करा, परन्तु पढ़ कोई और गया। इत्यादि अनेक अतिप्रसंग होने से यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। जेकर कहो कि सन्तान की अपेक्षा से बंध मोक्षादिकों का एक अधिकरण हो सकता है। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सन्तान ही किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि, सन्तान जो है सो सन्तानी से भिन्न है ? या अभिन्न ? जेकर कहो कि भिन्न है, तब तो फिर दो विकल्प होते हैं, अर्थात् वह संतान नित्य है ? वा अनित्य ? जेकर कहो कि नित्य है, तब तो तिस को

*समान अधिकरण अर्थात् एक स्थान में होना।

तुमारा यह सर्व कहना, तुमारे अन्तःकरण में वास करने वाले मोह का विलास है, क्योंकि आत्मा के अभाव से अर्थात् उसके अस्तित्व का अस्वीकार करने से बंध मोक्षादिकों का * सामानाधिकरण्य—एकाधिकरणत्व नहीं होगा, सोई दिखाते हैं।

हे बौद्धो! तुम आत्मा को तो मानते नहीं हो, किन्तु पूर्वापर टूटे हुए ज्ञान क्षणों की संतान ही को मानते हो। जब ऐसे माना, तब तो अन्य को बंध हुआ, और अन्य की मुक्ति हुई। तथा क्षुधा और को लगी, तृप्ति और की हुई। तैसे ही अनुभविता और हुआ, अरु स्मर्त्ता और हो गया। जुलाब और ने लिया, अरु राज़ी–रोग रहित और हो गया। तपक्लेश तो और ने करा, परन्तु स्वर्गादि का सुख और ने भोगा। एवं पढ़ने का अभ्यास तो किसी और ने करा, परन्तु पढ़ कोई और गया। इत्यादि अनेक अतिप्रसंग होने से यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। जेकर कहो कि सन्तान की अपेक्षा से बंध मोक्षादिकों का एक अधिकरण हो सकता है। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सन्तान ही किसी प्रकार से सिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि, सन्तान जो है सो सन्तानी से भिन्न है? या अभिन्न? जेकर कहो कि भिन्न है, तब तो फिर दो विकल्प होते हैं, अर्थात् वह संतान नित्य है? वा अनित्य? जेकर कहो कि नित्य है, तब तो तिस को

*समान अधिकरण अर्थात् एक स्थान में होना।

है, तब तो कार्य उत्पत्ति काल में भी सत् होगा, और कार्य कारण को समकालता का प्रसंग होगा। परन्तु एक काल में दो पदार्थों का कार्य कारण भाव माना नहीं है, अन्यथा माता पुत्र का व्यवहार न होवेगा, तथा घट पटादिकों में भी परस्पर कार्य कारण भाव का प्रसंग हो जावेगा। जेकर असत् पक्ष मानोगे, तो वो भी अयुक्त है, क्योंकि जो असत् है, सो कार्य नहीं हो सकता है, अन्यथा खरशृंग भी कार्य होना चाहिये, तथा अत्यंताभाव और प्रध्वंसाभाव, इन दोनों में कोई विशेषता न होगी, क्योंकि दोनों ही जगे वस्तु सत्ता का अभाव है।

एक और भी बात है, कि "तद्भावे भावः" ऐसे अवगम-प्रतीति में कार्य कारण भाव का अवगम है। परन्तु जो तद्भाव में भाव है, सो क्या प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है? वा अनुमान करके प्रतीत होता है? प्रत्यक्ष से तो नहीं, क्योंकि पूर्व वस्तुगत प्रत्यक्ष से पूर्ववस्तु परिच्छिन्न है। और उत्तर वस्तुगत प्रत्यक्ष करके उत्तर वस्तु परिच्छेद्य है, परन्तु ये दोनों ही परस्पर के स्वरूप को नहीं जानते, और इन दोनों का अनुसंधान करने वाला ऐसा कोई तीसरा स्वरूप तुम मानते नहीं हो। इस वास्ते इस के अनंतर इस का भाव है, ऐसे किस तरे अवगम होवेगा? तथा अनुमान जो है, सो लिंग लिंगी के संबन्ध ग्रहण पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। परन्तु लिंग लिंगी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष

है, तब तो कार्य उत्पत्ति काल में भी सत् होगा, और कार्य कारण को समकालता का प्रसंग होगा। परन्तु एक काल में दो पदार्थों का कार्य कारण भाव माना नहीं है, अन्यथा माता पुत्र का व्यवहार न होवेगा, तथा घट पटादिकों में भी परस्पर कार्य कारण भाव का प्रसंग हो जावेगा। जेकर असत् पक्ष मानोगे, तो वो भी अयुक्त है, क्योंकि जो असत् है, सो कार्य नहीं हो सकता है, अन्यथा खरशृंग भी कार्य होना चाहिये, तथा अत्यंताभाव और प्रध्वंसाभाव, इन दोनों में कोई विशेशता न होगी, क्योंकि दोनों ही जगे वस्तु सत्ता का अभाव है।

एक और भी बात है, कि "तद्भावे भावः" ऐसे अवगम-प्रतीति में कार्य कारण भाव का अवगम है। परन्तु जो तद्भाव में भाव है, सो क्या प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है ? वा अनुमान करके प्रतीत होता है ? प्रत्यक्ष से तो नहीं, क्योंकि पूर्व वस्तुगत प्रत्यक्ष से पूर्ववस्तु परि-च्छिन्न है। और उत्तर वस्तुगत प्रत्यक्ष करके उत्तर वस्तु परिच्छेद्य है, परन्तु ये दोनों ही परस्पर के स्वरूप को नहीं जानते, और इन दोनों का अनुसंधान करने वाला ऐसा कोई तीसरा स्वरूप तुम मानते नहीं हो। इस वास्ते इस के अनंतर इस का भाव है, ऐसे किस तरे अवगम होवेगा ? तथा अनुमान जो है, सो लिंग लिंगी के संबन्ध ग्रहण पूर्वक ही प्रवृत्त होता है। परन्तु लिंग लिंगी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष

अर्थात् नहीं हो सकता। कहा भी है:—

* वास्यवासकयोश्चैव—मसाहित्यान्न वासना।
पूर्वक्षणैरनुत्पन्नो, वास्यते नोत्तरः क्षणः॥
उत्तरेण विनष्टत्वान्न च पूर्वस्य वासना।

[श्लो० वा०, निरा० वा० श्लो० १८२, १८३]

एक और भी बात है, कि वासना वासक से भिन्न है? वा अभिन्न? जेकर कहोगे कि भिन्न है, तब तो वासना करके शून्य होने से, अन्य की भांति उस को भी वासना कदापि वासित नहीं करेगी। जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तब तो वास्य क्षण में वासना का संक्रम कदापि नहीं होवेगा। क्योंकि अभिन्न होने से, वासना वासक का ही स्वरूप होगी। तो जैसे वासक का संक्रम नहीं होता, उसी प्रकार वासना का भी नहीं होगा। यदि वास्यक्षण में वासक की भी संक्रांति मानोगे, तब तो अन्वय का प्रसंग होवेगा। इस वास्ते तुमारा कहना किसी प्रकार से भी काम का नहीं है। तथा जो तुमने राग द्वेषादि से व्याप्त दुःखी जगत् के उद्धार के वास्ते बुद्ध की देशना की बात कही है, वो भी युक्ति युक्त नहीं। क्योंकि तुमारे मत में पूर्वापर त्रुटित क्षण ही परमार्थ से सत् हैं, और क्षणों के रहने का कालमान मात्र एक परमाणु के व्यतिक्रम जितना है, इस वास्ते उत्पत्ति से व्यतिरिक्त तिन की और कोई स्थायी क्रिया उपपद्यमान

अर्थात् नहीं हो सकता। कहा भी है:—

* वास्यवासकयोश्चैव—मसाहित्यान्न वासना।
पूर्वक्षणैरनुत्पन्नो, वास्यते नोत्तरः क्षणः॥
उत्तरेण विनष्टत्वान्न च पूर्वस्य वासना।

[श्लो॰ वा॰, निरा॰ वा॰ श्लो॰ १८२, १८३]

एक और भी बात है, कि वासना वासक से भिन्न है? वा अभिन्न? जेकर कहोगे कि भिन्न है, तब तो वासना करके शून्य होने से, अन्य की भांति उस को भी वासना कदापि वासित नहीं करेगी। जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तब तो वास्य क्षण में वासना का संक्रम कदापि नहीं होवेगा। क्योंकि अभिन्न होने से, वासना वासक का ही स्वरूप होगी। तो जैसे वासक का संक्रम नहीं होता, उसी प्रकार वासना का भी नहीं होगा। यदि वास्यक्षण में वासक की भी संक्रांति मानोगे, तब तो अन्वय का प्रसंग होवेगा। इस वास्ते तुमारा कहना किसी प्रकार से भी काम का नहीं है। तथा जो तुमने राग द्वेषादि से व्याप्त दुःखी जगत् के उद्धार के वास्ते बुद्ध की देशना की बात कही है, वो भी युक्ति युक्त नहीं। क्योंकि तुमारे मत में पूर्वापर त्रुटित क्षण ही परमार्थ से सत् हैं, और क्षणों के रहने का कालमान मात्र एक परमाणु के व्यतिक्रम जितना है, इस वास्ते उत्पत्ति से व्यतिरिक्त तिन की और कोई स्थायी क्रिया उपपद्यमान

विचारो तो सही। इससे अधिक बौद्धमत का खण्डन देखना हो, तो नंदीसिद्धांत, सम्मतितर्क, द्वादशारनयचक्र, अनेकांतजयपताका, स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका प्रमुख शास्त्रों में देख लेना।

नैयायिक मत में पूर्वापर विरोध

अब नैयायिक और वैशेषिक मत में पूर्वापर व्याहतपना दिखलाते हैं। १. पदार्थों में सत्ता के योग से सत्त्व है, ऐसे कह कर सामान्य, विशेष, समवाय, इन पदार्थों को सत्ता के योग विना ही सत् कहते हैं। तो फिर उनका वचन पूर्वापर व्याहत क्यों न होवे ?

२. अपने आप में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान अपने आप को नहीं जानता, ऐसे कह कर फिर कहते हैं, कि ईश्वर का जो ज्ञान है, सो अपने आप को जानता है। इस प्रकार ईश्वर ज्ञान में स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं हैं, तो फिर क्योंकर स्ववचन का विरोध न हुआ ?

३. तथा दीपक जो है, सो अपने आप को आप ही प्रकाश करता है। इस जगह पर स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं, यह पूर्वापर व्याहत वचन है।

४. दूसरों के ठगने वास्ते छल, जाति और निग्रहस्थान आदि का तत्त्वरूप से उपदेश करते हुए अक्षपाद ऋषि का वैराग्य वर्णन ऐसा है, कि जैसा अंधकार को प्रकाश स्वरूप कहना। तब यह क्योंकर पूर्वापर व्याहत वचन नहीं है ?

विचारो तो सही। इससे अधिक बौद्धमत का खण्डन देखना हो, तो नंदीसिद्धांत, सम्मतितर्क, द्वादशारनयचक्र, अनेकांत-जयपताका, स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका प्रमुख शास्त्रों में देख लेना।

अब नैयायिक और वैशेषिक मत में पूर्वापर व्याहतपना दिखलाते हैं। १. पदार्थों में सत्ता के योग से सत्त्व है, ऐसे कह कर सामान्य, विशेष, समवाय, इन पदार्थों को सत्ता के योग विना ही सत् कहते हैं। तो फिर उनका वचन पूर्वापर व्याहत क्यों न होवे?

नैयायिक मत में पूर्वापर विरोध

२. अपने आप में क्रिया का विरोध होने से ज्ञान अपने आप को नहीं जानता, ऐसे कह कर फिर कहते हैं, कि ईश्वर का जो ज्ञान है, सो अपने आप को जानता है। इस प्रकार ईश्वर ज्ञान में स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं हैं, तो फिर क्योंकर स्ववचन का विरोध न हुआ?

३. तथा दीपक जो है, सो अपने आप को आप ही प्रकाश करता है। इस जगह पर स्वात्मविषयक क्रिया का विरोध मानते नहीं, यह पूर्वापर व्याहत वचन है।

४. दूसरों के ठगने वास्ते छल, जाति और निग्रहस्थान आदि का तत्त्वरूप से उपदेश करते हुए अक्षपाद ऋषि का वैराग्य वर्णन ऐसा है, कि जैसा अंधकार को प्रकाश स्वरूप कहना। तब यह क्योंकर पूर्वापर व्याहत वचन नहीं है?

अनर्थजन्य होने करके स्मृति को जब अप्रमाण माना, तब अतीतानागत अनुमान भी अनर्थजन्य होने करके प्रमाण न हुआ। अरु अनुमान को शब्द की तरें त्रिकाल विषयक मानते हैं। यथा—धूम करके वर्त्तमान अग्नि अनुमेय है। अरु मेघोन्नति करके भविष्यत् वृष्टि, अरु नदी का पूर देखने से अतीत वृष्टि का अनुमान मानते हैं। तो फिर धारावाही ज्ञान, अरु अनर्थजन्य अनुमान, इन दोनों को तो प्रमाण मानना अरु स्मृति को प्रमाण नहीं मानना, यह पूर्वापर विरोध है।

१०—ईश्वर का सर्वार्थ विषय प्रत्यक्ष जो है, सो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हो ? वा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मानते हो ? जेकर कहोगे कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हैं, तब तो—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम्"—

[न्या० द०, अ० १ आ० १ सू० ४]

इस सूत्र में सन्निकर्षोपादान निरर्थक होवेगा, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान सन्निकर्ष के विना भी हो सकता है। जेकर कहोगे कि ईश्वर प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मानते हैं, तब तो ईश्वर के मन का, अणुमात्र प्रमाण होने से युगपत् सर्व पदार्थों के साथ संयोग न होवेगा। तब तो ईश्वर जब एक पदार्थ को जानेगा, तब दूसरे पदार्थ होते हुओं को भी नहीं

अनर्थजन्य होने करके स्मृति को जब अप्रमाण माना, तब अतीतानागत अनुमान भी अनर्थजन्य होने करके प्रमाण न हुआ। अरु अनुमान को शब्द की तरें त्रिकाल विषयक मानते हैं। यथा—धूम करके वर्त्तमान अग्नि अनुमेय है। अरु मेघोन्नति करके भविष्यत् वृष्टि, अरु नदी का पूर देखने से अतीत वृष्टि का अनुमान मानते हैं। तो फिर धारावाही ज्ञान, अरु अनर्थजन्य अनुमान, इन दोनों को तो प्रमाण मानना अरु स्मृति को प्रमाण नहीं मानना, यह पूर्वापर विरोध है।

१०—ईश्वर का सर्वार्थ विषय प्रत्यक्ष जो है, सो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हो ? वा इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मानते हो ? जेकर कहोगे कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष निरपेक्ष मानते हैं, तब तो—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम्"—

[न्या० द०, अ० १ आ० १ सू० ४]

इस सूत्र में सन्निकर्षोपादान निरर्थक होवेगा, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान सन्निकर्ष के विना भी हो सकता है। जेकर कहोगे कि ईश्वर प्रत्यक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न मानते हैं, तब तो ईश्वर के मन का, अणुमात्र प्रमाण होने से युगपत् सर्व पदार्थों के साथ संयोग न होवेगा। तब तो ईश्वर जब एक पदार्थ को जानेगा, तब दूसरे पदार्थ होते हुओं को भी नहीं

मानते हैं। यह बात भी एक महामूढता का चिन्ह है, क्योंकि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता है। इस जगत् कर्त्ता का खण्डन दूसरे परिच्छेद में अच्छी तरें विस्तार पूर्वक लिख आये हैं, तो भी भव्य जीवों के ज्ञान के वास्ते थोड़ा सा इहां भी लिख देते हैं।

कई एक कहते हैं कि साधुओं के उपकार वास्ते अरु दुष्टों के संहार वास्ते ईश्वर युग युग में अवतार लेता है*। अरु सुगतादिक कितनेक यह बात कहते हैं, कि मोक्ष को प्राप्त हो करके, अपने तीर्थ को क्लेश में देखकर, फिर भगवान् अवतार लेता है। यथाः—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्।
गत्वागच्छंति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः॥

[षड्० स०, श्लो० ४६ की बृ० वृ०]

जो फिर संसार में अवतार लेता है, वो परमार्थ से मोक्ष को प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि उसके सर्व कर्म क्षय नहीं हुए हैं। जेकर मोहादिक कर्म क्षय हो जाते, तो वो काहे को अपने मत का तिरस्कार देख के पीडा पाता, अरु अवतार

* परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे॥
[भ० गी०, अ० ४ श्लो० ८]

मानते हैं। यह बात भी एक महामूढता का चिन्ह है, क्योंकि जगत् का कर्त्ता ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता है। इस जगत् कर्त्ता का खण्डन दूसरे परिच्छेद में अच्छी तरें विस्तार पूर्वक लिख आये हैं, तो भी भव्य जीवों के ज्ञान के वास्ते थोड़ा सा इहां भी लिख देते हैं।

कई एक कहते हैं कि साधुओं के उपकार वास्ते अरु दुष्टों के संहार वास्ते ईश्वर युग युग में अवतार लेता है*। अरु सुगतादिक कितनेक यह बात कहते हैं, कि मोक्ष को प्राप्त हो करके, अपने तीर्थ को क्लेश में देखकर, फिर भगवान् अवतार लेता है। यथा:—

ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य, कर्त्तारः परमं पदम्।
गत्वागच्छंति भूयोऽपि, भवं तीर्थनिकारतः॥

[षड्० स०, श्लो० ४६ की बृ० वृ०]

जो फिर संसार में अवतार लेता है, वो परमार्थ से मोक्ष को प्राप्त नहीं हुआ है। क्योंकि उसके सर्व कर्म क्षय नहीं हुए हैं। जेकर मोहादिक कर्म क्षय हो जाते, तो वो काहे को अपने मत का तिरस्कार देख के पीडा पाता, अरु अवतार

---

* परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि युगे युगे॥
[भ० गी०, अ० ४ श्लो० ८]

प्रतिवादीः—सुगतादिक ईश्वर मत हों, परन्तु सृष्टि का कर्त्ता तो ईश्वर है, उस को आप क्यों नहीं मानते ?

सिद्धान्तीः—जगत् कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण का अभाव है, इस वास्ते नहीं मानते।

ईश्वर कर्तृत्व का खण्डन

प्रतिवादीः—जगत्कर्त्ता की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है, यथा—पृथिव्यादिक किसी बुद्धिमान् के रचे हुए हैं, कार्यरूप होने से, घटादि की तरे। यह हेतु असिद्ध भी नहीं है, पृथिव्यादिकों के सावयव होने से उन में कार्यत्व प्रसिद्ध है। तथाहि–पृथिवी, पर्वत, वृक्षादिक सर्व सावयव होने से घटवत् कार्यरूप हैं। अरु यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चितकर्तृक घटादिकों में कार्यत्व हेतु प्रत्यक्ष देखने में आता है। तथा जिन आकाशादि का कोई कर्त्ता नहीं है, उन से व्यावृत्त होने से यह कार्यत्व अनैकांतिक भी नहीं है। एवं प्रत्यक्ष तथा आगम करके अबाधित विषय होने से, यह कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है। अतः इस निर्दोष हेतु से जगत् कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है।

सिद्धान्तीः—यहां प्रथम, पृथिवी आदिक किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए हैं, इस की सिद्धि के वास्ते जो तुमने कार्यत्व हेतु कहा था, सो कार्यत्व क्या सावयवत्व को कहते हो ?

प्रतिवादीः—सुगतादिक ईश्वर मत हों, परन्तु सृष्टि का कर्त्ता तो ईश्वर है, उस को आप क्यों नहीं मानते ?

सिद्धान्तीः—जगत् कर्त्ता ईश्वर की सिद्धि में प्रमाण का अभाव है, इस वास्ते नहीं मानते।

ईश्वर कर्तृत्व का खण्डन

प्रतिवादीः—जगत्कर्त्ता की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है, यथा—पृथिव्यादिक किसी बुद्धिमान् के रचे हुए हैं, कार्यरूप होने से, घटादि की तरे। यह हेतु असिद्ध भी नहीं है, पृथिव्यादिकों के सावयव होने से उन में कार्यत्व प्रसिद्ध है। तथाहि–पृथिवी, पर्वत, वृक्षादिक सर्व सावयव होने से घटवत् कार्यरूप हैं। अरु यह हेतु विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चितकर्तृक घटादिकों में कार्यत्व हेतु प्रत्यक्ष देखने में आता है। तथा जिन आकाशादि का कोई कर्त्ता नहीं है, उन से व्यावृत्त होने से यह कार्यत्व अनैकांतिक भी नहीं है। एवं प्रत्यक्ष तथा आगम करके अबाधित विषय होने से, यह कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है। अतः इस निर्दोष हेतु से जगत् कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है।

सिद्धान्तीः—यहां प्रथम, पृथिवी आदिक किसी बुद्धिमान् के बनाये हुए हैं, इस की सिद्धि के वास्ते जो तुमने कार्यत्व हेतु कहा था, सो कार्यत्व क्या सावयवत्व को कहते हो ?

नित्यता का प्रसंग होवेगा। फिर बुद्धिमान् का बनाया हुआ कैसे सिद्ध करोगे? एक और भी दूषण है। *पक्षान्तर्गत जो योगियों का सम्पूर्ण कर्मक्षय, उसमें यह हेतु प्रविष्ट नहीं होता; इस वास्ते भागासिद्ध है। क्योंकि कर्म क्षय ध्वंसाभावरूप है, उस में सत्ता और स्वकारणसमवाय का अभाव है। अतः स्वकारण सत्तासमवाय रूप कार्यत्व वहां नहीं रहता।

तथा "कृतं" इस प्रत्यय का विषय भी कार्यत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि खनन उत्सेचनादि करके 'कृतमाकाशम्' ऐसे अकार्य आकाश में भी वर्त्तमान होने से, यह अनैकांतिक है।

अथ जेकर विकारि स्वरूप कार्यत्व मानोगे, तव तो महेश्वर को भी कार्यत्व का प्रसङ्ग होगा, अर्थात् वो भी कार्य हो जावेगा, क्योंकि जो अन्यथाभाव है, वोही विकारित्व है। जेकर कहोगे कि ईश्वर विकारी नहीं, तव तो उस में कार्यकारित्व ही दुर्घट है। इस प्रकार कार्य के स्वरूप का विचार करते हुए उस की उपपत्ति न होने से, कार्यत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में जगत्कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। तथा लोक में कार्यत्व की प्रसिद्धि उस में है, जो कि कभी हो और कभी न हो, परन्तु यह जो जगत् है, सो तुमारे महेश्वर की तरे सदा ही सत्त्वरूप है। फिर यह

* किंच, योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तःपातिन्यप्रवृत्तत्वेन भागासिद्धोऽयं हेतुः, तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वेन सत्तास्वकारणसमवाययोरभावात्। [षड्० स०, श्लो० ४६ की वृ० वृ०]

नित्यता का प्रसंग होवेगा। फिर बुद्धिमान् का बनाया हुआ कैसे सिद्ध करोगे ? एक और भी दूषण है। *पक्षान्तर्गत जो योगियों का सम्पूर्ण कर्मक्षय, उसमें यह हेतु प्रविष्ट नहीं होता; इस वास्ते भागासिद्ध है। क्योंकि कर्म क्षय ध्वंसाभावरूप है, उस में सत्ता और स्वकारणसमवाय का अभाव है। अतः स्वकारण सत्तासमवाय रूप कार्यत्व वहां नहीं रहता।

तथा "कृतं" इस प्रत्यय का विषय भी कार्यत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि खनन उत्सेचनादि करके 'कृतमाकाशम्' ऐसे अकार्य आकाश में भी वर्त्तमान होने से, यह अनैकांतिक है।

अथ जेकर विकारि स्वरूप कार्यत्व मानोगे, तब तो महेश्वर को भी कार्यत्व का प्रसङ्ग होगा, अर्थात् वो भी कार्य हो जावेगा, क्योंकि जो अन्यथाभाव है, वोही विकारित्व है। जेकर कहोगे कि ईश्वर विकारी नहीं, तब तो उस में कार्यकारित्व ही दुर्घट है। इस प्रकार कार्य के स्वरूप का विचार करते हुए उस की उपपत्ति न होने से, कार्यत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में जगत्कर्तृत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। तथा लोक में कार्यत्व की प्रसिद्धि उस में है, जो कि कभी हो और कभी न हो, परन्तु यह जो जगत् है, सो तुमारे महेश्वर की तरे सदा ही सत्त्वरूप है। फिर यह

---

* किंच, योगिनामशेषकर्मक्षये पक्षान्तःपातिन्यप्रवृत्तत्वेन भागासिद्धोऽयं हेतुः, तत्प्रक्षयस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वेन सत्तास्वकारणसमवाययोरभावात्। [षड्० स०, श्लो० ४६ की बृ० वृ०]

तुल्य आक्षेपसमाधान न्याय से समान रूपता का यहां पर भी अंगीकार करना पड़ेगा। इस वास्ते वाष्प अरु धूम इन दोनों में किसी अंश करके साम्य भी है, तो भी कोई एक ऐसा विशेष है, जिस से कि धूम ही अग्नि का गमक है, वाष्पादिक नहीं। तैसे ही पृथिव्यादिकों में भी इतर कार्यों की अपेक्षा कुछ विशेष ही अंगीकार करना होगा।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तब तो पक्ष में कार्य विशेष के अभाव से यह हेतु असिद्ध है। यदि मान लें, तो जीर्ण कूप प्रासादादिकों की तरे अक्रिया देखने वाले को भी कृत-बुद्धि की उत्पादकता का प्रसङ्ग होगा। जेकर कहो कि समारोप से प्रसंग नहीं होता है, तो भी दोनों जगे एक सरीखा होने से क्यों नहीं होता है? क्योंकि दोनों जगें कर्त्ता का अतीन्द्रियत्व समान है, यदि कहो कि प्रामाणिक, को यहां कृतबुद्धि है। तो तहां तिस को कृतकत्व का अवगम, क्या इस अनुमान करके अथवा अनुमानांतर करके है? आद्य पक्ष में परस्पर आश्रय दूषण है, तथाहि—सिद्धविशेषण हेतु से इस अनुमान का उत्थान है, परन्तु तिस के उत्थान होने पर हेतु के विशेषण की सिद्धि है। दूसरे पक्ष में अनुमानांतर का भी सविशेषण हेतु से ही उत्थान होवेगा, तहां भी अनुमानांतर से इस की सिद्धि करोगे, तो अनवस्था दूषण आवेगा। इस वास्ते कृतबुद्धि उत्पादकत्व रूप विशेषण सिद्ध नहीं। तब यह विशेषणासिद्ध हेतु है।

अरु जो कहते हैं कि खात प्रतिपूरित पृथिवी के दृष्टान्त

तुल्य आक्षेपसमाधान न्याय से समान रूपता का यहां पर भी अंगीकार करना पड़ेगा। इस वास्ते वाष्प अरु धूम इन दोनों में किसी अंश करके साम्य भी है, तो भी कोई एक ऐसा विशेष है, जिस से कि धूम ही अग्नि का गमक है, वाष्पादिक नहीं। तैसे ही पृथिव्यादिकों में भी इतर कार्यों की अपेक्षा कुछ विशेष ही अंगीकार करना होगा।

जेकर दूसरा पक्ष मानोगे, तब तो पक्ष में कार्य विशेष के अभाव से यह हेतु असिद्ध है। यदि मान लें, तो जीर्ण कूप प्रासादादिकों की तरे अक्रिया देखने वाले को भी कृत-बुद्धि की उत्पादकता का प्रसङ्ग होगा। जेकर कहो कि समारोप से प्रसंग नहीं होता है, तो भी दोनों जगे एक सरीखा होने से क्यों नहीं होता है? क्योंकि दोनों जगे कर्त्ता का अतीन्द्रियत्व समान है, यदि कहो कि प्रामाणिक, को यहां कृतबुद्धि है। तो तहां तिस को कृतकत्व का अवगम, क्या इस अनुमान करके अथवा अनुमानांतर करके है? आद्य पक्ष में परस्पर आश्रय दूषण है, तथाहि—सिद्धविशे-षण हेतु से इस अनुमान का उत्थान है, परन्तु तिस के उत्थान होने पर हेतु के विशेषण की सिद्धि है। दूसरे पक्ष में अनुमानांतर का भी सविशेषण हेतु से ही उत्थान होवेगा, तहां भी अनुमानांतर से इस की सिद्धि करोगे, तो अन-वस्था दूषण आवेगा। इस वास्ते कृतबुद्धि उत्पादकत्व रूप विशेषण सिद्ध नहीं। तब यह विशेषणासिद्ध हेतु है।

अरु जो कहते हैं कि खात प्रतिपूरित पृथिवी के दृष्टान्त

है, क्योंकि दृश्य विशेष में ही कार्यत्व हेतु की प्रसिद्धि है। अदृश्य विशेष में नहीं । खरविषाण आधार वाले सामान्य को भांति ही तिस की तो स्वप्न में भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती । इस वास्ते जैसे कारण से जैसा कार्य उपलब्ध होता है, तैसा ही अनुमान करने योग्य है । यथा यावत् धर्मात्मक अग्नि से यावत् धर्मात्मक धूम की उत्पत्ति सुदृढ प्रमाण से प्रतिपन्न है, तैसे ही धूम से तैसी ही अग्नि का अनुमान होता है । इस कहने से, साध्य साधन की विशेष रूप से व्याप्ति ग्रहण करने पर सब अनुमानों का उच्छेद होजावेगा, इत्यादि कथन का भी खण्डन हो गया।

तथा बिना बीज के बोये जो तृणादिक उत्पन्न होते हैं, तिन के साथ यह कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है। बहुत से कार्य देखने में आते हैं । उन में से कितनेक तो बुद्धिमान् के करे हुये दीखते हैं, जैसे घटादिक, और कितनेक इस से विपरीत दिखाई देते हैं, जैसे बिना बोये तृण आदिक। जेकर कहोगे कि हम सब को पक्ष में ही लेवेंगे, तब तो *"स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्" इत्यादि भी गमक होने चाहिये। तब तो कोई भी हेतु व्यभिचारी न होवेगा। जहां जहां व्यभिचार होवेगा, तहां तहां तिस को पक्ष में कर लेने से व्यभिचार दूर हो जावेगा । तथा इस हेतु का ईश्वर बुद्धि आदि

* वह श्याम होगा, उस (मित्रा) का पुत्र होने से, दूसरे पुत्र की भान्ति ।

है, क्योंकि दृश्य विशेष में ही कार्यत्व हेतु की प्रसिद्धि है। अदृश्य विशेष में नहीं। खरविषाण आधार वाले सामान्य की भांति ही तिस की तो स्वप्न में भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इस वास्ते जैसे कारण से जैसा कार्य उपलब्ध होता है, तैसा ही अनुमान करने योग्य है। यथा यावत् धर्मात्मक अग्नि से यावत् धर्मात्मक धूम की उत्पत्ति सुदृढ प्रमाण से प्रतिपन्न है, तैसे ही धूम से तैसी ही अग्नि का अनुमान होता है। इस कहने से, साध्य साधन की विशेष रूप से व्याप्ति ग्रहण करने पर सब अनुमानों का उच्छेद होजावेगा, इत्यादि कथन का भी खण्डन हो गया।

तथा बिना बीज के बोये जो तृणादिक उत्पन्न होते हैं, तिन के साथ यह कार्यत्व हेतु व्यभिचारी है। बहुत से कार्य देखने में आते हैं। उन में से कितनेक तो बुद्धिमान् के करे हुये दीखते हैं, जैसे घटादिक, और कितनेक इस से विपरीत दिखाई देते हैं, जैसे बिना बोये तृण आदिक। जेकर कहोगे कि हम सब को पक्ष में ही लेवेंगे, तब तो *"स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्" इत्यादि भी गमक होने चाहिये। तब तो कोई भी हेतु व्यभिचारी न होवेगा। जहां जहां व्यभिचार होवेगा, तहां तहां तिस क पक्ष में कर लेने से व्यभिचार दूर हो जावेगा। तथा इस हेतु का ईश्वर बुद्धि आदि

* वह श्याम होगा, उस (मित्रा) का पुत्र होने से, दूसरे पुत्र की भान्ति।

प्रतिवादीः—शरीर के अभाव से भी ज्ञान इच्छा और प्रयत्न के आश्रय से शरीर को उत्पन्न करके ईश्वर कर्त्ता हो सकता है।

सिद्धान्तीः—यह भी विना विचार ही का तुमारा कहना है। क्योंकि शरीर सम्बन्ध से ही सृष्टि रचने की प्रेरणा होसकती है। शरीर के अभाव होने पर मुक्त आत्मा की तरे तिस का संभव ही नहीं। तथा शरीर के अभाव से ज्ञानादि के आश्रयत्व का भी सम्भव नहीं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में शरीर निमित्त कारण है। अन्यथा मुक्तात्मा को भी तिस की उत्पत्ति होवेगी। तथा विद्यादि प्रभाव को अदृश्यपने में हेतु मानें तो कदाचित् यह दीखना भी चाहिये। क्योंकि विद्यावान् सदा अदृश्य नहीं रहते। पिशाचादिकों की तरे जाति विशेष भी अदृश्य होने में हेतु नहीं। क्योंकि ईश्वर एक है, एक में जाति नहीं होती है, जाति जो होती है, सो अनेक व्यक्तिनिष्ठ होती है। भले ही ईश्वर दृश्य, अथवा अदृश्य होवे, तो भी क्या सत्ता मात्र करके? वा ज्ञान करके? वा ज्ञान इच्छा और प्रयत्न करके? वा तत्पूर्व व्यापार करके? वा ऐश्वर्य करके, पृथिव्यादिकों का कारण है?

तहां आद्य पक्ष में कुलालादिकों को भी, सत्त्व के अविशेष होने से जगत्कर्तृत्व का अनुषंग होवेगा। दूसरे पक्ष में योगियों को भी जगत् कर्त्ता की आपत्ति होवेगी। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अशरीरी में ज्ञानादि के आश्रयत्व

प्रतिवादीः—शरीर के अभाव से भी ज्ञान इच्छा और प्रयत्न के आश्रय से शरीर को उत्पन्न करके ईश्वर कर्त्ता हो सकता है।

सिद्धान्तीः—यह भी विना विचार ही का तुमारा कहना है। क्योंकि शरीर सम्बन्ध से ही सृष्टि रचने की प्रेरणा होसकती है। शरीर के अभाव होने पर मुक्त आत्मा की तरे तिस का संभव ही नहीं। तथा शरीर के अभाव से ज्ञानादि के आश्रयत्व का भी सम्भव नहीं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में शरीर निमित्त कारण है। अन्यथा मुक्तात्मा को भी तिस की उत्पत्ति होवेगी। तथा विद्यादि प्रभाव को अदृश्यपने में हेतु मानें तो कदाचित् यह दीखना भी चाहिये। क्योंकि विद्यावान् सदा अदृश्य नहीं रहते। पिशाचादिकों की तरे जाति विशेष भी अदृश्य होने में हेतु नहीं। क्योंकि ईश्वर एक है, एक में जाति नहीं होती है, जाति जो होती है, सो अनेक व्यक्तिनिष्ठ होती है। भले ही ईश्वर दृश्य, अथवा अदृश्य होवे, तो भी क्या सत्ता मात्र करके? वा ज्ञान करके? वा ज्ञान इच्छा और प्रयत्न करके? वा तत्पूर्व व्यापार करके? वा ऐश्वर्य करके, पृथिव्यादिकों का कारण है?

तहां आद्य पक्ष में कुलालादिकों को भी, सत्त्व के अविशेष होने से जगत्कर्तृत्व का अनुषंग होवेगा। दूसरे पक्ष में योगियों को भी जगत् कर्त्ता की आपत्ति होवेगी। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अशरीरी में ज्ञानादि के आश्रयत्व

सिद्धान्तीः—तो फिर तिस का क्या पुरुषार्थ है? जब कर्म ही की अपेक्षा से कर्त्ता है, तब तो ईश्वर की कल्पना से क्या प्रयोजन है? कर्म ही के बल से सब कुछ हो जावेगा। तथा चौथे पांचमे विकल्प में ईश्वर रागी और द्वेषी हो जावेगा, तब तो ईश्वर क्योंकर सिद्ध होवेगा? तथाहि क्रीडा करने से बालवत् रागवान् ईश्वर है। तथा निग्रह अनुग्रह करने से भी राजा की तरें ईश्वर राग द्वेष वाला सिद्ध होगा।

जेकर कहो कि ईश्वर का स्वभाव ही जगत् रचने का है। तब तो जगत् को स्वभाव से ही हुआ माना। फिर ईश्वर की कल्पना काहे को करते हो? इस वास्ते कार्यत्व हेतु, बुद्धिमान् कर्त्ता—ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता। इस वास्ते नैयायिक, वैशेषिक जो जगत् का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, सो मूर्खता का सूचक है। विशेष करके जगत् कर्त्ता का खण्डन देखना होवे, तो सम्मतितर्क ग्रंथ में देखना।

सोलह पदार्थों की समीक्षा

अरु जो नैयायिकों ने सोलां पदार्थ माने हैं, सो भी बालकों की खेल है, क्योंकि सोलां पदार्थ घटते नहीं हैं। वे सोलां पदार्थ यह हैं:— १. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टांत, ६. सिद्धांत, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान।

१. हेयोपादेय रूप से जिस करके पदार्थों का परिच्छेद-

सिद्धान्तीः—तो फिर तिस का क्या पुरुषार्थ है? जब कर्म ही की अपेक्षा से कर्त्ता है, तब तो ईश्वर की कल्पना से क्या प्रयोजन है? कर्म ही के बल से सब कुछ हो जावेगा। तथा चौथे पांचमे विकल्प में ईश्वर रागी और द्वेषी हो जावेगा, तब तो ईश्वर क्योंकर सिद्ध होवेगा? तथाहि क्रीडा करने से बालवत् रागवान् ईश्वर है। तथा निग्रह अनुग्रह करने से भी राजा की तरें ईश्वर राग द्वेष वाला सिद्ध होगा।

जेकर कहो कि ईश्वर का स्वभाव ही जगत् रचने का है। तब तो जगत् को स्वभाव से ही हुआ माना। फिर ईश्वर की कल्पना काहे को करते हो? इस वास्ते कार्यत्व हेतु, बुद्धिमान् कर्त्ता—ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकता। इस वास्ते नैयायिक, वैशेषिक जो जगत् का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, सो मूर्खता का सूचक है। विशेष करके जगत् कर्त्ता का खण्डन देखना होवे, तो सम्मतितर्क ग्रंथ में देखना।

सोलह पदार्थों की समीक्षा

अरु जो नैयायिकों ने सोलां पदार्थ माने हैं, सो भी बालकों की खेल है, क्योंकि सोलां पदार्थ घटते नहीं हैं। वे सोलां पदार्थ यह हैं:— १. प्रमाण, २. प्रमेय, ३. संशय, ४. प्रयोजन, ५. दृष्टांत, ६. सिद्धांत, ७. अवयव, ८. तर्क, ९. निर्णय, १०. वाद, ११. जल्प, १२. वितण्डा, १३. हेत्वाभास, १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान।

१. हेयोपादेय रूप से जिस करके पदार्थों का परिच्छेद—

देख कर संसार के अन्य सभी आंब के वृक्ष फूले फले हुए हैं, ऐसा जानना, अथवा देवदत्तादिकों में गति पूर्वक, स्थान से स्थानांतर की प्राप्ति को देख कर सूर्य में भी गति का अनुमान करना, सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। परंतु तहां भी अन्यथानुपपत्ति ही गमक है, कारणादिक नहीं क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के विना कारण को कार्य के प्रति व्यभिचार होने से, इसी को गमक मानना चाहिये। अरु जहां अन्यथानुपपत्ति है, तहां कार्य कारणादिकों के विना भी गम्य-गमकभाव देखते हैं, जैसे कृत्तिका के देखने से रोहिणी का उदय होवेगा। तदुक्तं—

* अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

तथा एक और भी बात है, कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण ही नैयायिक का कहा प्रमाण न हुआ, तब प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान जो है, सो क्योंकर प्रमाण होवेगा? तथा "प्रसिद्ध साधर्म्यात्" अर्थात् प्रसिद्ध साधर्म्य से जो साध्य का साधन है, सो

---

* अन्यथानुपपन्नत्वम्—अविनाभावः। [प्र० मी० १-२-९]
जहां पर अविनाभाव है, वहां पर हेतु की त्रिविधरूपता की क्या आवश्यकता है? और जहां पर अविनाभाव नहीं, वहां पर भी हेतु-त्रैविध्य अनावश्यक है।

तात्पर्य कि जहां पर अविनाभाव है, वहां पर हेतु त्रैविध्य रहे या

देख कर संसार के अन्य सभी आंब के वृक्ष फूले फले हुए हैं, ऐसा जानना, अथवा देवदत्तादिकों में गति पूर्वक, स्थान से स्थानांतर की प्राप्ति को देख कर सूर्य में भी गति का अनुमान करना, सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। परंतु तहां भी अन्यथानुपपत्ति ही गमक है, कारणादिक नहीं क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के विना कारण को कार्य के प्रति व्यभिचार होने से, उसी को गमक मानना चाहिये। अरु जहां अन्यथानुपपत्ति है, तहां कार्य कारणादिकों के विना भी गम्य-गमकभाव देखते हैं, जैसे कृत्तिका के देखने से रोहिणी का उदय होवेगा। तदुक्तं—

*अन्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्॥

तथा एक और भी वात है, कि जब प्रत्यक्ष प्रमाण ही नैयायिक का कहा प्रमाण न हुआ, तब प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान जो है, सो क्योंकर प्रमाण होवेगा? तथा "प्रसिद्ध साधर्म्यात्" अर्थात् प्रसिद्ध साधर्म्य से जो साध्य का साधन है, सो

---

* अन्यथानुपपन्नत्वम्—अविनाभावः। [प्र० मी० १-२-९]

जहां पर अविनाभाव है, वहां पर हेतु की त्रिविधरूपता की क्या आवश्यकता है? और जहां पर अविनाभाव नहीं, वहां पर भी हेतु-त्रैविध्य अनावश्यक है।

तात्पर्य कि जहां पर अविनाभाव है, वहां पर हेतु त्रैविध्य रहे या

सिद्ध है, इस वास्ते हम को पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं।

२. तथा प्रमेय के भेद–१. आत्मा, २. शरीर, ३. इंद्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख, १२. अपवर्ग। तहां आत्मा सर्व का देखने वाला अरु भोक्ता है, अरु इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, ज्ञान, इन करके अनुमेय है। सो तो हम ने जीवतत्त्व में ग्रहण किया है। अरु शरीर जो है, सो आत्मा का भोगायतन है, इन्द्रिय भोगों के साधन हैं, अरु इन्द्रियार्थ भोग्य हैं। ये शरीरादिक भी जीवाजीव के ग्रहण से हमने ग्रहण करे हैं। अरु बुद्धि जो है, सो उपयोग रूप ज्ञान विशेष है, सो बुद्धि जीव के ग्रहण ही में आ गई, एतावता जीव तत्त्व में ही ग्रहण होगई। अरु मन सर्व विषय अंतःकरण है, युगपत् ज्ञान का न होना यह मन का लिंग है। तहां द्रव्यमन तो पौद्‌गलिक है, सो अजीव तत्त्व में ग्रहण किया है। अरु भावमन जो है सो ज्ञानरूप आत्मा का गुण है, सो जीव तत्त्व में ग्रहण किया है। अरु आत्मा की इच्छा का नाम प्रवृत्ति है, सो सुख दुःखों के होने में कारण है, ज्ञान रूप होने से यह जीव-तत्त्व में ग्रहण करी है। आत्मा के जो अध्यवसाय–राग, द्वेष, मोहादि, सो दोष हैं, यह दोष भी जीव के अभिप्राय रूप होने से जीवतत्त्वमें ही ग्रहण किये हैं, इसवास्ते पृथक् पदार्थ नहीं। प्रेत्य-भाव-परलोक का सद्भाव होना, सोभी जीवाजीव के बिना और कुछ नहीं है। तथा फल-सुख दुःख का भोगना, सोभी जीव

सिद्ध है, इस वास्ते हम को पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं।

२. तथा प्रमेय के भेद–१. आत्मा, २. शरीर, ३. इंद्रिय, ४. अर्थ, ५. बुद्धि, ६. मन, ७. प्रवृत्ति, ८. दोष, ९. प्रेत्यभाव, १०. फल, ११. दुःख, १२. अपवर्ग। तहां आत्मा सर्व का देखने वाला अरु भोक्ता है, अरु इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, ज्ञान, इन करके अनुमेय है। सो तो हम ने जीवतत्त्व में ग्रहण किया है। अरु शरीर जो है, सो आत्मा का भोगायतन है, इन्द्रिय भोगों के साधन हैं, अरु इन्द्रियार्थ भोग्य हैं। ये शरीरादिक भी जीवाजीव के ग्रहण से हमने ग्रहण करे हैं। अरु बुद्धि जो है, सो उपयोग रूप ज्ञान विशेष है, सो बुद्धि जीव के ग्रहण ही में आ गई, एतावता जीव तत्त्व में ही ग्रहण होगई। अरु मन सर्व विषय अंतःकरण है, युगपत् ज्ञान का न होना यह मन का लिंग है। तहां द्रव्यमन तो पौद्‌गलिक है, सो अजीव तत्त्व में ग्रहण किया है। अरु भावमन जो है सो ज्ञानरूप आत्मा का गुण है, सो जीव तत्त्व में ग्रहण किया है। अरु आत्मा की इच्छा का नाम प्रवृत्ति है, सो सुख दुःखों के होने में कारण है, ज्ञान रूप होने से यह जीव-तत्त्व में ग्रहण करी है। आत्मा के जो अध्यवसाय–राग, द्वेष, मोहादि, सो दोष हैं, यह दोष भी जीव के अभिप्राय रूप होने से जीवतत्त्वमें ही ग्रहण किये हैं, इसवास्ते पृथक् पदार्थ नहीं। प्रेत्य-भाव-परलोक का सद्भाव होना, सोभी जीवाजीव के विना और कुछ नहीं है। तथा फल-सुख दुःख का भोगना, सोभी जीव

शेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धांतः"—जैसे किसी ने कहा शब्द क्या वस्तु है ? कोई एक कहता है कि शब्द द्रव्य है, सो शब्द नित्य है ? वा अनित्य है ? इत्यादि विचार। यह चार प्रकार का सिद्धांत भी ज्ञान विशेष से अतिरिक्त नहीं है। अरु ज्ञानविशेष आत्मा का गुण है, जो गुणी के ग्रहण करने से ग्रहण किया जाता है। इस वास्ते पृथक् पदार्थ नहीं।

७. अथ अवयव–प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इन पांचों अवयवों को जेकर शब्दमात्र मानिये, तब तो पुद्गल रूप होने से अजीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं। जेकर ज्ञानरूप मानिये, तब तो जीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं। इस वास्ते पृथक् पदार्थ कहना ठीक नहीं। जेकर ज्ञान विशेष को पृथक् पदार्थ मानिये तब तो पदार्थ बहुत हो जावेंगे, क्योंकि ज्ञानविशेष अनेक प्रकार के हैं।

८. संशय के अनन्तर भवितव्यता प्रत्ययरूप जो पदार्थ पर्यालोचन, तिस को तर्क कहते हैं। जैसे कि, यह स्थाणु अथवा पुरुष ज़रूर होगा। यह भी ज्ञान विशेष ही है। ज्ञानविशेष जो है, सो ज्ञाता से अभिन्न है, इस वास्ते पृथक् पदार्थ कल्पना ठीक नहीं।

९. संशय और तर्क सेती उत्तर काल भावी निश्चयात्मक जो ज्ञान, तिस का नाम निर्णय है। यह भी ज्ञानविशेष है, अरु निश्चयरूप होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अंतर्भूत होने से पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं।

शेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धांतः"—जैसे किसी ने कहा शब्द क्या वस्तु है ? कोई एक कहता है कि शब्द द्रव्य है, सो शब्द नित्य है ? वा अनित्य है ? इत्यादि विचार। यह चार प्रकार का सिद्धांत भी ज्ञान विशेष से अतिरिक्त नहीं है। अरु ज्ञानविशेष आत्मा का गुण है, जो गुणी के ग्रहण करने से ग्रहण किया जाता है। इस वास्ते पृथक् पदार्थ नहीं।

७. अथ अवयव—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इन पांचों अवयवों को जेकर शब्दमात्र मानिये, तब तो पुद्गल रूप होने से अजीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं। जेकर ज्ञानरूप मानिये, तब तो जीव तत्त्व में ग्रहण किये जा सकते हैं। इस वास्ते पृथक् पदार्थ कहना ठीक नहीं। जेकर ज्ञान विशेष को पृथक् पदार्थ मानिये तब तो पदार्थ बहुत हो जावेंगे, क्योंकि ज्ञानविशेष अनेक प्रकार के हैं।

८. संशय के अनन्तर भवितव्यता प्रत्ययरूप जो पदार्थ पर्यालोचन, तिस को तर्क कहते हैं। जैसे कि, यह स्थाणु अथवा पुरुष ज़रूर होगा। यह भी ज्ञान विशेष ही है। ज्ञानविशेष जो है, सो ज्ञाता से अभिन्न है, इस वास्ते पृथक् पदार्थ कल्पना ठीक नहीं।

९. संशय और तर्क सेती उत्तर काल भावी निश्चयात्मक जो ज्ञान, तिस का नाम निर्णय है। यह भी ज्ञानविशेष है, अरु निश्चयरूप होने से प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अंतर्भूत होने से पृथक् पदार्थ मानना ठीक नहीं।

भास हैं। हेतु तो नहीं, परन्तु हेतु की तरें भासमान होते हैं, इस वास्ते इन को हेत्वाभास कहते हैं। जब सम्यक् हेतुओं की ही तत्त्वव्यवस्थिति नहीं, तो हेत्वाभासों का तो कहना ही क्या है? क्योंकि जो नियत स्वरूप करके रहे, सो वस्तु है। परंतु हेतु तो एक साध्य वस्तु में हेतु है, और दूसरे साध्य में अहेतु है, इस वास्ते नियत स्वरूप वाला नहीं।

तथा १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान, यह तीनों पदार्थ नहीं हैं; क्योंकि यह तीनों ही वास्तव में कपट रूप हैं। जिनों ने इनको तत्त्व रूप से कथन किया है, उन के ज्ञान, वैराग्य का तो कहना ही क्या है? तब तो इस संसार में जो चोरी, ठगी, और हाथ फेरी आदि सिखावे, तिस को भी तत्त्वज्ञान का उपदेशक मानना चाहिये। यह नैयायिक मत के सोलां पदार्थों का स्वरूप तथा खण्डन संक्षेप से बतला दिया। जे कर विशेष देखना होवे, तो न्यायकुमुदचन्द्र और सूत्रकृतांग सिद्धांत का बारहवां अध्ययन देख लेना।

अथ वैशेषिक मत का खण्डन लिखते हैं। वैशेषिकों के कहे हुये तत्त्व भी तत्त्व नहीं हैं। वैशेषिक मत में

छः पदार्थों की समीक्षा

१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य ५. विशेष, ६. समवाय, यह छै तत्त्व माने हैं।

तहां १. पृथिवी, २. अप्, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिक्, ८. आत्मा, ९. मन, यह नव द्रव्य हैं। परन्तु तिन में पृथिवी, [illegible]ज, और वायु, इन

भास हैं। हेतु तो नहीं, परन्तु हेतु की तरें भासमान होते हैं, इस वास्ते इन को हेत्वाभास कहते हैं। जब सम्यक् हेतुओं की ही तत्त्वव्यवस्थिति नहीं, तो हेत्वाभासों का तो कहना ही क्या है ? क्योंकि जो नियत स्वरूप करके रहे, सो वस्तु है। परंतु हेतु तो एक साध्य वस्तु में हेतु है, और दूसरे साध्य में अहेतु है, इस वास्ते नियत स्वरूप वाला नहीं।

तथा १४. छल, १५. जाति, १६. निग्रहस्थान, यह तीनों पदार्थ नहीं हैं; क्योंकि यह तीनों ही वास्तव में कपट रूप हैं। जिनों ने इनको तत्त्व रूप से कथन किया है, उन के ज्ञान, वैराग्य का तो कहना ही क्या है ? तब तो इस संसार में जो चोरी, ठगीं, और हाथ फेरी आदि सिखावे, तिस को भी तत्त्वज्ञान का उपदेशक मानना चाहिये। यह नैयायिक मत के सोलां पदार्थों का स्वरूप तथा खण्डन संक्षेप से बतला दिया। जे कर विशेष देखना होवे, तो न्यायकुमुदचन्द्र और सूत्रकृतांग सिद्धांत का बारहवां अध्ययन देख लेना।

अथ वैशेषिक मत का खण्डन लिखते हैं। वैशेषिकों के कहे हुये तत्त्व भी तत्त्व नहीं हैं। वैशेषिक मत में

छः पदार्थों की समीक्षा

१. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य ५. विशेष, ६. समवाय, यह छै तत्त्व माने हैं। तहां १. पृथिवी, २. अप्, ३. तेज, ४. वायु, ५. आकाश, ६. काल, ७. दिक्, ८. आत्मा, ९. मन, यह नव द्रव्य हैं। परन्तु तिन में पृथिवी, ...ज, और वायु, इन

भावार्थः—घट और मृत्तिका का अन्वय—अभेद नहीं है, क्योंकि पृथु, बुध्न, उदराकारादिकों करके इस का भेद है, तथा अन्वयवर्ती होने से घट का मृत्तिका से भेद भी नहीं है, एतावता घट मृत्तिका रूप ही है। तब अन्वय व्यतिरेक इन दोनों के मिलने से घड़ा जो है, सो जात्यंतर रूप है, एतावता मृत्तिका से कथंचित् भेदाभेद रूप है। सिंह रूप होने से नर नहीं है, अरु नररूप होने से सिंह भी नहीं है, तब तो शब्द; विज्ञान, और कार्य के भेद होने से नरसिंह जो है, सो तीसरी जाति है।

२. अथ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, इन की प्रवृत्ति रूपी द्रव्य में है, अरु ये विशेष गुण हैं। तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, ये सामान्य गुण हैं। इन की सर्व द्रव्य में वृत्ति है। तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, ये आत्मा के गुण हैं। तथा गुरुत्व पृथिवी और जल में है। द्रवत्व पृथिवी, जल अरु अग्नि में है। स्नेह जल में ही है। वेग नाम का संस्कार मूर्त्त द्रव्यों में है। अरु शब्द आकाश का गुण है। परन्तु तिन में संख्यादिक जो सामान्य गुण हैं। वे रूपादिवत् द्रव्यस्वभाव होने करके परोपाधि से गुण ही नहीं हैं। क्योंकि जब गुण, द्रव्य से पृथक् हो जावेंगे, तब द्रव्य के स्वरूप की हानि हो जावेगी। *"गुणपर्यायवद्द्रव्यम्"—इस कहने

* तत्वा०-अ०, ५ सू० ३७। द्रव्य, गुण और पर्याय वाला है।

भावार्थः—घट और मृत्तिका का अन्वय—अभेद नहीं है, क्योंकि पृथु, बुध्न, उदराकारादिकों करके इस का भेद है, तथा अन्वयवर्ती होने से घट का मृत्तिका से भेद भी नहीं है, एतावता घट मृत्तिका रूप ही है। तब अन्वय व्यतिरेक इन दोनों के मिलने से घड़ा जो है, सो जात्यंतर रूप है, एतावता मृत्तिका से कथंचित् भेदाभेद रूप है। सिंह रूप होने से नर नहीं है, अरु नररूप होने से सिंह भी नहीं है, तब तो शब्द; विज्ञान, और कार्य के भेद होने से नरसिंह जो है, सो तीसरी जाति है।

२. अथ रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, इन की प्रवृत्ति रूपी द्रव्य में है, अरु ये विशेष गुण हैं। तथा संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, ये सामान्य गुण हैं। इन की सर्व द्रव्य में वृत्ति है। तथा बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, ये आत्मा के गुण हैं। तथा गुरुत्व पृथिवी और जल में है। द्रवत्व पृथिवी, जल अरु अग्नि में है। स्नेह जल में ही है। वेग नाम का संस्कार मूर्त्त द्रव्यों में है। अरु शब्द आकाश का गुण है। परन्तु तिन में संख्यादिक जो सामान्य गुण हैं। वे रूपादिवत् द्रव्यस्वभाव होने करके परोपाधि से गुण ही नहीं हैं। क्योंकि जब गुण, द्रव्य से पृथक् हो जावेंगे, तब द्रव्य के स्वरूप की हानि हो जावेगी। *"गुणपर्यायवद्द्रव्यम्"—इस कहने

* तत्वा० अ०, ५ सू० ३७। द्रव्य, गुण और पर्याय वाला है।

बात है, कि द्रव्यादिक जो हैं, सो क्या सत्ता के योग होने से सत् कहे जाते हैं? अथवा सत्ता के सम्बन्ध विना ही सत् स्वरूप हैं? जेकर कहोगे कि स्वतः ही सत् स्वरूप हैं, तब तो सत्ता की कल्पना करनी व्यर्थ है। जेकर कहोगे कि सत्ता के योग से सत् है, तब तो शशविषाण भी सत्ता के योग से सत् होना चाहिये। तथा चोक्तम्ः—

स्वतोऽर्थाः संतु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मनाम्
असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथातिप्रसंगतः ॥

[सू० कृ०, श्रु० १ अ० १२ की टीका में संगृहीत]

यही दूषण तुल्य योग क्षेम होने से अपर सामान्य में भी समझ लेने। तथा सामान्य विशेष रूप होने से वस्तु को कथंचित् सामान्यरूप हम भी मानते हैं। इस वास्ते द्रव्य के ग्रहण करने से सामान्य का भी ग्रहण होगया। अतः सामान्य जो है, सो द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं है।

५. अथ विशेष जो हैं, सो अत्यंत व्यावृत्त बुद्धि के हेतु होने करके वैशेषिकों ने माने हैं। तहां यह विचार करते हैं, कि तिन विशेषों में जो विशेष बुद्धि है, सो क्या अपर विशेषों करके है? वा स्वतः ही—स्वरूप करके है? अपर विशेषहेतुक तो हो नहीं सकती, क्योंकि अनवस्था दोष आता है, तथा विशेष में विशेष का अंगीकार नहीं है। जेकर कहोगे कि स्वतः ही विशेष बुद्धि के हेतु हैं, तब तो द्रव्यादिक भी स्वतः ही

बात है, कि द्रव्यादिक जो हैं, सो क्या सत्ता के योग होने से सत् कहे जाते हैं? अथवा सत्ता के सम्बन्ध विना ही सत् स्वरूप हैं? जेकर कहोगे कि स्वतः ही सत् स्वरूप हैं, तब तो सत्ता की कल्पना करनी व्यर्थ है। जेकर कहोगे कि सत्ता के योग से सत् है, तब तो शशविषाण भी सत्ता के योग से सत् होना चाहिये। तथा चोक्तम्:—

स्वतोऽर्थाः संतु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मनाम्।
असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथातिप्रसंगतः॥
[सू० कृ०, श्रु० १ अ० १२ की टीका में संगृहीत]

यही दूषण तुल्य योग क्षेम होने से अपर सामान्य में भी समझ लेने। तथा सामान्य विशेष रूप होने से वस्तु को कथंचित् सामान्यरूप हम भी मानते हैं। इस वास्ते द्रव्य के ग्रहण करने से सामान्य का भी ग्रहण होगया। अतः सामान्य जो है, सो द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं है।

५. अथ विशेष जो हैं, सो अंत्यंत व्यावृत्त बुद्धि के हेतु होने करके वैशेषिकों ने माने हैं। तहां यह विचार करते हैं, कि तिन विशेषों में जो विशेष बुद्धि है, सो क्या अपर विशेषों करके है? वा स्वतः ही—स्वरूप करके है? अपर विशेषहेतुक तो हो नहीं सकती, क्योंकि अनवस्था दोष आता है, तथा विशेष में विशेष का अंगीकार नहीं है। जेकर कहोगे कि स्वतः ही विशेष बुद्धि के हेतु हैं, तब तो द्रव्यादिक भी स्वतः ही

सम्यक्-आप्तोक्त नहीं है। तथा नैयायिक और वैशेषिक मत में जो *मोक्ष मानी है, सो भी प्रेक्षावानों—बुद्धिमानों को मानने योग्य नहीं है। क्योंकि ये लोग जब आत्मा ज्ञान से रहित होवे, एतावता जडरूप हो जावे, तब उस आत्मा की मोक्ष मानते हैं। ऐसी मोक्ष को कौन बुद्धिमान् उपादेय कहेगा? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो सर्व सुख और ज्ञान से रहित पाषाण तुल्य अपनी आत्मा को करना चाहे? इसी वास्ते किसी ने वैशेषिकों का उपहास भी करा है:—

‡ वरं वृंदावने रम्ये, क्रोष्टृत्वमभिवांछितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गंतुमिच्छति॥

[स्या० मं०, (श्लो० ८) में संगृहति]

---

* न्याय मत में आत्यन्तिक दुःखध्वंसरूप मोक्षमानी है। वैशेषिक मत में भी आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आदि गुणों के आत्यन्तिक विनाश को हीं मोक्ष कहा है। इस लिये न्याय और वैशेषिक मत में मोक्ष को ज्ञान और आनन्द स्वरूप अंगीकार नहीं किया। किन्तु उन के सिद्धान्त में यावद् दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही अपवर्ग—मोक्ष है। यथा:—

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः"। [न्या० द०, १-१-२२]

इस से सिद्ध है, कि मोक्ष दशा में आत्मा ज्ञान से शून्य और अपने जडस्वरूप में स्थित रहता है।

‡ यह गौतम नाम के किसी विद्वान् विशेष की उक्ति है। वह

सम्यक्-आप्तोक्त नहीं है। तथा नैयायिक और वैशेषिक मत में जो *मोक्ष मानी है, सो भी प्रेक्षावानों—बुद्धिमानों को मानने योग्य नहीं है। क्योंकि ये लोग जब आत्मा ज्ञान से रहित होवे, एतावता जडरूप हो जावे, तब उस आत्मा की मोक्ष मानते हैं। ऐसी मोक्ष को कौन बुद्धिमान् उपादेय कहेगा? क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् है, जो सर्व सुख और ज्ञान से रहित पाषाण तुल्य अपनी आत्मा को करना चाहे? इसी वास्ते किसी ने वैशेषिकों का उपहास भी करा है:—

‡ वरं वृंदावने रम्ये, क्रोष्टृत्वमभिवांछितम्।
न तु वैशेषिकीं मुक्तिं, गौतमो गंतुमिच्छति॥

[स्या० मं०, (श्लो० ८) में संगृहति]

---

* न्याय मत में आत्यन्तिक दुःखध्वंसरूप मोक्षमानी है। वैशेषिक मत में भी आत्मा के बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आदि गुणों के आत्यन्तिक विनाश को हीं मोक्ष कहा है। इस लिये न्याय और वैशेषिक मत में मोक्ष को ज्ञान और आनन्द स्वरूप अंगीकार नहीं किया। किन्तु उन के सिद्धान्त में यावद् दुःखों का आत्यन्तिक विनाश ही अपवर्ग—मोक्ष है। यथा:—

"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः"। [न्या० द०, १–१–२२]

इस से सिद्ध है, कि मोक्ष दशा में आत्मा ज्ञान से शून्य और अपने जडस्वरूप में स्थित रहता है।

‡ यह गौतम नाम के किसी विद्वान् विशेष की उक्ति है। वह

क्योंकि प्रकृति के विना और कोई वस्तु तो सांख्य मानते नहीं हैं। तथा आत्मा को अकर्त्ता—अकिंचित्कर मानते हैं। जेकर प्रकृति में स्वभाव से वैषम्य मानोगे, तब निर्हेतुकता होवेगी, अर्थात् या तो पदार्थों में सत्त्व ही होगा और या असत्त्व ही रहेगा। क्योंकि जो कार्य कभी होवे, अरु कभी न होवे, वो हेतु के विना नहीं हो सकता है, अरु जो खरशृंगादि नित्य असत् हैं, तथा आकाशादि नित्य सत् हैं, सो तो किसी हेतु से होते नहीं हैं। तथाः—

> नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
> अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥
>
> [सू० कृ०, श्रु० १ अ० १२ की टीका में उद्धृत]

तथा स्वभाव प्रकृति से भिन्न है? वा अभिन्न है? भिन्न तो नहीं, क्योंकि प्रकृति विना सांख्यों ने अपर कोई वस्तु मानी नहीं है, जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तब तो प्रकृति ही है, "न तु स्वभावः"—स्वभाव नहीं है।

तथा एक और भी बात है कि महत् अरु अहंकार को हम ज्ञान से भिन्न नहीं देखते, क्योंकि बुद्धि जो है सो अध्यवसायमात्र है, अरु अहंकार जो है, सो अहं सुखी, अहं दुःखी इस स्वरूप वाला है, तब ये दोनों चिद्रूप होने से आत्मा के ही गुण विशेष हैं, किन्तु जड़ रूप प्रकृति के विकार नहीं हैं।

क्योंकि प्रकृति के विना और कोई वस्तु तो सांख्य मानते नहीं हैं। तथा आत्मा को अकर्त्ता—अकिंचित्कर मानते हैं। जेकर प्रकृति में स्वभाव से वैषम्य मानोगे, तव निर्हेतु-कता होवेगी, अर्थात् या तो पदार्थों में सत्त्व ही होगा और या असत्त्व ही रहेगा। क्योंकि जो कार्य कभी होवे, अरु कभी न होवे, वो हेतु के विना नहीं हो सकता है, अरु जो खरशृंगादि नित्य असत् हैं, तथा आकाशादि नित्य सत् हैं, सो तो किसी हेतु से होते नहीं हैं। तथाः—

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः॥

[सू० कृ०, श्रु० १ अ० १२ की टीका में उद्धृत]

तथा स्वभाव प्रकृति से भिन्न है? वा अभिन्न है? भिन्न तो नहीं, क्योंकि प्रकृति विना सांख्यों ने अपर कोई वस्तु मानी नहीं है, जेकर कहोगे कि अभिन्न है, तव तो प्रकृति ही है, "न तु स्वभावः"—स्वभाव नहीं है।

तथा एक और भी बात है कि महत् अरु अहंकार को हम ज्ञान से भिन्न नहीं देखते, क्योंकि बुद्धि जो है सो अध्य-वसायमात्र है, अरु अहंकार जो है, सो अहं सुखी, अहं दुःखी इस स्वरूप वाला है, तव ये दोनों चिद्रूप होने से आत्मा के ही गुण विशेष हैं, किन्तु जड़ रूप प्रकृति के विकार नहीं हैं।

तो कृतनाश अरु अकृताभ्यागम दूषण होंगे, अरु बन्ध मोक्ष का भी अभाव होगा, एवं निर्गुण होने से आत्मा ज्ञान शून्य हो जावेगी। इस वास्ते यह सर्व पूर्वोक्त बालप्रलापमात्र है।

अब सांख्यमत के मोक्ष का विचार करते हैं, "प्रकृति-पुरुषांतरपरिज्ञानात् मुक्तिः" अर्थात् प्रकृति पुरुष से अन्य है, ऐसा जब ज्ञान होता है, तब मुक्ति होती है। यथा—

शुद्धचैतन्यरूपोऽयं, पुरुषः पुरुषार्थतः।
प्रकृत्यंतरमज्ञात्वा, मोहात्संसारमाश्रितः॥

[षड्० स०, श्लो० ४३ की वृ० वृ० में संगृहीत]

भावार्थः—पुरुष जो है, सो परमार्थ से शुद्ध चैतन्यरूप है, अपने आपको प्रकृति से एकमेक–अभिन्न समझता है, यही मोह है, इस मोह से ही संसार के आश्रित हो रहा है। अतः सुख दुःख स्वभावरूप प्रकृति को विवेक ज्ञान के द्वारा जब तक अपने से अलग नहीं समझेगा तब तक मुक्ति नहीं। इस वास्ते विवेक ख्यातिरूप केवल ज्ञान के उदय होने से मुक्ति होती है। परन्तु यह भी असत् है, क्योंकि आत्मा एकांत नित्य है, अरु सुखादि जो हैं, सो उत्पाद व्यय स्वभाव वाले हैं। तब तो विरुद्ध धर्म के संसर्ग से आत्मा-से प्रकृति का भेद प्रतीत ही है। तो फिर मुक्ति क्यों नहीं? संसारी पुरुष यही तो विचार नहीं करता, इसी वास्ते उस की मुक्ति नहीं। तब तो तुमारे कहने से कदापि

तो कृतनाश अरु अकृताभ्यागम दूषण होंगे, अरु बन्ध मोक्ष का भी अभाव होगा, एवं निर्गुण होने से आत्मा ज्ञान शून्य हो जावेगी। इस वास्ते यह सर्व पूर्वोक्त बालप्रलापमात्र है।

अब सांख्यमत के मोक्ष का विचार करते हैं, "प्रकृति-पुरुषांतरपरिज्ञानात् मुक्तिः" अर्थात् प्रकृति पुरुष से अन्य है, ऐसा जब ज्ञान होता है, तब मुक्ति होती है। यथा—

शुद्धचैतन्यरूपोऽयं, पुरुषः पुरुषार्थतः।
प्रकृत्यंतरमज्ञात्वा, मोहात्संसारमाश्रितः॥

[षड्० स०, श्लो० ४३ की बृ० वृ० में संगृहीत]

भावार्थः—पुरुष जो है, सो परमार्थ से शुद्ध चैतन्यरूप है, अपने आपको प्रकृति से एकमेक–अभिन्न समझता है, यही मोह है, इस मोह से ही संसार के आश्रित हो रहा है। अतः सुख दुःख स्वभावरूप प्रकृति को विवेक ज्ञान के द्वारा जब तक अपने से अलग नहीं समझेगा तब तक मुक्ति नहीं। इस वास्ते विवेक ख्यातिरूप केवल ज्ञान के उदय होने से मुक्ति होती है। परन्तु यह भी असत् है, क्योंकि आत्मा एकांत नित्य है, अरु सुखादि जो हैं, सो उत्पाद व्यय स्वभाव वाले हैं। तब तो विरुद्ध धर्म के संसर्ग से आत्मा से प्रकृति का भेद प्रतीत ही है। तो फिर मुक्ति क्यों नहीं? संसारी पुरुष यही तो विचार नहीं करता, इसी वास्ते उस की मुक्ति नहीं। तब तो तुमारे कहने से कदापि

अभिलाषा है। सो भी असत् है, क्योंकि वासना भी प्रकृति का विकार होने करके प्रकृति के पहिले नहीं थी। जेकर कहोगे कि वासना जो है, सो आत्मा का स्वरूप है, तब तो आत्मस्वरूपवत् वासना का कदापि अभाव नहीं होवेगा, अरु मोक्ष भी कदापि नहीं होवेगा। तब तो सांख्य का मत भी बालकों का खेल जैसा हो जायगा।

अथ मीमांसक मत का खण्डन लिखते हैं। इस मत का स्वरूप ऊपर लिख आये हैं। अरु वेदांतियों के ब्रह्म—अद्वैत का खण्डन भी ईश्वरवाद में अच्छी तरे से कर चुके हैं, इस वास्ते यहां नहीं लिखा।

अथ जैमिनीय मत का खण्डन लिखते हैं। जैमिनीय ऐसे कहते हैं, कि जो *"हिंसा गार्ध्यात्०"— अर्थात् इन्द्रियों के रस वास्ते अथवा कुव्यसन से कीजाय सोई हिंसा अधर्म का हेतु है; क्योंकि शौनिक लुब्धकादिकों की तरें, वो प्रमाद से की जाती है। अरु वेदों में जो हिंसा कही है, सो हिंसा नहीं है; किंतु देवता, अतिथि और पितरों के प्रति प्रीतिसंपादक होने से तथाविध पूजा उपचार की भांति धर्म का हेतु है। अरु यह प्रीतिसम्पादकत्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि कारीरी

वेदविहित हिंसा

* या हिंसा गार्द्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुबन्धहेतुः प्रमादसम्पादितत्वात् शौनिकलुब्धकादीनामिव, इत्यादि।

[स्या० मं०, श्लो० ११]

अभिलाषा है। सो भी असत् है, क्योंकि वासना भी प्रकृति का विकार होने करके प्रकृति के पहिले नहीं थी। जेकर कहोगे कि वासना जो है, सो आत्मा का स्वरूप है, तव तो आत्मस्वरूपवत् वासना का कदापि अभाव नहीं होवेगा, अरु मोक्ष भी कदापि नहीं होवेगा। तव तो सांख्य का मत भी वालकों का खेल जैसा हो जायगा।

अथ मीमांसक मत का खण्डन लिखते हैं। इस मत का स्वरूप ऊपर लिख आये हैं। अरु वेदांतियों के ब्रह्म—अद्वैत का खण्डन भी ईश्वरवाद में अच्छी तरे से कर चुके हैं, इस वास्ते यहां नहीं लिखा।

अथ जैमिनीय मत का खण्डन लिखते हैं। जैमिनीय ऐसे कहते हैं, कि जो * "हिंसा गार्ध्यात्०"—

वेदविहित हिंसा

अर्थात् इन्द्रियों के रस वास्ते अथवा कुव्यसन से कीजाय सोई हिंसा अधर्म का हेतु है; क्योंकि शौनिक लुब्धकादिकों की तरें, वो प्रमाद से की जाती है। अरु वेदों में जो हिंसा कही है, सो हिंसा नहीं है; किंतु देवता, अतिथि और पितरों के प्रति प्रीतिसंपादक होने से तथाविध पूजा उपचार की भांति धर्म का हेतु है। अरु यह प्रीतिसम्पादकत्व असिद्ध नहीं है, क्योंकि कारीरी

* या हिंसा गार्द्ध्याद् व्यसनितया वा क्रियते सैवाधर्मानुबन्धहेतुः प्रमादसम्पादितत्वात्, शौनिकलुब्धकादीनामिव, इत्यादि।

[स्या० मं०, श्लो० ११]

दशमासांस्तु तृप्यंति, वराहमहिषामिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन, मासानेकादशैव तु ॥
संवत्सरं तु गव्येन, पयसा पायसेन च ।
वाध्रीणसस्य मांसेन, तृप्ति र्द्वादशवार्षिकी ॥

[म० स्मृ०, अ० ३ श्लो० २६८-२७१]

भावार्थः—जेकर पितरों को मत्स्य का मांस देवे, तो पितर दो मास लग तृप्त रहते हैं । जेकर हरिण का मांस पितरों को देवे, तो पितर तीन मास लग तृप्त रहते हैं। जेकर मींढे का मांस पितरों को देवे, तव चार मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर जंगली कुक्कड़ का मांस पितरों को देवे, तो पितर पांच मास तक तृप्त रहते हैं। जेकर बकरे का मांस देवे, तो पितर छमास लग तृप्त रहते हैं । जेकर पृषत—विंदु करके युक्त जो हरिण, उस को पार्षत कहते हैं, तिस का मांस जो पितरों को देवे, तो पितर सात मास लग तृप्त रहते हैं। जेकर एण मृग का मांस देवे, तो आठ मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर सूअर अरु महिष का मांस देवे, तो दश मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर शश अरु कच्छु, इन दोनों का मांस देवे, तो ग्यारह मास लग पितर तृप्त रहते हैं। जेकर गौ का दूध अथवा खीर देवे, तो वारह मास लग पितर तृप्त रहते हैं, तथा वाध्रीण—जो अति बूढ़ा बकरा होवे, तिस का मांस देवे, तो बार वर्ष लग पितर तृप्त

दशमासांस्तु तृप्यंति, वराहमहिपाभिषैः ।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन, मासानेकादशैव तु ॥
संवत्सरं तु गव्येन, पयसा पायसेन च ।
वाध्रीणसस्य मांसेन, तृप्ति र्द्वादशवार्षिकी ॥
[म० स्मृ०, अ० ३ श्लो० २६८–२७१]

भावार्थः—जेकर पितरों को मत्स्य का मांस देवे, तो पितर दो मास लग तृप्त रहते हैं । जेकर हरिण का मांस पितरों को देवे, तो पितर तीन मास लग तृप्त रहते हैं । जेकर मींढे का मांस पितरों को देवे, तब चार मास लग पितर तृप्त रहते हैं । जेकर जंगली कुक्कड़ का मांस पितरों को देवे, तो पितर पांच मास तक तृप्त रहते हैं । जेकर बकरे का मांस देवे, तो पितर छमास लग तृप्त रहते हैं । जेकर पृषत—विंदु करके युक्त जो हरिण, उस को पार्षत कहते हैं, तिस का मांस जो पितरों को देवे, तो पितर सात मास लग तृप्त रहते हैं । जेकर एण मृग का मांस देवे, तो आठ मास लग पितर तृप्त रहते हैं । जेकर सूअर अरु महिष का मांस देवे, तो दश मास लग पितर तृप्त रहते हैं । जेकर शश अरु कच्छु, इन दोनों का मांस देवे, तो ग्यारह मास लग पितर तृप्त रहते हैं । जेकर गौ का दूध अथवा खीर देवे, तो बारह मास लग पितर तृप्त रहते हैं, तथा वाध्रीण—जो अति बूढ़ा बकरा होवे, तिस का मांस देवे, तो बार वर्ष लग पितर तृप्त

तप, दान, और अध्ययन आदिक भी धर्म के कारण हैं।

प्रतिवादीः—हम सामान्य हिंसा को धर्म नहीं कहते, किंतु विशिष्ट हिंसा को धर्म कहते हैं। सो विशिष्ट हिंसा वोही है, जो वेदों में करनी कही है।

सिद्धांतीः—जे कर वेद की हिंसा धर्म का हेतु है, तो क्या जो जीव यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मरते नहीं हैं, इस वास्ते धर्म है? अथवा उन के आर्त्तध्यान का अभाव है, इस वास्ते धर्म है? अथवा जो यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मर के स्वर्ग को जाते हैं, इस वास्ते धर्म है? इस में आद्य पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि प्राण त्यागते हुए तो वो जी प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। तथा दूसरा पक्ष भी असत् है, क्योंकि दूसरे के मन का ध्यान दुर्लक्ष है, इस वास्ते आर्त्तध्यान का अभाव कहना, यह भी परमार्थ शून्य वचन-मात्र है। आर्त्तध्यान का अभाव तो क्या होना था। वल्कि, हा! हम बड़े दुःखी हैं! है कोई करुणारस भरा दयालु जो हम को इस घोर यातना से छुड़ावे! इस प्रकार अपनी भाषा में हृदय द्रावक आक्रन्दन करते हुए मूक प्राणियों के मुख की दीनता और नेत्रों की सरलता आदि के देखने से स्पष्ट उन विचारों के आर्त्तध्यान की उपलब्धि होती है।

प्रतिवादीः—जैसे लोहे का गोला पानी में डूबने वाला भी है, तोभी तिस के सूक्ष्म पत्र कर दिये जायं तो जल के ऊपर तरेंगे, डूबेंगे नहीं। तथा विष जो है सो मारने वाला

तप, दान, और अध्ययन आदिक भी धर्म के कारण हैं।

प्रतिवादीः—हम सामान्य हिंसा को धर्म नहीं कहते, किंतु विशिष्ट हिंसा को धर्म कहते हैं। सो विशिष्ट हिंसा वोही है, जो वेदों में करनी कही है।

सिद्धांतीः—जे कर वेद की हिंसा धर्म का हेतु है, तो क्या जो जीव यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मरते नहीं हैं, इस वास्ते धर्म है? अथवा उन के आर्त्तध्यान का अभाव है, इस वास्ते धर्म है? अथवा जो यज्ञादिकों में मारे जाते हैं, वो मर के स्वर्ग को जाते हैं, इस वास्ते धर्म है? इस में आद्य पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि प्राण त्यागते हुए तो वो जी प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। तथा दूसरा पक्ष भी असत् है, क्योंकि दूसरे के मन का ध्यान दुर्लक्ष है, इस वास्ते आर्त्तध्यान का अभाव कहना, यह भी परमार्थ शून्य वचन-मात्र है। आर्त्तध्यान का अभाव तो क्या होना था। बल्कि, हा! हम बड़े दुःखी हैं! है कोई करुणारस भरा दयालु जो हम को इस घोर यातना से छुड़ावे! इस प्रकार अपनी भाषा में हृदय द्रावक आक्रन्दन करते हुए मूक प्राणियों के मुख की दीनता और नेत्रों की सरलता आदि के देखने से स्पष्ट उन विचारों के आर्त्तध्यान की उपलब्धि होती है।

प्रतिवादीः—जैसे लोहे का गोला पानी में डूबने वाला भी है, तोभी तिस के सूक्ष्म पत्र कर दिये जायं तो जल के ऊपर तरेंगे, डूबेंगे नहीं। तथा विष जो है सो मारने वाला

मान वस्तु का ही ग्राहक है—"*संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेति वचनात्" । अरु अनुमान भी नहीं है, क्योंकि यहां पर तत्प्रतिबद्ध लिंग [अनुमान का साधक हेतु] कोई भी नहीं दीखता है। अरु आगम प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि आगम तो विवादास्पद—झगड़े का घर है, जो कि आज तक सिद्ध नहीं हुआ है। तथा अर्थापत्ति अरु उपमान यह दोनों अनुमान के ही अंतर्गत हैं। तो अनुमान के खण्डन से यह भी दोनों खण्डित हो गये।

जिनमन्दिर की स्थापना

प्रतिवादीः—जैसे तुम जिनमंदिर बनाते हुये पृथिवीकायादि जीवों की हिंसा को विशेष करके पुण्य का हेतु कल्पते हो। ऐसे हम भी यज्ञ में जो हिंसा करते हैं, सो पुण्य के वास्ते है। क्योंकि वेदोक्त विधि-विधान में भी परिणाम विशेष के होने से पुण्य ही होता है।

सिद्धांतीः—परिणाम विशेष वे ही पुण्य का कारण होते हैं, जहां और कोई उपाय न होवे, अरु यत्न से प्रवृत्ति होवे। ऐसी प्रवृत्ति जिनमंदिर में हो सकती है, क्योंकि श्रीभगवान् की प्रतिमा जिनमंदिर के विना रहती नहीं। जहां पर प्रतिमा रहेगी उसी का नाम जिनमंदिर है। जे कर कहो कि जिन-प्रतिमा के पूजने से क्या लाभ है? तो हम तुम को पूछते हैं, कि जो पुस्तक में ककारादि अक्षर लिखते हो, इन के

* [मीमांसा श्लो० वा० ४—८४]

मान वस्तु का ही ग्राहक है—"*संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेति वचनात्" । अरु अनुमान भी नहीं है, क्योंकि यहां पर तत्प्रतिबद्ध लिंग [अनुमान का साधक हेतु] कोई भी नहीं दीखता है । अरु आगम प्रमाण भी नहीं है, क्योंकि आगम तो विवादास्पद—झगड़े का घर है, जो कि आज तक सिद्ध नहीं हुआ है । तथा अर्थापत्ति अरु उपमान यह दोनों अनुमान के ही अंतर्गत हैं । तो अनुमान के खण्डन से यह भी दोनों खण्डित हो गये ।

जिनमन्दिर की स्थापना

प्रतिवादीः—जैसे तुम जिनमंदिर बनाते हुये पृथिवीकायादि जीवों की हिंसा को विशेष करके पुण्य का हेतु कल्पते हो । ऐसे हम भी यज्ञ में जो हिंसा करते हैं, सो पुण्य के वास्ते है । क्योंकि वेदोक्त विधि-विधान में भी परिणाम विशेष के होने से पुण्य ही होता है ।

सिद्धांतीः—परिणाम विशेष वे ही पुण्य का कारण होते हैं, जहां और कोई उपाय न होवे, अरु यत्न से प्रवृत्ति होवे । ऐसी प्रवृत्ति जिनमंदिर में हो सकती है, क्योंकि श्रीभगवान् की प्रतिमा जिनमंदिर के विना रहती नहीं । जहां पर प्रतिमा रहेगी उसी का नाम जिनमंदिर है । जे कर कहो कि जिन-प्रतिमा के पूजने से क्या लाभ है ? तो हम तुम को पूछते हैं, कि जो पुस्तक में ककारादि अक्षर लिखते हो, इन के

* [मीमांसा श्लो० वा० ४—८४]

प्रमाण नहीं है। इस वास्ते जो साक्षर शब्द है, सो मुख के विना नहीं, अरु शरीर के विना मुख नहीं हो सकता। इस वास्ते जो कोई वादी किसी पुस्तक को ईश्वर का वचन मानेगा, वो ज़रूर ईश्वर का मुख और शरीर भी मानेगा। अरु जव शरीर माना, तव भगवान् की प्रतिमा भी ज़रूर माननी पडेगी। जव प्रतिमा सिद्ध हो गई, तव मन्दिर भी ज़रूर वनाना पडेगा। इस वास्ते जिन मन्दिर का वनाना जो है, सो आवश्यक है। अरु जो वनाने वाला है, सो यत्न पूर्वक वनाता है। अरु पृथिवी कायादिक के जो जीव हैं, सो अस्पष्ट चैतन्य वाले हैं। उन की हिंसा में अल्प पाप अरु जिन मन्दिर वनाने से वहुत निर्जरा है। तथा तुमारे पक्ष में तो श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि में यम नियमादिकों के अनुष्ठान से भी स्वर्ग की प्राप्ति कही है। तो फिर कृपण, दीन, अनाथ, ऐसे पंचेंद्रिय जीवों का वध यज्ञ में काहे को करते हो? इस से तो यही सिद्ध होता है, कि जो तुम निरपराध, कृपण, दीन, अनाथ जीवों को यज्ञादिकों में मारते हो। उस के कारण तुम अपने संपूर्ण पुण्य का नाश करके अवश्य दुर्गति में जाओगे, और शुभपरिणाम का होना तुम को वहुत दुर्लभ है।

जेकर कहो कि जिनमंदिर के वनाने में भी हिंसा होती है, इस वास्ते जिनमंदिर वनाने में भी पुण्य नहीं है।

प्रमाण नहीं है। इस वास्ते जो साक्षर शब्द है, सो मुख के विना नहीं, अरु शरीर के विना मुख नहीं हो सकता। इस वास्ते जो कोई वादी किसी पुस्तक को ईश्वर का वचन मानेगा, वो ज़रूर ईश्वर का मुख और शरीर भी मानेगा। अरु जब शरीर माना, तब भगवान् की प्रतिमा भी ज़रूर माननी पडेगी। जब प्रतिमा सिद्ध हो गई, तब मन्दिर भी ज़रूर बनाना पडेगा। इस वास्ते जिन मन्दिर का बनाना जो है, सो आवश्यक है। अरु जो बनाने वाला है, सो यत्न पूर्वक बनाता है। अरु पृथिवी कायादिक के जो जीव हैं, सो अस्पष्ट चैतन्य वाले हैं। उन की हिंसा में अल्प पाप अरु जिन मन्दिर बनाने से बहुत निर्जरा है। तथा तुमारे पक्ष में तो श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि में यम नियमादिकों के अनुष्ठान से भी स्वर्ग की प्राप्ति कही है। तो फिर कृपण, दीन, अनाथ, ऐसे पंचेंद्रिय जीवों का वध यज्ञ में काहे को करते हो? इस से तो यही सिद्ध होता है, कि जो तुम निरपराध, कृपण, दीन, अनाथ जीवों को यज्ञादिकों में मारते हो। उस के कारण तुम अपने संपूर्ण पुण्य का नाश करके अवश्य दुर्गति में जाओगे, और शुभपरिणाम का होना तुम को बहुत दुर्लभ है।

जेकर कहो कि जिनमंदिर के बनाने में भी हिंसा होती है, इस वास्ते जिनमंदिर बनाने में भी पुण्य नहीं है।

अर्थः—१. यद्यपि जिनमन्दिर बनाने में पृथिवी आदिक जीवों की हिंसा होती है, तोभी सम्यक्दृष्टि की तिन जीवों पर निश्चय ही अनुकंपा है। २. इन की हिंसा से निवृत्त होकर ज्ञानी निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। कैसे निर्वाण को ? जो अव्याहत, और अनंत काल तक रहने वाला है। ३. जैसे रोगी की नाड़ी को वैद्य बड़े यत्न से बाँधता है। उस वैद्य के ऐसे अच्छे परिणाम हैं, कि कदाचित् वो रोगी मर भी जावे, तो भी वैद्य को पाप नहीं। तैसे ही जिन मंदिर के बनाने में यत्नपूर्वक प्रवर्त्तमान पुरुषों को उन जीवों के ऊपर अनुकंपा ही है। परन्तु वेद के कहे मूजब वध करने में हम किंचित् मात्र भी पुण्य नहीं देखते।

प्रतिवादीः—ब्राह्मणों को पुरोडाशादि [हवन के बाद का बचा हुआ द्रव्य] प्रदान करने से पुण्यानुबंधी पुण्य होता है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना ठीक नहीं। क्योंकि पवित्र सुवर्णादि प्रदान मात्र से भी पुण्योपार्जन का सम्भव हो सकता है। फिर जो कृपण, दीन, अनाथ, पशु गण को मारना और उन के मांस का दान करना, यह तुमारी केवल निर्दयता अरु मांस लोलुपता ही का चिन्ह है।

प्रतिवादीः—हम केवल प्रदान मात्र ही पशुवध क्रिया का फल नहीं कहते हैं, किंतु भूत्यादिक, अर्थात् लक्ष्मी आदि भी प्राप्त होती है। यदाह श्रुतिः—"श्वेतवायव्यमजमालभेत भूतिकाम इत्यादि"-[श० ब्रा०] भावार्थः—भूति-ऐश्वर्य

अर्थः—१. यद्यपि जिनमन्दिर बनानें में पृथिवी आदिक जीवों की हिंसा होती है, तोभी सम्यक्‌दृष्टिं की तिन जीवों पर निश्चय ही अनुकंपा है। २. इन की हिंसा से निवृत्त होकर ज्ञानी निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। कैसे निर्वाण को? जो अव्याहत, और अनंत काल तक रहने वाला है। ३. जैसे रोगी की नाड़ी को वैद्य बड़े यत्न से बांधता है। उस वैद्य के ऐसे अच्छे परिणाम हैं, कि कदाचित् वो रोगी मर भी जावें, तो भी वैद्य को पाप नहीं। तैसे ही जिन मंदिर के बनाने में यत्नपूर्वक प्रवर्त्तमान पुरुषों को उन जीवों के ऊपर अनुकंपा ही है। परन्तु वेद के कहे मूजब वध करने में हम किंचित् मात्र भी पुण्य नहीं देखते।

प्रतिवादीः—ब्राह्मणों को पुरोडाशादि [हवन के बाद का बचा हुआ द्रव्य] प्रदान करने से पुण्यानुबंधी पुण्य होता है।

सिद्धान्तीः—यह भी तुमारा कहना ठीक नहीं। क्योंकि पवित्र सुवर्णादि प्रदान मात्र से भी पुण्योपार्जन का सम्भव हो सकता है। फिर जो कृपण, दीन, अनाथ, पशु गण को मारना और उन के मांस का दान करना, यह तुमारी केवल निर्दयता अरु मांस लोलुपता ही का चिन्ह है।

प्रतिवादीः—हम केवल प्रदान मात्र ही पशुवध क्रिया का फल नहीं कहते हैं, किंतु भूत्यादिक, अर्थात् लक्ष्मी आदिं भी प्राप्त होती है। यदाह श्रुतिः—"श्वेतवायव्यमजमालभेत भूतिकाम इत्यादि"-[श० ब्रा०] भावार्थः—भूति-ऐश्वर्य

करेंगे। तथा श्रौत विधि से पशुओं को मारने पर यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती होवे, तब तो कसाई—खटीक प्रमुख सभी स्वर्गवासी हो जावेंगे। तथा च पठंति *पारमर्षाः—

† यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे, नरके केन गम्यते ॥

[सां० का० २ की मा० वृ० में उद्धृत]

एक और भी बात है। यदि अपरिचित, अस्पष्ट चैतन्य अनुपकारी पशुओं के मारने से त्रिदिव पदवी प्राप्त होती होवे, तब तो परिचित, स्पष्ट चैतन्य, परमोपकारी, माता पितादिकों के मारने से याज्ञिकों को उस से भी अधिकतर पद की प्राप्ति होनी चाहिये।

प्रतिवादीः—‡"अचिंत्यो हि मणिमंत्रौषधीनां प्रभाव" इति

---

* सांख्य मतानुयायी विद्वान्।

† सांख्य कारिका की माठर वृत्ति में "यूपं" के स्थान पर "वृक्षान्" पाठ है, जो कि अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यज्ञ में पशुओं को बांधने के स्तम्भ का नाम यूप है। तब वृत्तिस्थ पाठ के अनुसार इस श्लोक का भावार्थ यह है कि—वृक्षों को काट कर, पशुओं को मार और रुधिर से कीचड़ करके, यदि स्वर्ग प्राप्त होता है, तो फिर नरक के लिये कौनसा मार्ग है? इस प्रकार के वैध हिंसा के निषेधक अनेक वचन उपनिषद् और महाभारत आदि सद्ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिन का दिग्दर्शन मात्र परिशिष्ट नं० २ के ख विभाग में कराया गया है।

‡ मणि मंत्र और औषधि का प्रभाव अचिन्त्य है।

करेंगे। तथा श्रौत विधि से पशुओं को मारने पर यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती होवे, तब तो कसाई—खटीक प्रमुख सभी स्वर्गवासी हो जावेंगे। तथा च पठंति *पारमर्षाः—

† यूपं छित्वा पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गो, नरके केन गम्यते ॥

[सां० का० २ की मा० वृ० में उद्धृत]

एक और भी बात है। यदि अपरिचित, अस्पष्ट चैतन्य अनुपकारी पशुओं के मारने से त्रिदिव पदवी प्राप्त होती होवे, तब तो परिचित, स्पष्ट चैतन्य, परमोपकारी, माता पितादिकों के मारने से याज्ञिकों को उस से भी अधिकतर पद की प्राप्ति होनी चाहिये।

प्रतिवादीः—‡"अचिंत्यो हि मणिमंत्रौषधीनां प्रभाव" इति

---

* सांख्य मतानुयायी विद्वान्।

† सांख्य कारिका की माठर वृत्ति में "यूपं" के स्थान पर "वृक्षान्" पाठ है, जो कि अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यज्ञ में पशुओं को बांधने के स्तम्भ का नाम यूप है। तब वृत्तिस्थ पाठ के अनुसार इस श्लोक का भावार्थ यह है कि—वृक्षों को काट कर, पशुओं को मार और रुधिर से कीचड़ करके, यदि स्वर्ग प्राप्त होता है, तो फिर नरक के लिये कौनसा मार्ग है? इस प्रकार के वैध हिंसा के निषेधक अनेक वचन उपनिषद् और महाभारत आदि सद्ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, जिन का दिग्दर्शन मात्र परिशिष्ट नं० २ के ख विभाग में कराया गया है।

‡ मणि मंत्र और औषधि का प्रभाव अचिन्त्य है।

समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इत्यादि वचनों का कालांतर में ही फल मिलना कहा जाता है। ऐसे ही हमारे अभिमत वेद वचनों का भी इस लोक में नहीं किंतु लोकांतर में ही फल होता है। इस वास्ते विवाहादि के उपालंभ का अवकाश नहीं है।

सिद्धांतीः—अहो वचन वैचित्री! जैसे वर्त्तमान जन्म विषे विवाहादि में प्रयुक्त मंत्र, संस्कारों का फल आगामी जन्म में स्वीकार करते हैं। ऐसें ही द्वितीय तृतीयादि जन्म में भी विवाहादि में प्रयुक्त मन्त्रों का फल मानने से अनंत भवों का अनुसन्धान होवेगा। तव तो कदापि संसार की समाप्ति नहीं होवेगी। तथा किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। इस से यही सिद्ध हुआ, कि वेद ही अपर्यवसित संसार वल्लरी का मूल है। तथा आरोग्यादि की जो प्रार्थना है, सो तो असत्य अमृषा भाषा के द्वारा परिणामों की विशुद्धि करने के वास्ते है, दोष के वास्ते नहीं। क्योंकि तहां भाव आरोग्यादि की ही विवक्षा है। तथा जो आरोग्य है, सो चातुर्गतिक संसार लक्षण भाव रोग परिक्षय रूप होने से उत्तम फल है। अतः इस विषय की जो प्रार्थना है, सो विवेकी जनों को किस प्रकार से आदरणीय नहीं? तथा ऐसे भी मत कहना कि परिणामशुद्धि से फल की प्राप्ति

रमुत्तमं ददतु। अर्थात् हे भगवन्! आरोग्य, बोधिलाभ-सम्यक्त्व, तथा उत्तम समाधि को प्रदान करें॥

समाहिवरमुत्तमं दिंतु" इत्यादि वचनों का कालांतर में ही फल मिलना कहा जाता है। ऐसे ही हमारे अभिमत वेद वचनों का भी इस लोक में नहीं किंतु लोकांतर में ही फल होता है। इस वास्ते विवाहादि के उपालंभ का अवकाश नहीं है।

सिद्धांतीः—अहो वचन वैचित्री! जैसे वर्त्तमान जन्म विषे विवाहादि में प्रयुक्त मंत्र, संस्कारों का फल आगामी जन्म में स्वीकार करते हैं। ऐसें ही द्वितीय तृतीयादि जन्म में भी विवाहादि में प्रयुक्त मन्त्रों का फल मानने से अनंत भवों का अनुसन्धान होवेगा। तब तो कदापि संसार की समाप्ति नहीं होवेगी। तथा किसी को भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं होगी। इस से यही सिद्ध हुआ, कि वेद ही अपर्यवसित संसार वल्लरी का मूल है। तथा आरोग्यादि की जो प्रार्थना है, सो तो असत्य अमृषा भाषा के द्वारा परिणामों की विशुद्धि करने के वास्ते है, दोष के वास्ते नहीं। क्योंकि तहां भाव आरोग्यादि की ही विवक्षा है। तथा जो आरोग्य है, सो चातुर्गतिक संसार लक्षण भाव रोग परिक्षय रूप होने से उत्तम फल है। अतः इस विषय की जो प्रार्थना है,सो विवेकी जनों को किस प्रकार से आदरणीय नहीं? तथा ऐसे भी मत कहना कि परिणामशुद्धि से फल की प्राप्ति

रमुत्तमं ददतु। अर्थात् हे भगवन्! आरोग्य, बोधिलाभ—सम्यक्त्व, तथा उत्तम समाधि को प्रदान करें।

* व्यासेनाप्युक्तम्ः—

ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्यदयांभसि ।
स्नात्वातिविमले तीर्थे, पापपंकापहारिणि ॥१॥
ध्यानाग्नौ जीवकुंडस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपै रग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥२॥
कषायपशुभिः दुष्टै धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममंत्रहुतै र्यज्ञं, विधेहि विहितं बुधैः ॥३॥
प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वांछति सुधावृष्टिं, कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥४॥

---

* व्यास भी कहते हैं:—

ज्ञान रूप चादर से आच्छादित, ब्रह्मचर्य और दयारूप जल से परिपूर्ण, पापरूप कीचड़ को दूर करने वाले, अति निर्मल तीर्थ में स्नान करके, तथा जीवरूप कुण्ड में दमरूप पवन से प्रदीप्त ध्यानरूप अग्नि में अशुभ कर्मरूप काष्ठ का प्रक्षेप करके उत्तम अग्निहोत्र को करो ॥१-२॥

धर्म, अर्थ और काम को नष्ट करने वाले कषायरूप दुष्ट पशुओं का शमादि मंत्रों के द्वारा यज्ञ करो ॥३॥

जो मूढ पुरुष प्राणियों का घात करके धर्म की इच्छा करता है, वह मानो काले सांप की बांबी से अमृत की वर्षा की इच्छा कर रहा है ॥४॥

* व्यासेनाप्युक्तम्ः—

ज्ञानपालिपरिक्षिप्ते, ब्रह्मचर्यदयांभसि ।
स्नात्वातिविमले तीर्थे, पापपंकापहारिणि ॥१॥
ध्यानाग्नौ जीवकुंडस्थे, दममारुतदीपिते ।
असत्कर्मसमित्क्षेपै रग्निहोत्रं कुरूत्तमम् ॥२॥
कषायपशुभि र्दुष्टै धर्मकामार्थनाशकैः ।
शममंत्रहुतै र्यज्ञं, विधेहि विहितं बुधैः ॥३॥
प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः ।
स वांछति सुधावृष्टिं, कृष्णाहिमुखकोटरात् ॥४॥

---

* व्यास भी कहते हैं:—

ज्ञान रूप चादर से आच्छादित, ब्रह्मचर्य और दयारूप जल से परिपूर्ण, पापरूप कीचड़ को दूर करने वाले; अति निर्मल तीर्थ में स्नान करके, तथा जीवरूप कुण्ड में दमरूप पवन से प्रदीप्त ध्यानरूप अग्नि में अशुभ कर्मरूप काष्ठ का प्रक्षेप करके उत्तम अग्निहोत्र को करो ॥१-२॥

धर्म, अर्थ और काम को नष्ट करने वाले कषायरूप दुष्ट पशुओं का शमादि मंत्रों के द्वारा यज्ञ करो ॥३॥

जो मूढ पुरुष प्राणियों का घात करके धर्म की इच्छा करता है, वह मानो काले सांप की बांबी से अमृत की वर्षा की इच्छा कर रहा है ॥४॥

शब्देतरत्वे युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु ।
न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्त्तत्वादस्मदादिवत् ॥

तथा जिस वस्तु की आहुति देवताओं को देते हैं, वो तो अग्नि में भस्मीभूत हो जाती है। तो फिर देवता क्या उस भस्म अर्थात् राख को खाते हैं ? इस वास्ते तुमारा यह कहना प्रलापमात्र है।

तथा एक और भी बात है, कि यह जो * त्रेताग्नि है, सो तेतीस कोटि देवताओं का मुख है, §"अग्नि मुखा वै देवा" इति श्रुतेः। तब तो उत्तम, मध्यम, अधम, सर्व प्रकार के देवता एक ही मुख से खाने वाले सिद्ध हुए, और सब आपस में जूठ खाने वाले बन गये। तब तो वे तुरकों से भी अधिक हो गए। क्योंकि तुरक भी एक पात्र में एकठे तो खाते हैं, परन्तु सब एक मुख से नहीं खाते। तथा एक और भी बात है, एक शरीर में अनेक मुख हैं, यह बात तो हम सुनते थे, परन्तु अनेक शरीरों का एक मुख, यह तो बड़ा ही आश्चर्य है।

के धारण करने वाले हों, तो जैसे हम लोग एक समय में बहुत से स्थानों पर नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता भी एक साथ अनेक यज्ञस्थानों में नहीं जा सकेंगे।

* त्रेताग्नि—दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य, ये तीन अग्नि।

§ [आश्व० गृ० सू०, अ० ४, कं ८ सू० ६] 'अग्निमुखा वै देवा पाणिमुखाः पितर' इति ब्राह्मणम्।

शब्देतरत्वे युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु।
न सा प्रयाति सांनिध्यं मूर्त्तत्वादस्मदादिवत्॥

तथा जिस वस्तु की आहुति देवताओं को देते हैं, वो तो अग्नि में भस्मीभूत हो जाती है। तो फिर देवता क्या उस भस्म अर्थात् राख को खाते हैं? इस वास्ते तुमारा यह कहना प्रलापमात्र है।

तथा एक और भी बात है, कि यह जो * त्रेताग्नि है, सो तेतीस कोटि देवताओं का मुख है, §"अग्नि मुखा वै देवा" इति श्रुतेः। तब तो उत्तम, मध्यम, अधम, सर्व प्रकार के देवता एक ही मुख से खाने वाले सिद्ध हुए, और सब आपस में जूठ खाने वाले बन गये। तब तो वे तुरकों से भी अधिक हो गए। क्योंकि तुरक भी एक पात्र में एकठे तो खाते हैं, परन्तु सब एक मुख से नहीं खाते। तथा एक और भी बात है, एक शरीर में अनेक मुख हैं, यह बात तो हम सुनते थे, परन्तु अनेक शरीरों का एक मुख, यह तो बड़ा ही आश्चर्य है।

के धारण करने वाले हों, तो जैसे हम लोग एक समय में बहुत से स्थानों पर नहीं जा सकते, उसी प्रकार देवता भी एक साथ अनेक यज्ञस्थानों में नहीं जा सकेंगे।

* त्रेताग्नि—दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य, ये तीन अग्नि।

§ [आश्व० गृ० सू०, अ० ४, कं ८ सू० ६] 'अग्निमुखा वै देवाः पाणिमुखाः पितर' इति ब्राह्मणम्।

संकता, दूसरी तरे से भी हो सकता है। तो फिर केवल पाप मात्र फल रूप इस शौनिकवृत्ति—हिंसकवृत्ति के अनुकरण करने से क्या लाभ है?

तथा छगल अर्थात् बकरे के मांस का होम करने से पर राष्ट्र को वश करने वाली सिद्धया देवी के परितोष होने का जो अनुमान है, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि कोई क्षुद्र देवता इस से प्रसन्न भी हों, तो वे अपनी पूजा को देख अरु जान कर ही राज़ी हो जाते हैं, परंतु मलिन—वीभत्स मांस के खाने से राज़ी नहीं होते। जेकर होम करी हुई वस्तु को वे खाते हैं, तब तो हूयमान-हवन किये जाने वाले निंब पत्र, कड़ुवा तेल, आरनाल, धूमांशादि द्रव्य भी तिन का भोजन हो जावेगा। वाह तुमारे देवता क्या ही सुंदर भोजन करते हैं!

अतः वास्तव में द्रव्य, क्षेत्र, आदि सहकारी कारणों से युक्त उपासक की भावपूर्ण उपासना ही विजय आदि अभीष्ट फल की उत्पत्ति में कारण है, यही मानना युक्तियुक्त है। जैसे कि अचेतन होने पर भी चिन्तामणि रत्न, मनुष्यों के पुण्योदय से ही फलप्रद होता है। तथा अतिथि आदि की प्रीति भी संस्कार संपन्न पकान्नादिक से हो सकती है, फिर तिन के वास्ते महोत्त, महाजादि की कल्पना करना निरी मूर्खता है।

सकता, दूसरी तरे से भी हो सकता है । तो फिर केवल पाप मात्र फल रूप इस शौनिकवृत्ति—हिंसकवृत्ति के अनुकरण करने से क्या लाभ है ?

तथा छगल अर्थात् वकरे के मांस का होम करने से पर राष्ट्र को वश करने वाली सिद्धया देवी के परितोष होने का जो अनुमान है, सो भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि कोई क्षुद्र देवता इस से प्रसन्न भी हों, तो वे अपनी पूजा को देख अरु जान कर ही राज़ी हो जाते हैं, परंतु मलिन—वीभत्स मांस के खाने से राज़ी नहीं होते। जेकर होम करी हुई वस्तु को वे खाते हैं, तव तो हूयमान-हवन किये जाने वाले निंव पत्र, कड़ुवा तेल, आरनाल, धूमांशादि द्रव्य भी तिन का भोजन हो जावेगा। वाह तुमारे देवता क्या ही सुंदर भोजन करते हैं !

अतः वास्तव में द्रव्य, क्षेत्र, आदि सहकारी कारणों से युक्त उपासक की भावपूर्ण उपासना ही विजय आदि अभीष्ट फल की उत्पत्ति में कारण है, यही मानना युक्तियुक्त है। जैसे कि अचेतन होने पर भी चिन्तामणि रत्न, मनुष्यों के पुण्योदय से ही फलप्रद होता है। तथा अतिथि आदि की प्रीति भी संस्कार संपन्न पक्वान्नादिक से हो सकती है, फिर तिन के वास्ते महोक्ष, महाजादि की कल्पना करना निरी मूर्खता है।

तथा श्राद्ध करने से उत्पन्न होने वाला पुण्य परलोक गत पितरों के पास कैसे चला जाता है ? क्योंकि वो पुण्य तो और ने करा है, तथा पुण्य जो है, सो जडरूप और गति रहित है। जे कर कहो कि उद्देश तो पितरों का है, परंतु पुण्य श्राद्ध करने वाले पुत्रादिकों को होता है। यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि पुत्रादि का इस पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् पुत्रादि के मन में यह वासना ही नहीं कि हम पुण्य करते हैं, और इस का फल हम को मिलेगा। तो विना पुण्य की भावना से पुण्य फल होता नहीं है। इस वास्ते श्राद्ध करने का फल न तो पितरों को अरु न पुत्रादिकों को होता है, किंतु *त्रिशंकु की तरह बीच में ही लटका रहता है। [अर्थात् जैसे वासिष्ठ ऋषि के शिष्यों के शाप से चंडालता को प्राप्त होने के बाद त्रिशंकु नाम का राजा, विश्वामित्र के द्वारा कराये जाने वाले यज्ञ के प्रभाव से जिस समय स्वर्ग को जाने लगा, और इन्द्र ने उसे स्वर्ग में आने नहीं दिया, तो उस समय वह स्वर्ग और पृथिवी के बीच में ही लटका रह गया। वैसे ही श्राद्ध से उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल न तो पितरों को प्राप्त हो

सब तृप्त हो जावेंगे। तथा यह श्लोक चार्वाक—नास्तिक मत के निरूपण में अनेक प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में संगृहीत हुआ है, परन्तु इस के मूल का कुछ पता नहीं चला है।

* त्रिशंकु की कथा के लिये देखो वाल्मी० रा० कां० १ सर्ग ५८-६०।

तथा श्राद्ध करने से उत्पन्न होने वाला पुण्य परलोक गत पितरों के पास कैसे चला जाता है ? क्योंकि वो पुण्य तो और ने करा है, तथा पुण्य जो है, सो जडरूप और गति रहित है। जे कर कहो कि उद्देश तो पितरों का है, परंतु पुण्य श्राद्ध करने वाले पुत्रादिकों को होता है। यह भी कहना ठीक नहीं क्योंकि पुत्रादि का इस पुण्य से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अर्थात् पुत्रादि के मन में यह वासना ही नहीं कि हम पुण्य करते हैं, और इस का फल हम को मिलेगा। तो विना पुण्य की भावना से पुण्य फल होता नहीं है। इस वास्ते श्राद्ध करने का फल न तो पितरों को अरु न पुत्रादिकों को होता है, किंतु *त्रिशंकु की तरह वीच में ही लटका रहता है। [अर्थात् जैसे वासिष्ठ ऋषि के शिष्यों के शाप से चंडालता को प्राप्त होने के वाद त्रिशंकु नाम का राजा, विश्वामित्र के द्वारा कराये जाने वाले यज्ञ के प्रभाव से जिस समय स्वर्ग को जाने लगा, और इन्द्र ने उसे स्वर्ग में आने नहीं दिया, तो उस समय वह स्वर्ग और पृथिवी के बीच में ही लटका रह गया। वैसे ही श्राद्ध से उत्पन्न होने वाले पुण्य का फल न तो पितरों को प्राप्त हो

सब तृप्त हो जावेंगे। तथा यह श्लोक चार्वाक—नास्तिक मत के निरूपण में अनेक प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों में संगृहीत हुआ है, परन्तु इस के मूल का कुछ पता नहीं चला है।

* त्रिशंकु की कथा के लिये देखो वाल्मी० रा० कां० १ सर्ग ५८-६०।

दूसरे पक्ष में असर्वज्ञ-दोष युक्त के रचे हुए शास्त्र का विश्वास नहीं हो सकता। जेकर कहो कि अपौरुषेय है, तब तो संभव ही नहीं हो सकता है। वचन रूप जो क्रिया है, सो पुरुष के द्वारा ही सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं। और जहां पर पुरुषजन्य व्यापार के विना भी वचन का श्रवण हो, वहां पर अदृश्य वक्ता की कल्पना कर लेनी होगी। इस वास्ते सिद्ध हुआ, कि जो साक्षर वचन है, सो पौरुषेय ही है, कुमारसंभवादि वचनवत्। वचनात्मक ही वेद है, अतः पौरुषेय है। तथा चाहुः—

* ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,
वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः॥

तथा श्रुति को अपौरुषेय अंगीकार करके भी तुमने उस के व्याख्यान को पौरुषेय ही अंगीकार करा है। अन्यथा—श्रुति के अर्थ का व्याख्यान यदि पौरुषेय न माना जाय तो †"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस का किसी

* यह निश्चित है, कि वर्णों का समुदाय ताल्वादि से उत्पन्न होता है। और वेद वर्णात्मक है, यह भी स्फुट है। तथा ताल्वादि स्थान पुरुष के ही होते हैं। इसलिये वेद अपौरुषेय है, यह कैसे कह सकते हैं।

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्निहोत्र यज्ञ संबन्धी आहुति देवे,

दूसरे पक्ष में असर्वज्ञ-दोष युक्त के रचे हुए शास्त्र का विश्वास नहीं हो सकता। जेकर कहो कि अपौरुषेय है, तब तो संभव ही नहीं हो सकता है। वचन रूप जो क्रिया है, सो पुरुष के द्वारा ही सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं। और जहां पर पुरुषजन्य व्यापार के विना भी वचन का श्रवण हो, वहां पर अदृश्य वक्ता की कल्पना कर लेनी होगी। इस वास्ते सिद्ध हुआ, कि जो साक्षर वचन है, सो पौरुषेय ही है, कुमारसंभवादि वचनवत्। वचनात्मक ही वेद है, अतः पौरुषेय है। तथा चाहुः—

* ताल्वादिजन्मा ननु वर्णवर्गो,
वर्णात्मको वेद इति स्फुटं च।
पुंसश्च ताल्वादि ततः कथं स्या-
दपौरुषेयोऽयमिति प्रतीतिः॥

तथा श्रुति को अपौरुषेय अंगीकार करके भी तुमने उस के व्याख्यान को पौरुषेय ही अंगीकार करा है। अन्यथा—श्रुति के अर्थ का व्याख्यान यदि पौरुषेय न माना जाय तो †"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस का किसी

* यह निश्चित है, कि वर्णों का समुदाय ताल्वादि से उत्पन्न होता है। और वेद वर्णात्मक है, यह भी स्फुट है। तथा ताल्वादि स्थान पुरुष के ही होते हैं। इसलिये वेद अपौरुषेय है, यह कैसे कह सकते हैं।

† स्वर्ग की इच्छा रखने वाला अग्निहोत्र यज्ञ संबन्धी आहुति देवे,

नहीं *"उत्सर्गापवादयोरपवादविधिर्बलीयानिति न्यायात् ।" और तुमारे जैनों के मत में भी हिंसा का एकांत—सर्वथा निषेध नहीं है, कितनेक कारणों के उपस्थित होने से पृथिव्यादिक जीवों की हिंसा करने की आज्ञा है । तथा जब कोई साधु रोग से पीड़ित होता है, "असंस्तरे" अर्थात् असमर्थ होता है, तब ॥आधाकर्मादि आहार के ग्रहण करने की भी आज्ञा है । ऐसे ही हमारे मत में याज्ञिकी हिंसा जो है, सो देवता और अतिथि की प्रीति के वास्ते पुष्टालंबनरूप होने से अपवाद रूप है । इस वास्ते उस के करने में दोष नहीं ।

सिद्धांती:—अन्यकार्य के वास्ते उत्सर्ग वाक्य, अरु अन्य कार्य के वास्ते अपवाद कहना, यह उत्सर्ग अपवाद कदापि नहीं हो सकता । किन्तु जिस अर्थ के वास्ते शास्त्र में उत्सर्ग कहा है । उसी अर्थ के वास्ते अपवाद होवे, तब ही उत्सर्ग, अपवाद हो सकता है । तभी ये दोनों उन्नत निम्नादि व्यवहारवत् परस्पर सापेक्ष होने से एकार्थ के

---

* उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में अपवाद विधि बलवान् होती है, इस न्याय से—सर्व सम्मत विचार से ।

॥ साधु के निमित्त जो खान पानादि वस्तु तैयार की जावे, उस को आधाकर्मिक कहते हैं । उत्सर्गमार्ग में साधु को इस प्रकार के आहार को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं, परन्तु अपवाद मार्ग में रोगादि की अवस्था में उस के ग्रहण करने की साधु को आज्ञा है ।

नहीं *"उत्सर्गापवादयोरपवादविधिर्बलीयानिति न्यायात् ।" और तुमारे जैनों के मत में भी हिंसा का एकांत—सर्वथा निषेध नहीं है, कितनेक कारणों के उपस्थित होने से पृथिव्यादिक जीवों की हिंसा करने की आज्ञा है। तथा जब कोई साधु रोग से पीड़ित होता है, "असंस्तरे" अर्थात् असमर्थ होता है, तब ‖ आधाकर्मादि आहार के ग्रहण करने की भी आज्ञा है। ऐसे ही हमारे मत में याज्ञिकी हिंसा जो है, सो देवता और अतिथि की प्रीति के वास्ते पुष्टालंबनरूप होने से अपवाद रूप है। इस वास्ते उस के करने में दोष नहीं।

सिद्धांती:—अन्यकार्य के वास्ते उत्सर्ग वाक्य, अरु अन्य कार्य के वास्ते अपवाद कहना, यह उत्सर्ग अपवाद कदापि नहीं हो सकता। किन्तु जिस अर्थ के वास्ते शास्त्र में उत्सर्ग कहा है। उसी अर्थ के वास्ते अपवाद होवे, तब ही उत्सर्ग, अपवाद हो सकता है। तभी ये दोनों उन्नत निम्नादि व्यवहारवत् परस्पर सापेक्ष होने से एकार्थ के

---

* उत्सर्ग और अपवाद इन दोनों में अपवाद विधि बलवान् होती है, इस न्याय से—सर्व सम्मत विचार से।

‖ साधु के निमित्त जो खान पानादि वस्तु तैयार की जावे, उस को आधाकर्मिक कहते हैं। उत्सर्गमार्ग में साधु को इस प्रकार के आहार को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं, परन्तु अपवाद मार्ग में रोगादि की अवस्था में उस के ग्रहण करने की साधु को आज्ञा है।

धातु को ज्वर में वही लंघन कुपथ्य हो जाता है। इसी प्रकार किसी देश में ज्वर के रोगी को दधि खिलाना पथ्य समझा जाता है, तथा किसी दूसरे देश में वही कुपथ्य माना गया है।

† तथाच वैद्याः—

कालाविरोधि निर्दिष्टं, ज्वरादौ लंघनं हितम्।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोध—शोककामकृतज्वरात॥

जैसे प्रथम तो अपथ्य का परिहार करना, अरु तहां ही अवस्थांतर में तिस का भोगना, सो दोनों ही जगे रोग के दूर करने का प्रयोजन है। इस से सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही एक वस्तु विषयक हैं।

परन्तु तुमारे तो उत्सर्ग और अर्थ के वास्ते है, तथा

---

† वैद्यों का कथन है कि—

वायु, श्रम, क्रोध, शोक और काम से उत्पन्न हुए ज्वर को छोड़ कर अन्य ज्वरों में काल—वसन्त, ग्रीष्मादि ऋतु के अनुसार लंघन कराना हितकर है। इस श्लोक से अर्थ में तो सर्वथा समानता रखता हुआ चरक संहिता चिकित्सा स्थान का यह निम्न लिखित श्लोक है। और उद्धृत श्लोक इसी की प्रतिच्छाया रूप प्रतीत होता है।

ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्॥

[अ० ३ श्लो० ३८]

धातु को ज्वर में वही लंघन कुपथ्य हो जाता है। इसी प्रकार किसी देश में ज्वर के रोगी को दधि खिलाना पथ्य समझा जाता है, तथा किसी दूसरे देश में वही कुपथ्य माना गया है।

† तथाच वैद्याः—

कालाविरोधि निर्दिष्टं, ज्वरादौ लंघनं हितम्।
ऋतेऽनिलश्रमक्रोध—शोककामकृतज्वरात् ॥

जैसे प्रथम तो अपथ्य का परिहार करना, अरु तहां ही अवस्थांतर में तिस का भोगना, सो दोनों ही जगे रोग के दूर करने का प्रयोजन है। इस से सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग और अपवाद दोनों ही एक वस्तु विषयक हैं।

परन्तु तुमारे तो उत्सर्ग और अर्थ के वास्ते है, तथा

---

† वैद्यों का कथन है कि—

वायु, श्रम, क्रोध, शोक और काम से उत्पन्न हुए ज्वर को छोड़ कर अन्य ज्वरों में काल—वसन्त, ग्रीष्मादि ऋतु के अनुसार लंघन कराना हितकर है। इस श्लोक से अर्थ में तो सर्वथा समानता रखता हुआ चरक संहिता चिकित्सा स्थान का यह निम्न लिखित श्लोक है। और उद्धृत श्लोक इसी की प्रतिच्छाया रूप प्रतीत होता है।

ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥

[अ० ३ श्लो० ३८]

से उसी व्यास ऋषि ने भाव अग्निहोत्र—भाव यज्ञ का पहले ही प्रतिपादन कर दिया है।

चार्वाक मत व आत्मसिद्धि

अथ चार्वाक मत का खण्डन लिखते हैं :—चार्वाक कहता है, कि जब शरीर से भिन्न आत्मा ही नहीं है, तब ये मतावलंबी पुरुष, किस वास्ते शोर करते हैं ? वास्तव में जैन, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, जैमिनीय जो षड् दर्शन हैं, सो केवल लोगों को भ्रम में डाल कर उन से भोग विलास वृथा ही छुड़ा देते हैं। वास्तव में तो आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इस वास्ते हमारा मत ही सब से अच्छा है। जेकर आत्मा है, तो कैसे तिस की सिद्धि है ?

सिद्धान्तीः—प्रति प्राणी स्वसंवेदन प्रमाण चैतन्य की अन्यथानुपपत्ति से सिद्धि है। तथाहि यह जो चैतन्य है, सो भूतों का धर्म नहीं है। जेकर भूतों का धर्म होवे, तब तो पृथ्वी की कठिनता की तरे इस का सर्वत्र सर्वदा उपलंभ होना चाहिये परन्तु सर्वत्र सर्वदा उपलंभ होता नहीं। क्योंकि लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती।

प्रतिवादीः—लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में भी चैतन्य है। परन्तु केवल शक्ति रूप करके है, इस वास्ते उपलब्ध नहीं होता।

सिद्धांतीः—यह तुमारा कहना अयुक्त है। वो शक्ति, क्या

से उसी व्यास ऋषि ने भाव अग्निहोत्र—भाव यज्ञ का पहले ही प्रतिपादन कर दिया है।

चार्वाक मत व आत्मसिद्धि

अथ चार्वाक मत का खण्डन लिखते हैं :—चार्वाक कहता है, कि जब शरीर से भिन्न आत्मा ही नहीं है, तब ये मतावलंबी पुरुष, किस वास्ते शोर करते हैं ? वास्तव में जैन, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, जैमिनीय जो षड् दर्शन हैं, सो केवल लोगों को भ्रम में डाल कर उन से भोग विलास वृथा ही छुड़ा देते हैं। वास्तव में तो आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। इस वास्ते हमारा मत ही सब से अच्छा है। जेकर आत्मा है, तो कैसे तिस की सिद्धि है ?

सिद्धान्तीः—प्रति प्राणी स्वसंवेदन प्रमाण चैतन्य की अन्यथानुपपत्ति से सिद्धि है। तथाहि यह जो चैतन्य है, सो भूतों का धर्म नहीं है। जेकर भूतों का धर्म होवे, तब तो पृथ्वी की कठिनता की तरे इस का सर्वत्र सर्वदा उपलंभ होना चाहिये परन्तु सर्वत्र सर्वदा उपलंभ होता नहीं। क्योंकि लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती।

प्रतिवादीः—लोष्टादिकों में अरु मृतक अवस्था में भी चैतन्य है। परन्तु केवल शक्ति रूप करके है, इस वास्ते उपलब्ध नहीं होता।

सिद्धांतीः—यह तुमारा कहना अयुक्त है। वो शक्ति, क्या

परिणामांतर भूत स्वभाव होने से भूतों की तरे चैतन्य का व्यंजक ही हो सकता है, आवरक नहीं। जे कर कहो कि भूतों से अतिरिक्त वस्तु है, तो यह कहना बहुत ही असंगत है। क्योंकि भूतों से अतिरिक्त वस्तु मानने से "चत्वार्येव पृथ्व्यादिभूतानि तत्त्वमिति" इस कहने में तत्त्व संख्या का व्याघात हो जावेगा।

एक और भी बात है, कि यह जो चैतन्य है, सो एक एक भूत का धर्म है? वा सर्व भूत समुदाय का धर्म है? एक एक भूत का धर्म तो है नहीं। क्योंकि एक एक भूत में दीखता नहीं, और एक एक परमाणु में संवेदन की उपलब्धि नहीं होती। जेकर प्रति परमाणु में होवे, तब तो पुरुष सहस्र चैतन्य वृंद की तरे परस्पर भिन्न स्वभाव होवेगा, परंतु एक रूप चैतन्य नहीं होवेगा। अरु देखने में एक रूप आता है। "अहं पश्यामि" अर्थात् मैं देखता हूं, मैं करता हूं, ऐसे सकल शरीर का अधिष्ठाता एक उपलब्ध होता है।

जे कर समुदाय का धर्म मानोगे, सो भी प्रत्येक में अभाव होने से असत् है। क्योंकि जो प्रत्येक अवस्था में असत् है, वो समुदाय में भी असत् ही होगा, सत् नहीं हो सकता है; जैसे वालु कणों में तेल की सत्ता नहीं है। जेकर कहो कि प्रत्येक मद्यांग में तो मद शक्ति नहीं है, परन्तु समुदाय में हो जाती है। ऐसे चैतन्य भी हो जावे, तो क्या

परिणामांतर भूत स्वभाव होने से भूतों की तरे चैतन्य का व्यंजक ही हो सकता है, आवरक नहीं। जे कर कहो कि भूतों से अतिरिक्त वस्तु है, तो यह कहना बहुत ही असंगत है। क्योंकि भूतों से अतिरिक्त वस्तु मानने से "चत्वार्यैव पृथ्व्यादिभूतानि तत्त्वमिति" इस कहने में तत्त्व संख्या का व्याघात हो जावेगा।

एक और भी बात है, कि यह जो चैतन्य है, सो एक एक भूत का धर्म है ? वा सर्व भूत समुदाय का धर्म है ? एक एक भूत का धर्म तो है नहीं। क्योंकि एक एक भूत में दीखता नहीं, और एक एक परमाणु में संवेदन की उपलब्धि नहीं होती। जेकर प्रति परमाणु में होवे, तब तो पुरुष सहस्र चैतन्य वृंद की तरे परस्पर भिन्न स्वभाव होवेगा, परंतु एक रूप चैतन्य नहीं होवेगा। अरु देखने में एक रूप आता है। "अहं पश्यामि" अर्थात् मैं देखता हूं, मैं करता हूं, ऐसे सकल शरीर का अधिष्ठाता एक उपलब्ध होता है।

जे कर समुदाय का धर्म मानोगे, सो भी प्रत्येक में अभाव होने से असत् है। क्योंकि जो प्रत्येक अवस्था में असत् है, वो समुदाय में भी असत् ही होगा, सत् नहीं हो सकता है; जैसे वालु कणों में तेल की सत्ता नहीं है। जेकर कहो कि प्रत्येक मद्यांग में तो मद शक्ति नहीं है, परन्तु समुदाय में हो जाती है। ऐसे चैतन्य भी हो जावे, तो क्या

एक और भी बात है कि, जे कर भूतों का कार्य चेतना होवे, तब तो सकल जगत् प्राणिमय ही हो जावे। जेकर कहो कि परिणति विशेष का सद्भाव न होने से सकल जगत् प्राणिमय नहीं होता है। तो वो परिणति विशेष का सद्भाव सर्वत्र किस वास्ते नहीं होता है ? क्योंकि वह परिणति भी भूतमात्र निमित्तक ही है। तब कैसे उस का किसी जगे होना और किसी जगे न होना सिद्ध होवे ? तथा वो परिणति विशेष किस स्वरूप वाली है ? जे कर कहो कि कठिनत्वादि रूप है, क्योंकि काष्ठादि में घुणादि जंतु उत्पन्न होते हुये दीखते। हैं तिस वास्ते जहां कठिनत्वादि विशेष है, सो प्राणिमय है, शेष नहीं। परन्तु यह भी व्यभिचार देखने से असत् है। अवशिष्ट भी कठिनत्वादि विशेष के होने पर कहीं होता है, और कहीं नहीं होता, अरु किसी जगे कठिनत्वादि विशेष विना भी संस्वेदज घने आकाश में संमूर्च्छिम उत्पन्न होते हैं।

एक और भी बात है कि कितनेक समान योनिके जीव भी विचित्र वर्ण संस्थान वाले दीखते हैं। गोबर आदि एक योनि वाले भी कितनेक नीले शरीर वाले हैं, अपर पीत शरीर वाले हैं, अन्य विचित्र वर्ण वाले हैं, अरु संस्थान भी इन का परस्पर भिन्न है। जे कर भूत मात्र निमित्त चैतन्य होवे, तब तो एक योनिक सब एक वर्ण संस्थान वाले होने चाहिये; परन्तु सो तो होते हैं नहीं। तिस वास्ते आत्मा ही तिस तिस

एक और भी बात है कि, जे कर भूतों का कार्य चेतना होवे, तब तो सकल जगत् प्राणिमय ही हो जावे। जेकर कहो कि परिणति विशेष का सद्भाव न होने से सकल जगत् प्राणिमय नहीं होता है। तो वो परिणति विशेष का सद्भाव सर्वत्र किस वास्ते नहीं होता है? क्योंकि वह परिणति भी भूतमात्र निमित्तक ही है। तब कैसे उस का किसी जगे होना और किसी जगे न होना सिद्ध होवे? तथा वो परिणति विशेष किस स्वरूप वाली है? जे कर कहो कि कठिनत्वादि रूप है, क्योंकि काष्ठादि में घुणादि जंतु उत्पन्न होते हुये दीखते। हैं तिस वास्ते जहां कठिनत्वादि विशेष है, सो प्राणिमय है, शेष नहीं। परन्तु यह भी व्यभिचार देखने से असत् है। अवशिष्ट भी कठिनत्वादि विशेष के होने पर कहीं होता है, और कहीं नहीं होता, अरु किसी जगे कठिनत्वादि विशेष विना भी संस्वेदज घने आकाश में संमूर्च्छिम उत्पन्न होते हैं।

एक और भी बात है कि कितनेक समान योनिके जीव भी विचित्र वर्ण संस्थान वाले दीखते हैं। गोबर आदि एक योनि वाले भी कितनेक नीले शरीर वाले हैं, अपर पीत शरीर वाले हैं, अन्य विचित्र वर्ण वाले हैं, अरु संस्थान भी इन का परस्पर भिन्न है। जे कर भूत मात्र निमित्त चैतन्य होवे, तब तो एक योनिक सब एक वर्ण संस्थान वाले होने चाहिये; परन्तु सो तो होते हैं नहीं। तिस वास्ते आत्मा ही तिस तिस

गुण दोष नहीं जानता, उतना चिर उस वस्तु में किसी को भी आग्रह नहीं होता है । तव तो जन्म की आदि में जो शरीर का आग्रह है, सो शरीर परिशीलन के अभ्यास पूर्वक संस्कार का कारण है । इस वास्ते आत्मा का जन्मांतर से आना सिद्ध हुआ । उक्तं चः—

शरीराग्रहरूपस्य, चेतसः संभवो यदा ।
जन्मादौ देहिनां दृष्टः किन्न जन्मांतरागतिः ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

जव आगति (आगमन) नहीं दीखती है, तव कैसे तिसका अनुमान से वोध होवे ? यह तुमारा कहना कुछ दूषण नहीं । क्योंकि अनुमेय अर्थ विषे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । परस्पर विषय का परिहार करके ही प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति वुद्धिमान् मानते हैं । तव यह तुमारा दूषण कैसे है ? आह चः—

अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्ष—मिति कैवात्र दुष्टता ।
अध्यक्षस्यानुमानस्य, विषयो विषयो नहि ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

अरु जो चित्र का दृष्टांत तुमने कहा था, सो भी विषम होने से अयुक्त है । क्योंकि चित्र जो है सो अचेतन है, अरु गमन स्वभाव रहित है । परन्तु आत्मा जो है, सो चेतन है

गुण दोष नहीं जानता, उतना चिर उस वस्तु में किसी को भी आग्रह नहीं होता है । तव तो जन्म की आदि में जो शरीर का आग्रह है, सो शरीर परिशीलन के अभ्यास पूर्वक संस्कार का कारण है । इस वास्ते आत्मा का जन्मांतर से आना सिद्ध हुआ । उक्तं चः—

शरीराग्रहरूपस्य, चेतसः संभवो यदा ।
जन्मादौ देहिनां दृष्टः किन्न जन्मांतरागतिः ॥

[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

जब आगति (आगमन) नहीं दीखती है, तव कैसे तिसका अनुमान से बोध होवे ? यह तुमारा कहना कुछ दूषण नहीं । क्योंकि अनुमेय अर्थ विषे प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । परस्पर विषय का परिहार करके ही प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रवृत्ति बुद्धिमान् मानते हैं । तव यह तुमारा दूषण कैसे है ? आह चः—

अनुमेयेऽस्ति नाध्यक्ष—मिति कैवात्र दुष्टता ।
अध्यक्षस्यानुमानस्य, विषयो विषयो नहि ॥

[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

अरु जो चित्र का दृष्टांत तुमने कहा था, सो भी विषम होने से अयुक्त है । क्योंकि चित्र जो है सो अचेतन है, अरु गमन स्वभाव रहित है । परन्तु आत्मा जो है, सो चेतन है

काल विषयक नहीं हैं । ऐसे ही शेष इन्द्रिय में भी जान लेना । तब कैसे मनोज्ञान को वर्त्तमानार्थ ग्रहण प्रसक्ति होवे ? उक्तं चः—

अक्षव्यापारमाश्रित्य, भवदक्षजमिष्यते ॥
तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्षभवं भवेत् ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

अथ अनिंद्रिय रूप से है, सो भी तिस को अचेतन होने से अयुक्त है । अरु केश नखादिक तो मनोज्ञान करके स्फुरत चिद्रूप उपलब्ध नहीं होते हैं । तब कैसे तिन सेती मनोज्ञान होवे ? आह चः—

चेतयंतो न दृश्यंते केशश्मश्रुनखादयः ।
ततस्तेभ्यो मनोज्ञानं, भवतीत्यतिसाहसम् ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

जेकर केश, नखादिकों से प्रतिबद्ध मनोज्ञान होवे, तब तो तिनों के उच्छेद हुए मूल से ही मनोज्ञान नहीं होवेगा । अरु केश, नखादिकों का उपघात होने से ज्ञान भी उपहत होना चाहिये । परन्तु सो तो होता नहीं, इस वास्ते यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं ।

एक और भी बात है, कि मनोज्ञान के सूक्ष्म अर्थ भेतृत्व अरु स्मृतिपाटवादि जो विशेष हैं, सो अन्वयव्यतिरेक

काल विषयक नहीं हैं । ऐसे ही शेष इन्द्रिय में भी जान लेना । तब कैसे मनोज्ञान को वर्त्तमानार्थ ग्रहण प्रसक्ति होवे ? उक्तं चः—

अक्षव्यापारमाश्रित्य, भवदक्षजमिष्यते ॥
तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्षभवं भवेत् ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

अथ अनिंद्रिय रूप से है, सो भी तिस को अचेतन होने से अयुक्त है । अरु केश नखादिक तो मनोज्ञान करके स्फुरत चिद्रूप उपलब्ध नहीं होते हैं । तब कैसे तिन सेती मनोज्ञान होवे ? आह चः—

चेतयंतो न दृश्यंते केशश्मश्रुनखादयः ।
ततस्तेभ्यो मनोज्ञानं, भवतीत्यतिसाहसम् ॥
[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

जेकर केश, नखादिकों से प्रतिबद्ध मनोज्ञान होवे, तब तो तिनों के उच्छेद हुए मूल से ही मनोज्ञान नहीं होवेगा । अरु केश, नखादिकों का उपघात होने से ज्ञान भी उपहत होना चाहिये । परन्तु सो तो होता नहीं, इस वास्ते यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं ।

एक और भी बात है, कि मनोज्ञान के सूक्ष्म अर्थ भेतृत्व अरु स्मृतिपाटवादि जो विशेष हैं, सो अन्वयव्यतिरेक

निवृत्ति वाला मानोगे। तब तो स्मशान में देह के भस्म होने पर ज्ञान न होवे, परन्तु देह के विद्यमान होते हुए मृत अवस्था में किस वास्ते ज्ञान नहीं होता ?

जेकर कहो कि प्राण, अपान भी ज्ञान के हेतु हैं, तिन के अभाव से ज्ञान नहीं होता है। यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्राणापान ज्ञान के हेतु नहीं हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान ही से तिन की प्रवृत्ति होती है। तथाहि, जब प्राणापान का करने वाला मंद इच्छा करता है, तब मंद होता है। अरु जब दीर्घ की इच्छा करता है, तब दीर्घ होता है। जेकर देह मात्र नैमित्तिक प्राणापान होवे, अरु प्राणापान नैमित्तिक विज्ञान होवे, तब तो इच्छा के वश से प्राणापान की प्रवृत्ति न होवेगी। क्योंकि जिनका निमित्त देह है, ऐसी जो गौरता और श्यामता, वो इच्छा के वश से प्रवृत्त नहीं होती हैं। जेकर प्राणापान ज्ञान का निमित्त होवे, तब तो प्राणापान के थोड़े वा बहुते के होने से ज्ञान भी थोड़ा वा बहुत होना चाहिये। क्योंकि जिस का कारण हीन अथवा अधिक होवेगा, उस का कार्य भी हीन अथवा अधिक ज़रूर होवेगा। जैसे माटी का पिंड जब बड़ा किंवा छोटा होवेगा, तब घट भी बड़ा अरु छोटा होवेगा, अन्यथा वो कारण भी नहीं। तुमारे भी तो प्राणापान के न्यून अधिक होने से ज्ञान न्यून अधिक नहीं होता है, किन्तु विपर्यय होता तो दीखता है। क्योंकि मरणावस्था में प्राणापान अधिक भी होते हैं, तो भी विज्ञान घट जाता है।

निवृत्ति वाला मानोगे। तव तो स्मशान में देह के भस्म होने पर ज्ञान न होवे, परन्तु देह के विद्यमान होते हुए मृत अवस्था में किस वास्ते ज्ञान नहीं होता ?

जेकर कहो कि प्राण, अपान भी ज्ञान के हेतु हैं, तिन के अभाव से ज्ञान नहीं होता है। यह भी कहना ठीक नहीं। क्योंकि प्राणापान ज्ञान के हेतु नहीं हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान ही से तिन की प्रवृत्ति होती है। तथाहि, जब प्राणापान का करने वाला मंद इच्छा करता है, तव मंद होता है। अरु जब दीर्घ की इच्छा करता है, तव दीर्घ होता है। जेकर देह मात्र नैमित्तिक प्राणापान होवे, अरु प्राणापान नैमित्तिक विज्ञान होवे, तव तो इच्छा के वश से प्राणापान की प्रवृत्ति न होवेगी। क्योंकि जिनका निमित्त देह है, ऐसी जो गौरता और श्यामता, वो इच्छा के वश से प्रवृत्त नहीं होती हैं। जेकर प्राणापान ज्ञान का निमित्त होवे, तव तो प्राणापान के थोड़े वा वहुते के होने से ज्ञान भी थोड़ा वा वहुत होना चाहिये। क्योंकि जिस का कारण हीन अथवा अधिक होवेगा, उस का कार्य भी हीन अथवा अधिक ज़रूर होवेगा। जैसे माटी का पिंड जब वड़ा किंवा छोटा होवेगा, तव घट भी वड़ा अरु छोटा होवेगा, अन्यथा वो कारण भी नहीं। तुमारे भी तो प्राणापान के न्यून अधिक होने से ज्ञान न्यून अधिक नहीं होता है, किन्तु विपर्यय होता तो दीखता है। क्योंकि मरणावस्था में प्राणापान अधिक भी होते हैं, तो भी विज्ञान घट जाता है।

निवर्त्य होता है। अनिवर्त्य विकार जैसे काष्ठ में अग्नि की करी हुई श्यामता मात्र, अरु निवर्त्य विकार जैसे अग्निकृत सुवर्ण में द्रवता। वायु आदिक जो दोष हैं, सो निवर्त्य विकार के जनक हैं, क्योंकि उन की चिकित्सा देखी जाती है। जेकर वायु आदि दोष से भी अनिवर्त्य विकार होवें, तब तो चिकित्सा विफल होजावेगी। ऐसे भी मत कहना कि मरने से पहिले दोष निवर्त्य विकार के आरंभक हैं, अरु मरण काल में अनिवर्त्य विकार के आरंभक हैं। क्योंकि एक ही एक जगे दो विरोधी विकारों का जनक नहीं हो सकता।

प्रतिवादीः—व्याधि दो प्रकार की लोक में प्रसिद्ध है, एक साध्य, दूसरी असाध्य। उस में साध्य जो है, सो चिकित्सा से दूर हो सकती है, अरु दूसरी असाध्य जो दूर नहीं होती है। और व्याधि दोषों की विषमता से होती है। तो फिर दोष उक्त दो प्रकार के विकारों के आरम्भक—जनक क्यों नहीं

सिद्धान्तीः—यह भी असत् है, क्योंकि तुमारे मत में असाध्य व्याधि ही नहीं हो सकती है, तथाहि—व्याधि का जो असाध्यपना है, सो आयु के क्षय होने से होता है। क्योंकि तिसी व्याधि में समान औषध वैद्य के योग से भी कोई मर जाता है, कोई नहीं मरता है। अरु जो प्रतिकूल कर्मों के उदय करके श्वित्रादि व्याधि है, वो हजार औषध से भी साधी नहीं जाती है। यह दोनों प्रकार की व्याधि परमेश्वर के वचनों के जानने वालों के मत में ही

निवर्त्य होता है। अनिवर्त्य विकार जैसे काष्ठ में अग्नि की करी हुई श्यामता मात्र, अरु निवर्त्य विकार जैसे अग्निकृत सुवर्ण में द्रवता। वायु आदिक जो दोष हैं, सो निवर्त्य विकार के जनक हैं, क्योंकि उन की चिकित्सा देखी जाती है। जेकर वायु आदि दोष से भी अनिवर्त्य विकार होवें, तब तो चिकित्सा विफल होजावेगी। ऐसे भी मत कहना कि मरने से पहिले दोष निवर्त्य विकार के आरंभक हैं, अरु मरण काल में अनिवर्त्य विकार के आरंभक हैं। क्योंकि एक ही एक जगे दो विरोधी विकारों का जनक नहीं हो सकता।

प्रतिवादीः—व्याधि दो प्रकार की लोक में प्रसिद्ध है, एक साध्य, दूसरी असाध्य। उस में साध्य जो है, सो चिकित्सा से दूर हो सकती है, अरु दूसरी असाध्य जो दूर नहीं होती है। और व्याधि दोषों की विषमता से होती है। तो फिर दोष उक्त दो प्रकार के विकारों के आरम्भक—जनक क्यों नहीं

सिद्धान्तीः—यह भी असत् है, क्योंकि तुमारे मत में असाध्य व्याधि ही नहीं हो सकती है, तथाहि—व्याधि का जो असाध्यपना है, सो आयु के क्षय होने से होता है। क्योंकि तिसी व्याधि में समान औषध वैद्य के योग से भी कोई मर जाता है, कोई नहीं मरता है। अरु जो प्रतिकूल कर्मों के उदय करके श्वित्रादि व्याधि है, वो हजार औषध से भी साधी नहीं जाती है। यह दोनों प्रकार की व्याधि परमेश्वर के वचनों के जानने वालों के मत में ही

तो अयुक्त है। उपादान वो होता है, कि जिस के विकारी होने से कार्य भी विकारी होवे, जैसे मृत्तिका घट का कारण है। परन्तु देह के विकार से संवेदन विकारी नहीं होता, अरु देह विकार के विना भी भय शोकादिकों करके संवेदन को विकारी देखते हैं। इस वास्ते देह संवेदन का उपादान कारण नहीं। उक्तं चः—

अविकृत्य हि यद्वस्तु, यः पदार्थो विकार्यते।
उपादानं न तत्तस्य, युक्तं गोगवयादिवत्॥

[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

इस कहने से, जो यह कहते हैं, कि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान कारण है, सो भी खण्डित हो गया। तहां माता पिता के विकारी होने से पुत्र विकारी नहीं होता है। अरु जो जिसका उपादन होता है, सो अपने कार्य से अभिन्न होता है, जैसे माटी और घट। यदि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान होवे, तो माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य के साथ अभेद रूप होगा। तब तो पुत्र का चैतन्य भी माता पिता के चैतन्य से अभिन्न होना चाहिये। इसी वास्ते तुमारा कहना किसी काम का नहीं है। इस हेतु से भूतों का धर्म वा भूतों का कार्य चैतन्य नहीं है। इस वास्ते आत्मा सिद्ध है। विशेष करके चार्वाक मत का खण्डन देखना होवे, तो सम्मतितर्क, स्याद्वाद-

तो अयुक्त है। उपादान वो होता है, कि जिस के विकारी होने से कार्य भी विकारी होवे, जैसे मृत्तिका घट का कारण है। परन्तु देह के विकार से संवेदन विकारी नहीं होता, अरु देह विकार के विना भी भय शोकादिकों करके संवेदन को विकारी देखते हैं। इस वास्ते देह संवेदन का उपादान कारण नहीं। उक्तं चः—

अविकृत्य हि यद्वस्तु, यः पदार्थो विकार्यते।
उपादानं न तत्तस्य, युक्तं गोगवयादिवत् ॥

[नं० सू० टीका—जीव० सि०]

इस कहने से, जो यह कहते हैं, कि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान कारण है, सो भी खण्डित हो गया। तहां माता पिता के विकारी होने से पुत्र विकारी नहीं होता है। अरु जो जिसका उपादन होता है, सो अपने कार्य से अभिन्न होता है, जैसे माटी और घट। यदि माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य का उपादान होवे, तो माता पिता का चैतन्य पुत्र के चैतन्य के साथ अभेद रूप होगा। तब तो पुत्र का चैतन्य भी माता पिता के चैतन्य से अभिन्न होना चाहिये। इसी वास्ते तुमारा कहना किसी काम का नहीं है। इस हेतु से भूतों का धर्म वा भूतों का कार्य चैतन्य नहीं है। इस वास्ते आत्मा सिद्ध है। विशेष करके चार्वाक मत का खण्डन देखना होवे, तो सम्मतितर्क, स्याद्वाद-

पंचम परिच्छेद ।

अब पंचम परिच्छेद में धर्मतत्त्व का स्वरूप लिखते हैंः— धर्म उस को कहते हैं, जो दुर्गति में जाते हुए आत्मा को धार रक्खे, एतावता दुर्गति में न जाने देवे । तिस धर्म के तीन भेद हैं—१. सम्यक् ज्ञान, २. सम्यक् दर्शन, ३. सम्यक् चारित्र । इन तीनों में से प्रथम ज्ञान का स्वरूप संक्षेप से लिखते हैंः—

धर्म तत्त्व का स्वरूप

यथावस्थिततत्त्वानां, संक्षेपाद्विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ॥

[यो॰ शा॰, प्र॰ १ श्लो॰ १६]

अर्थः—यथावस्थित—नय प्रमाणों करके प्रतिष्ठित है स्वरूप जिन का, ऐसे जो जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष रूप सप्त तत्त्व, तथा प्रकारांतर में पुण्य पाप के अधिक होने से नव तत्त्व होते हैं; इन का जो अवबोध अर्थात् ज्ञान, सो सम्यक् ज्ञान जानना । वह ज्ञान क्षयोपशम के विशेष से किसी जीव को संक्षेप से अरु किसी जीव को विस्तार से होता है । इन नव तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व जो जीव है, तिस को आत्मा भी कहते हैं । अर्थात् जीव कहो अथवा आत्मा कहो, दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं ।

पंचम परिच्छेद ।

अब पंचम परिच्छेद में धर्मतत्त्व का स्वरूप लिखते हैं:— धर्म उस को कहते हैं, जो दुर्गति में जाते हुए आत्मा को धार रक्खे, एतावता दुर्गति में न जाने देवे । तिस धर्म के तीन भेद हैं—१. सम्यक् ज्ञान, २. सम्यक् दर्शन, ३. सम्यक् चारित्र । इन तीनों में से प्रथम ज्ञान का स्वरूप संक्षेप से लिखते हैं:—

धर्म तत्त्व का स्वरूप

यथावस्थिततत्त्वानां, संक्षेपाद्विस्तरेण वा ।
योऽवबोधस्तमत्राहुः, सम्यग्ज्ञानं मनीषिणः ॥

[यो० शा०, प्र० १ श्लो० १६]

अर्थः—यथावस्थित—नय प्रमाणों करके प्रतिष्ठित है स्वरूप जिन का, ऐसे जो जीव, अजीव, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष रूप सप्त तत्त्व, तथा प्रकारांतर में पुण्य पाप के अधिक होने से नव तत्त्व होते हैं; इन का जो अवबोध अर्थात् ज्ञान, सो सम्यक् ज्ञान जानना । वह ज्ञान क्षयोपशम के विशेष से किसी जीव को संक्षेप से अरु किसी जीव को विस्तार से होता है । इन नव तत्त्वों में से प्रथम तत्त्व जो जीव है, तिस को आत्मा भी कहते हैं । अर्थात् जीव कहो अथवा आत्मा कहो, दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं ।

नंदी सूत्र में लिखा है। आत्माकी सिद्धि चार्वाक मतके खण्डन में लिख आये हैं। जे कर आत्मा की सिद्धि विशेष करके देखनी होवे, तो गंधहस्ती महाभाष्य देख लेना। तथा यह आत्मा सर्व व्यापी भी नहीं, और एकांत नित्य, तथा कूटस्थ भी नहीं है। एवं एकांत अनित्य–क्षणिक भी नहीं है। किंतु शरीर मात्र व्यापी कथंचित् नित्यानित्य रूप है। इन का अधिक खण्डन मण्डन देखना हो, तो स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका और अनेकांतजयपताका आदि शास्त्रों से देख लेना। मैंने इस वास्ते नहीं लिखा है, कि ग्रन्थ वड़ा भारी हो जावेगा, अरु पढ़ने वाले आलस करेंगे।

तहां जीव जो हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक मुक्त रूप, दूसरे संसारी, यह दोनों ही प्रकार के जीव स्वरूप से अनादि अनंत हैं, अरु ज्ञान दर्शन इन का लक्षण है। तथा जो मुक्त स्वरूप आत्मा है, वो सर्व एक स्वभाव है। अर्थात् जन्मादि क्लेशों करके वर्जित, अनंत दर्शन, अनंतवीर्य, और अनंत आनंदमय स्वरूप में स्थित, निर्विकार निरंजन और ज्योतिः स्वरूप है।

अरु जो संसारी जीव हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक स्थावर, दूसरे त्रस। उस में स्थावर के पांच भेद हैं—१. पृथिवीकाय, २. अप्काय, ३. तेजःकाय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय। तथा त्रस जीव के चार भेद हैं—१. दो इन्द्रिय, २. तीन इन्द्रिय, ३. चार इन्द्रिय, ४. पांच इन्द्रिय। तथा

नंदी सूत्र में लिखा है। आत्माकी सिद्धि चार्वाक मतके खण्डन में लिख आये हैं। जे कर आत्मा की सिद्धि विशेष करके देखनी होवे, तो गंधहस्ती महाभाष्य देख लेना। तथा यह आत्मा सर्व व्यापी भी नहीं, और एकांत नित्य, तथा कूटस्थ भी नहीं है। एवं एकांत अनित्य-क्षणिक भी नहीं है। किंतु शरीर मात्र व्यापी कथंचित् नित्यानित्य रूप है। इन का अधिक खण्डन मण्डन देखना हो, तो स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वादरत्नाकरावतारिका और अनेकांतजयपताका आदि शास्त्रों से देख लेना। मैंने इस वास्ते नहीं लिखा है, कि ग्रन्थ वड़ा भारी हो जावेगा, अरु पढ़ने वाले आलस करेंगे।

तहां जीव जो हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक मुक्त रूप, दूसरे संसारी, यह दोनों ही प्रकार के जीव स्वरूप से अनादि अनंत हैं, अरु ज्ञान दर्शन इन का लक्षण है। तथा जो मुक्त स्वरूप आत्मा है, वो सर्व एक स्वभाव है। अर्थात् जन्मादि क्लेशों करके वर्जित, अनंत दर्शन, अनंतवीर्य, और अनंत आनंदमय स्वरूप में स्थित, निर्विकार निरंजन और ज्योतिः स्वरूप है।

अरु जो संसारी जीव हैं, सो दो प्रकार के हैं। एक स्थावर, दूसरे त्रस। उस में स्थावर के पांच भेद हैं—१. पृथिवीकाय, २. अप्काय, ३. तेजःकाय, ४. वायुकाय, ५. वनस्पतिकाय। तथा त्रस जीव के चार भेद हैं—१. दो इन्द्रिय, २. तीन इन्द्रिय, ३. चार इन्द्रिय, ४. पांच इन्द्रिय। तथा

इन जीवों में एक मन के विना पांच पर्याप्ति हैं। पंचेंद्रिय जीवों में छे ही पर्याप्ति हैं। पृथिवीकाय, जलकाय, तेजः-काय, वायुकाय, इन चारों में असंख्य जीव हैं। तथा वनस्पतिकाय में से जो प्रत्येक वनस्पति है, उस में तो असंख्य जीव हैं; परंतु साधारण वनस्पति में अनंत जीव हैं। इन स्थावर अरु त्रस जीवों के जघन्य तो चौदह भेद हैं, मध्यम ५६३ भेद हैं, अरु उत्कृष्ट-अनंत भेद हैं। तिन में मध्यम चौदह भेद नरक वासियों के हैं। अडतालीस भेद तिर्यंच गति वालों के हैं, और तीन सौ तीन भेद मनुष्य गति वालों के हैं, १९८ भेद देवगति वालों के हैं, यह सर्व मध्यम भेद ५६३ हैं। इन का पूरा विचार देखना होवे, तो प्रज्ञापना सिद्धांत तथा जीव समास प्रकरणादि शास्त्रों से देख लेना।

प्रश्नः—हे जैन! दो इन्द्रियादिक जीव तो जीव लक्षण संयुक्त होने से जीव सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु पृथिवी आदि पांच स्थावरों में जीव हम कैसे मान लेवें? क्योंकि पृथिवी आदि में जीव का कोई भी चिन्ह उपलब्ध नहीं होता है।

स्थावर जीव की सिद्धि

उत्तरः—यद्यपि पृथिवी आदि में जीव के होने का प्रकट चिन्ह नहीं दीखता, तो भी इन में अव्यक्त रूप से जीव के चिन्ह दिखलाई देने से जीव सिद्ध होता है। जैसे धत्तूरे तथा मदिरा के नशे करके मूर्च्छित हुये जीवों में व्यक्त लिंग के अभाव होने से जीवपना है। तैसे ही पृथिवी आदि

इन जीवों में एक मन के विना पांच पर्याप्ति हैं । पंचेंद्रिय जीवों में छे ही पर्याप्ति हैं। पृथिवीकाय, जलकाय, तेजः-काय, वायुकाय, इन चारों में असंख्य जीव हैं । तथा वनस्पतिकाय में से जो प्रत्येक वनस्पति है, उस में तो असंख्य जीव हैं; परंतु साधारण वनस्पति में अनंत जीव हैं । इन स्थावर अरु त्रस जीवों के जघन्य तो चौदह भेद हैं, मध्यम ५६३ भेद हैं, अरु उत्कृष्ट-अनंत भेद हैं । तिन में मध्यम चौदह भेद नरक वासियों के हैं । अडतालीस भेद तिर्यंच गति वालों के हैं, और तीन सौ तीन भेद मनुष्य गति वालों के हैं, १९८ भेद देवगति वालों के हैं, यह सर्व मध्यम भेद ५६३ हैं । इन का पूरा विचार देखना होवे, तो प्रज्ञापना सिद्धांत तथा जीव समास प्रकरणादि शास्त्रों से देख लेना।

प्रश्नः—हे जैन ! दो इन्द्रियादिक जीव तो जीव लक्षण संयुक्त होने से जीव सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु पृथिवी आदि पांच स्थावरों में जीव हम कैसे मान लेवें ? क्योंकि पृथिवी आदि में जीव का कोई भी चिन्ह उपलब्ध नहीं होता है।

स्थावर जीव की सिद्धि

उत्तरः—यद्यपि पृथिवी आदि में जीव के होने का प्रकट चिन्ह नहीं दीखता, तो भी इन में अव्यक्त रूप से जीव के चिन्ह दिखलाई देने से जीव सिद्ध होता है । जैसे धत्तूरे तथा मदिरा के नशे करके मूर्च्छित हुये जीवों में व्यक्त लिंग के अभाव होने से जीवपना है। तैसे ही पृथिवी आदि

है। क्योंकि हम सर्व पुद्गल द्रव्य को द्रव्य शरीर मानते हैं। उस में जीव सहित तथा जीव रहित जो विशेषपना है, सो ऐसे है—शस्त्र करके अनुपहत जो पृथिवी आदिक हैं, सो हाथ पग के संघातवत् संघात न होने से वे कदाचित् सचेतन हैं, ऐसे ही कदाचित् शस्त्रोपहत होने से हाथादिकों की तरे अचेतन भी हैं।

प्रश्नः—प्रश्रवणवत् अर्थात् मूत्र की तरे जीव का लक्षण न होने से जल जीव नहीं है।

उत्तरः—तुमारा यह हेतु असिद्ध होने से ठीक नहीं है। तथाहि—हाथी के शरीर में कलल अवस्था में द्रवपना अरु सचेतन पना देखते हैं, ऐसे ही जल में भी चेतनता जाननी। तथा अंडे में रस मात्र है, अवयव कोई उत्पन्न हुआ नहीं, और व्यक्त—हाथ पग आदिक भी नहीं, तो भी वह सचेतन है। इसी प्रकार जल भी सचेतन है। यह इस में प्रयोग है—शस्त्र करके अनुपहत हुआ जल सचेतन है, द्रवरूप होने से, हस्तिशरीर के उपादान भूत कललवत्। इस हेतु में विशेषण के उपादान से अर्थात् ग्रहण से प्रश्रवण और दुग्ध आदि में व्यभिचार नहीं। तथा अनुपहत द्रव होने से अण्डे में रहे कललवत् सात्मक जल है। तथा हिमादि किसी एक अवस्था में अप्काय होने से इतर उदकवत् सचेतन है। तथा किसी जगे भूमि खनने से मेंडक की भांति स्वाभाविक संभव—उत्पन्न होने से जल सचेतन है, अथवा

है। क्योंकि हम सर्व पुद्गल द्रव्य को द्रव्य शरीर मानते हैं। उस में जीव सहित तथा जीव रहित जो विशेषपना है, सो ऐसे है—शस्त्र करके अनुपहत जो पृथिवी आदिक हैं, सो हाथ पग के संघातवत् संघात न होने से वे कदाचित् सचेतन हैं, ऐसे ही कदाचित् शस्त्रोपहत होने से हाथादिकों की तरे अचेतन भी हैं।

प्रश्नः—प्रश्रवणवत् अर्थात् मूत्र की तरे जीव का लक्षण न होने से जल जीव नहीं है।

उत्तरः—तुमारा यह हेतु असिद्ध होने से ठीक नहीं है। तथाहि—हाथी के शरीर में कलल अवस्था में द्रवपना अरु सचेतन पना देखते हैं, ऐसे ही जल में भी चेतनता जाननी। तथा अंडे में रस मात्र है, अवयव कोई उत्पन्न हुआ नहीं, और व्यक्त—हाथ पग आदिक भी नहीं, तो भी वह सचेतन है। इसी प्रकार जल भी सचेतन है। यह इस में प्रयोग है—शस्त्र करके अनुपहत हुआ जल सचेतन है, द्रवरूप होने से, हस्तिशरीर के उपादान भूत कललवत्। इस हेतु में विशेषण के उपादान से अर्थात् ग्रहण से प्रश्रवण और दुग्ध आदि में व्यभिचार नहीं। तथा अनुपहत द्रव होने से अण्डे में रहे कललवत् सात्मक जल है। तथा हिमादि किसी एक अवस्था में अप्काय होने से इतर उदकवत् सचेतन है। तथा किसी जगे भूमि खनने से मेंडक की भांति स्वाभाविक संभव—उत्पन्न होने से जल सचेतन है, अथवा

विना नहीं है; क्योंकि मृतक के शरीर में ज्वर कदापि नहीं होता है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक करके अग्नि सचित्त जाननी। यहां यह प्रयोग है—अंगार आदि का प्रकाश आत्मा के संयोग से प्रगट हुआ है, प्रकाश परिणाम शरीरस्थ होने से, खद्योत देह के परिणामवत्। तथा आत्मा के संयोग पूर्वक शरीरस्थ होने से ज्वरोष्णवत् अंगारादिकों में उष्णता है। तथा ऐसे भी मत कहना कि सूर्य की उष्मा के साथ यह हेतु अनैकांतिक है; क्योंकि सूर्यादिकों में जो उष्मा है, उस को भी आत्मसंयोग पूर्वक ही हम मानते हैं। तथा अग्नि सचेतन है, क्योंकि यथायोग्य आहार के करने से पुरुष के शरीर की तरह उस में वृद्धि आदि विकार की उपलब्धि होती है। इत्यादि लक्षणों करके अग्नि की सचेतनता है।

प्रश्नः—वायुकाय—पवन में सचेतनता की सिद्धि कैसे करोगे?

उत्तरः—जैसे देवता का शरीर शक्ति के प्रभाव करके, अरु मनुष्यों का शरीर अंजनादि विद्या मंत्र के प्रभाव करके अदृश्य हो जाने पर नेत्रों से नहीं दीखता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। ऐसे ही सूक्ष्म परिणाम होने से परमाणु की तरे वायुकाय भी नेत्रों से नहीं दीखता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। अग्नि करके दग्ध पाषाण खण्डगत अग्नि की भांति वह स्पष्ट उपलब्ध नहीं होता। प्रयोग यह है—कि वायु चेतनावान् है, दूसरों की प्रेरणा के विना नियम

विना नहीं है; क्योंकि मृतक के शरीर में ज्वर कदापि नहीं होता है। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक करके अग्नि सचित्त जाननी। यहां यह प्रयोग है—अंगार आदि का प्रकाश आत्मा के संयोग से प्रगट हुआ है, प्रकाश परिणाम शरीरस्थ होने से, खद्योत देह के परिणामवत्। तथा आत्मा के संयोग पूर्वक शरीरस्थ होने से ज्वरोष्मवत् अंगारादिकों में उष्णता है। तथा ऐसे भी मत कहना कि सूर्य की उष्मा के साथ यह हेतु अनैकांतिक है; क्योंकि सूर्यादिकों में जो उष्मा है, उस को भी आत्मसंयोग पूर्वक ही हम मानते हैं। तथा अग्नि सचेतन है, क्योंकि यथायोग्य आहार के करने से पुरुष के शरीर की तरह उस में वृद्धि आदि विकार की उपलब्धि होती है। इत्यादि लक्षणों करके अग्नि की सचेतनता है।

प्रश्नः—वायुकाय—पवन में सचेतनता की सिद्धि कैसे करोगे ?

उत्तरः—जैसे देवता का शरीर शक्ति के प्रभाव करके, अरु मनुष्यों का शरीर अंजनादि विद्या मंत्र के प्रभाव करके अदृश्य हो जाने पर नेत्रों से नहीं दीखता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। ऐसे ही सूक्ष्म परिणाम होने से परमाणु की तरे वायुकाय भी नेत्रों से नहीं दीखता, तो भी विद्यमान चेतना वाला है। अग्नि करके दग्ध पाषाण खण्डगत अग्नि की भांति वह स्पष्ट उपलब्ध नहीं होता। प्रयोग यह है—कि वायु चेतनावान् है, दूसरों की प्रेरणा के विना नियम

पुद्गल की गति में उपष्टंभक—सहायक है। यद्यपि जीव अरु पुद्गल स्वशक्ति से चलते हैं, तो भी चलने में धर्मास्तिकाय अपेक्षित कारण है। जैसे मच्छी जल में तरती तो अपनी शक्ति से है, परन्तु अपेक्षित कारण जल है। ऐसे ही जीव अरु पुद्गल की गति में सहायक धर्मास्तिकाय है। जहां लगि यह धर्मास्तिकाय है, तहां लगि लोक की मर्यादा है। जेकर धर्मास्तिकाय न मानिये, तो लोकालोक की मर्यादा न रहेगी। अरु जहां लगि धर्मास्तिकाय है, तहां लगि जीव पुद्गल गति करते हैं। इस का पूरा स्वरूप जैनमत के ग्रन्थ पढ़े विना नहीं जाना जा सकता।

दूसरा अधर्मास्तिकाय द्रव्य है। इस का सर्व स्वरूप धर्मास्तिकाय की तरे जानना। परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य, जीव पुद्गल की स्थिति में सहायक है। जैसे पथिक जन जव चलता चलता थक जाता है, तव किसी वृक्षादिक की छाया में वैठता है, सो वैठता तो वो आप ही है, परन्तु आश्रय विना नहीं वैठ सकता है। ऐसे ही जीव, पुद्गल स्थित तो आप ही होते हैं, परन्तु अपेक्षित कारण अधर्मास्तिकाय है।

तीसरा आकाशास्तिकाय द्रव्य है, इस का स्वरूप भी धर्मास्तिकायवत् जानना। परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य लोकालोक सर्वव्यापी है, अरु अवगाह दान लक्षण है— जीव पुद्गल के रहने में अवकाश दाता है। यह तीनों द्रव्य

पुद्गल की गति में उपष्टंभक-सहायक है। यद्यपि जीव अरु पुद्गल स्वशक्ति से चलते हैं, तो भी चलने में धर्मास्तिकाय अपेक्षित कारण है। जैसे मच्छी जल में तरती तो अपनी शक्ति से है, परन्तु अपेक्षित कारण जल है। ऐसे ही जीव अरु पुद्गल की गति में सहायक धर्मास्तिकाय है। जहां लगि यह धर्मास्तिकाय है, तहां लगि लोक की मर्यादा है। जेकर धर्मास्तिकाय न मानिये, तो लोकालोक की मर्यादा न रहेगी। अरु जहां लगि धर्मास्तिकाय है, तहां लगि जीव पुद्गल गति करते हैं। इस का पूरा स्वरूप जैनमत के ग्रन्थ पढ़े विना नहीं जाना जा सकता।

दूसरा अधर्मास्तिकाय द्रव्य है। इस का सर्व स्वरूप धर्मास्तिकाय की तरे जानना। परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य, जीव पुद्गल की स्थिति में सहायक है। जैसे पथिक जन जब चलता चलता थक जाता है, तब किसी वृक्षादिक की छाया में बैठता है, सो बैठता तो वो आप ही है, परन्तु आश्रय विना नहीं बैठ सकता है। ऐसे ही जीव, पुद्गल स्थित तो आप ही होते हैं, परन्तु अपेक्षित कारण अधर्मास्तिकाय है।

तीसरा आकाशास्तिकाय द्रव्य है, इस का स्वरूप भी धर्मास्तिकायवत् जानना। परन्तु इतना विशेष है, कि यह द्रव्य लोकालोक सर्वव्यापी है, अरु अवगाह दान लक्षण है— जीव पुद्गल के रहने में अवकाश दाता है। यह तीनों द्रव्य

हैं। इन से अधिक जो वर्णादि हैं, सो सब इन ही के मिलने से हो जाते हैं। इन पुद्गलों में अनंत शक्तियां, अनंत स्वभाव हैं। इन के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि निमित्तों के मिलने से विचित्र परिणाम हो जाते हैं।

पांचमा कालद्रव्य है, सो प्रसिद्ध है। यह पांच द्रव्य अजीव हैं। निमित्त पांच हैं, वे जैनश्वेतांवराचार्य श्रीसिद्धसेन दिवाकरकृत सम्मतितर्क ग्रंथ में लिखे हैं *। १. काल, २. स्वभाव, ३. नियति, ४. पूर्वकृत कर्म, ५. पुरुषकार। इन पांचों में से मात्र एक को मानना तो मिथ्याज्ञान अरु मिथ्यात्व है, तथा इन पांचों के समवाय को मानना सम्यक्ज्ञान अरु सम्यक्त्व है। इन पांच निमित्तों में से काल, स्वभाव, नियति, इन तीनों निमित्तों का स्वरूप क्रियावादी के मत के निरूपण में लिख आए हैं। अरु चौथे पूर्वकृत कर्म, का स्वरूप आगे कर्मों के स्वरूप में लिखेंगे। अरु पांचमा पुरुषकार, सो जीव के उद्यम का नाम है। इन पांचों निमित्तों से जगत् की प्रवृत्ति और निवृत्ति हो रही है। इन निमित्तों ही

---

* कालो सहाव णियई पूवक्कयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्तं॥

काल–स्वभाव–नियति–पूर्वकृत–पुरुषकाररूपा 'एकान्ताः' सर्वेऽपि एकका मिथ्यात्वम् त एव 'समुदिताः' परस्पराऽजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति तात्पर्यार्थः।

[सं० त० टी०, कां० ३ गा० ५३]

हैं। इन से अधिक जो वर्णादि हैं, सो सब इन ही के मिलने से हो जाते हैं। इन पुद्गलों में अनंत शक्तियां, अनंत स्वभाव हैं। इन के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि निमित्तों के मिलने से विचित्र परिणाम हो जाते हैं।

पांचमा कालद्रव्य है, सो प्रसिद्ध है। यह पांच द्रव्य अजीव हैं। निमित्त पांच हैं, वे जैनश्वेतांबराचार्य श्रीसिद्धसेन दिवाकरकृत सम्मतितर्क ग्रंथ में लिखे हैं *। १. काल, २. स्वभाव, ३. नियति, ४. पूर्वकृत कर्म, ५. पुरुषकार। इन पांचों में से मात्र एक को मानना तो मिथ्याज्ञान अरु मिथ्यात्व है, तथा इन पांचों के समवाय को मानना सम्यक्ज्ञान अरु सम्यक्त्व है। इन पांच निमित्तों में से काल, स्वभाव, नियति, इन तीनों निमित्तों का स्वरूप क्रियावादी के मत के निरूपण में लिख आए हैं। अरु चौथे पूर्वकृत कर्म, का स्वरूप आगे कर्मों के स्वरूप में लिखेंगे। अरु पांचमा पुरुषकार, सो जीव के उद्यम का नाम है। इन पांचों निमित्तों से जगत् की प्रवृत्ति और निवृत्ति हो रही है। इन निमित्तों ही

---

* कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेवा (व) समासओ होंति सम्मत्तं॥

काल–स्वभाव–नियति–पूर्वकृत–पुरुषकारणरूपा 'एकान्ताः' सर्वेऽपि एकका मिथ्यात्वम् त एव 'समुदिताः' परस्पराऽजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्ते इति तात्पर्यार्थः।

[सं० त० टी०, कां० ३ गा० ५३]

यह जो पुण्य की बात कही है, सो कुछ जैनियों को ही दान देने के वास्ते नहीं। किन्तु किसी मत वाला भी क्यों न हो, जो कोई भी अनुकंपा करके किसी को दान देवेगा, वो पुण्य का उपार्जन करेगा। परन्तु इतना विशेष है, कि पात्र को जो दान देना है, सो तो पुण्य अरु मोक्ष दोनों का ही हेतु है। तथा जो अनुकंपा करके सर्वजनों को देवेगा, सो केवल पुण्य का ही उपार्जन करेगा। जैनमत के किसी शास्त्र में पुण्य करने का निषेध नहीं। जैनमत के ऋषभदेवादि चौवीस तीर्थंकर भये हैं, उन्हों ने दीक्षा लेने से पहिले एक करोड़, आठ लाख सोनैये दिन दिन प्रति एक वर्ष तक दिये हैं। इसी कारण से जैनमत में प्रथम स्थान दान धर्म का है। तथा जैन मत के शास्त्रों में और भी कई तरे से पुण्य का उपार्जन करना लिखा है।

४२ प्रकार का पुण्य

अथ पुण्य का फल बैतालीस प्रकार करके भोगने में आता है। सो बैतालीस प्रकार लिखते हैं:—१. जिस के उदय से जीव साता-सुख भोगता है, सो सातावेदनीय। २. जिस के उदय से जीव क्षत्रियादि उच्च कुल में उत्पन्न होता है, सो उच्च गोत्र। ३. जिस के उदय से जीव मनुष्य गति में उत्पन्न होता है, सो मनुष्य गति। ४. जिस के उदय से जीव देव गति में उत्पन्न होता है, सो देवगति। ५. जिस के उदय से जीव अपांतराल गति में नियत देश—अनुश्रेणी

यह जो पुण्य की बात कही है, सो कुछ जैनियों को ही दान देने के वास्ते नहीं। किन्तु किसी मत वाला भी क्यों न हो, जो कोई भी अनुकंपा करके किसी को दान देवेगा, वो पुण्य का उपार्जन करेगा। परन्तु इतना विशेष है, कि पात्र को जो दान देना है, सो तो पुण्य अरु मोक्ष दोनों का ही हेतु है। तथा जो अनुकंपा करके सर्वजनों को देवेगा, सो केवल पुण्य का ही उपार्जन करेगा। जैनमत के किसी शास्त्र में पुण्य करने का निषेध नहीं। जैनमत के ऋषभदेवादि चौवीस तीर्थंकर भये हैं, उन्हों ने दीक्षा लेने से पहिले एक करोड़, आठ लाख सोनैये दिन दिन प्रति एक वर्ष तक दिये हैं। इसी कारण से जैनमत में प्रथम स्थान दान धर्म का है। तथा जैन मत के शास्त्रों में और भी कई तरे से पुण्य का उपार्जन करना लिखा है।

४२ प्रकार का पुण्य

अथ पुण्य का फल बैतालीस प्रकार करके भोगने में आता है। सो बैतालीस प्रकार लिखते हैं:—१. जिस के उदय से जीव साता-सुख भोगता है, सो सातावेदनीय। २. जिस के उदय से जीव क्षत्रियादि उच्च कुल में उत्पन्न होता है, सो उच्च गोत्र। ३. जिस के उदय से जीव मनुष्य गति में उत्पन्न होता है, सो मनुष्य गति। ४. जिस के उदय से जीव देव गति में उत्पन्न होता है, सो देवगति। ५. जिस के उदय से जीव अपांतराल गति में नियत देश—अनुश्रेणी

अंग हैं। तथा अंगुल्यादि उपांग हैं। शेष नखादि अंगोपांग हैं। जिस के उदय से जीव को आदि के तीन शरीरों में अंगोपांग की उत्पत्ति होवे, तिस का नाम तिन शरीर के अंगोपांग है। सो यह है—१३. औदारिक अंगोपांग, १४. वैक्रिय अंगोपांग, १५. आहारक अंगोपांग। १६. जिस के उदय से जीव आदि का संहनन—वज्रऋषभनाराच पाता है, सो वज्रऋषभनाराचसंहनन नामकर्म। तहां वज्र नाम कीलिका, अरु ऋषभ नाम परिवेष्टन-पट्ट अर्थात् ऊपर लपेटने का हाड़, तथा नाराच-मर्कटबंध है। इन तीनों रूपों करके जो उपलक्षित है, तिस को वज्रऋषभनाराचसंहनन कहते हैं। हाड के संचय सामर्थ्य का नाम संहनन है। यह संहनन औदारिक शरीर वालों में ही होता है। १७. जिस के उदय से जीव को आदि के समचतुरस्र संस्थान की प्राप्ति होवे। सो समचतुरस्र संस्थाननामकर्म की प्रकृति जाननी। तहां सम हैं चारों अस्र जिस के अर्थात् तुल्य शरीर लक्षण युक्त प्रमाण सहित, ऐसा आद्य संस्थान सुन्दराकार मनोहर होवे। अब वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, यह चारों कहते हैं। तिन में जिस के उदय से १८. वर्ण-कृष्णादिक, १९. रस-तिक्तादिक, २०. गंध-सुरभ्यादिक, २१. स्पर्श-मृदु आदिक, यह चारों शुभ होवे, सो वर्णादि चार प्रकृति जाननी। २२. जिस कर्म प्रकृति के उदय से जीव का शरीर न तो भारी होवे—जिस को जीव उठा न सके, अरु न तो हलका होवे—जो

अंग हैं। तथा अंगुल्यादि उपांग हैं। शेष नखादि अंगोपांग हैं। जिस के उदय से जीव को आदि के तीन शरीरों में अंगोपांग की उत्पत्ति होवे, तिस का नाम तिन शरीर के अंगोपांग है। सो यह है—१३. औदारिक अंगोपांग, १४. वैक्रिय अंगोपांग, १५. आहारक अंगोपांग। १६. जिस के उदय से जीव आदि का संहनन—वज्रऋषभनाराच पाता है, सो वज्रऋषभनाराचसंहनन नामकर्म। तहां वज्र नाम कीलिका, अरु ऋषभ नाम परिवेष्टन-पट्ट अर्थात् ऊपर लपेटने का हाड़, तथा नाराच-मर्कटबंध है। इन तीनों रूपों करके जो उपलक्षित है, तिस को वज्रऋषभनाराचसंहनन कहते हैं। हाड के संचय सामर्थ्य का नाम संहनन है। यह संहनन औदारिक शरीर वालों में ही होता है। १७. जिस के उदय से जीव को आदि के समचतुरस्र संस्थान की प्राप्ति होवे। सो समचतुरस्र संस्थाननामकर्म की प्रकृति जाननी। तहां सम हैं चारों अस्र जिस के अर्थात् तुल्य शरीर लक्षण युक्त प्रमाण सहित, ऐसा आद्य संस्थान सुन्दराकार मनोहर होवे। अब वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, यह चारों कहते हैं। तिन में जिस के उदय से १८. वर्ण-कृष्णादिक, १९. रस-तिक्तादिक, २०. गंध-सुरभ्यादिक, २१. स्पर्श-मृदु आदिक, यह चारों शुभ होवे, सो वर्णादि चार प्रकृति जाननी। २२. जिस कर्म प्रकृति के उदय से जीव का शरीर न तो भारी होवे—जिस को जीव उठा न सके, अरु न तो हलका होवे—जो

से जीव पीछे कही हुई छे पर्याप्ति पूर्ण करता है, सो पर्याप्त नामकर्म। ३२. जिस के उदय से प्रत्येक–एक एक जीव के एक एक शरीर होता है, सो प्रत्येक नामकर्म। ३३. जिस के उदय से जीव के हाड़ आदि अवयव स्थिर निश्चल होते हैं; सो स्थिर नामकर्म। ३४. जिस के उदय से जीव के शिर प्रमुख अवयव शुभ होते हैं, सो शुभ नामकर्म। ३५. जिस के उदय से जीव सौभाग्यवान् होता है, सो सुभग नामकर्म। ३६. जिस के उदय से जीव का स्वर कोकिलावत् रमणीक होवे, सो सुस्वर नामकर्म। ३७. जिस के उदय से जीव का उपादेय वचन होवे—जो कुछ कहे, सो हो जावे, सो आदेय नामकर्म। ३८. जिस के उदय से जीव की विशिष्ट कीर्त्ति-यश जगत् में विस्तरे–फैले, सो यशोनामकर्म। ३९. जिस के उदय से जीव की चौसठ इन्द्र पूजा करते हैं, अरु उपदेश द्वारा धर्म तीर्थ का कर्त्ता होवे, सो तीर्थंकर नामकर्म। ४०. तिर्यंचों का आयु। ४१. मनुष्यायु। ४२. देवायु। आयु उस को कहते हैं, कि जिस के उदय से जीव तिर्यंचादि भव में जाता है। जिस से यह पूर्वोक्त तीन आयु की जीव को प्राप्ति होती है, सो तीन आयु की प्रकृति जाननी। यह बैतालीस प्रकार करके पुण्य का फल भोगने में आता है।

४. अथ चौथा पापतत्त्व लिखते हैं। पाप उस को कहते हैं, कि जो आत्मा के आनंद रस को पीवे, अर्थात् नाश करे। यह पाप जो है, सो पुण्य से विपरीत, नरकादि फल का

से जीव पीछे कही हुई छे पर्याप्ति पूर्ण करता है, सो पर्याप्त नामकर्म। ३२. जिस के उदय से प्रत्येक-एक एक जीव के एक एक शरीर होता है, सो प्रत्येक नामकर्म। ३३. जिस के उदय से जीव के हाड़ आदि अवयव स्थिर निश्चल होते हैं; सो स्थिर नामकर्म। ३४. जिस के उदय से जीव के शिर प्रमुख अवयव शुभ होते हैं, सो शुभ नामकर्म। ३५. जिस के उदय से जीव सौभाग्यवान् होता है, सो सुभग नामकर्म। ३६. जिस के उदय से जीव का स्वर कोकिलावत् रमणीक होवे, सो सुस्वर नामकर्म। ३७. जिस के उदय से जीव का उपादेय वचन होवे—जो कुछ कहे, सो हो जावे, सो आदेय नामकर्म। ३८. जिस के उदय से जीव की विशिष्ट कीर्त्ति-यश जगत् में विस्तरे-फैले, सो यशोनामकर्म। ३९. जिस के उदय से जीव की चौंसठ इन्द्र पूजा करते हैं, अरु उपदेश द्वारा धर्म तीर्थ का कर्त्ता होवे, सो तीर्थंकर नामकर्म। ४०. तिर्यंचों का आयु। ४१. मनुष्यायु। ४२. देवायु। आयु उस को कहते हैं, कि जिस के उदय से जीव तिर्यंचादि भव में जाता है। जिस से यह पूर्वोक्त तीन आयु की जीव को प्राप्ति होती है, सो तीन आयु की प्रकृति जाननी। यह बैतालीस प्रकार करके पुण्य का फल भोगने में आता है।

४. अथ चौथा पापतत्त्व लिखते हैं। पाप उस को कहते हैं, कि जो आत्मा के आनंद रस को पीवे, अर्थात् नाश करे। यह पाप जो है, सो पुण्य से विपरीत, नरकादि फल का

पुण्य और पाप की सिद्धि

दिखाते हैं। सब में मनुष्यपना सदृश है, तो भी कोई स्वामी है, कोई दास है; कोई अपना ही नहीं किन्तु औरों का भी उदर भरते हैं, कोई अपना ही उदर नहीं भर सकते हैं। कोई देवता की तरे निरन्तर सुख भोग रहे हैं। इस वास्ते अनुभूयमान सुख दुःखों के निबंधन-कारण भूत पुण्य पाप ज़रूर मानने चाहियें। जब पुण्य पाप माने, तब तिनों के उत्कृष्ट फल भोगने के स्थान जो नरक स्वर्ग हैं, सो भी माने गये। जेकर न मानोगे, तब अर्द्ध जरतीय न्याय का प्रसंग होवेगा—आधा शरीर बूढ़ा, आधा जुवान। इस में यह प्रयोग अर्थात् अनुमान भी है—सुख दुःख कारणपूर्वक हैं, अंकुरवत् कार्य होने से। ये पुण्य पाप सुख दुःख के कारण हैं, इस वास्ते मानने चाहियें। जैसे अंकुर का बीज कारण है।

प्रतिवादीः—नीलादिक जो मूर्त्त पदार्थ हैं, वे नीलादिक जैसे स्वप्रतिभासी अमूर्त्त ज्ञान के कारण हैं। ऐसे ही अन्न, फूल, माला, चन्दन, स्त्री आदिक मूर्त्त-दृश्यमान ही अमूर्त्त सुख के कारण होवेंगे, तथा सर्प, विष और कंडे आदिक दुःख के कारण हैं। तो फिर अदृष्ट पुण्य पाप की कल्पना काहे को करते हो?

सिद्धांतीः—यह तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि इस कहने में व्यभिचार है। तथाहि—दो पुरुषों के पास तुल्य साधन भी हैं, तो भी फल में बड़ा भेद दिखता है। तुल्य

पुण्य और पाप की सिद्धि

दिखाते हैं। सब में मनुष्यपना सदृश है, तो भी कोई स्वामी है, कोई दास है; कोई अपना ही नहीं किन्तु औरों का भी उदर भरते हैं, कोई अपना ही उदर नहीं भर सकते हैं। कोई देवता की तरे निरन्तर सुख भोग रहे हैं। इस वास्ते अनुभूयमान सुख दुःखों के निबंधन-कारण भूत पुण्य पाप ज़रूर मानने चाहियें। जब पुण्य पाप माने, तब तिनों के उत्कृष्ट फल भोगने के स्थान जो नरक स्वर्ग हैं, सो भी माने गये। जेकर न मानोगे, तब अर्द्ध जरतीय न्याय का प्रसंग होवेगा—आधा शरीर वूढ़ा, आधा जुवान। इस में यह प्रयोग अर्थात् अनुमान भी है—सुख दुःख कारणपूर्वक हैं, अंकुरवत् कार्य होने से। ये पुण्य पाप सुख दुःख के कारण हैं, इस वास्ते मानने चाहियें। जैसे अंकुर का बीज कारण है।

प्रतिवादीः—नीलादिक जो मूर्त्त पदार्थ हैं, वे नीलादिक जैसे स्वप्रतिभासी अमूर्त्त ज्ञान के कारण हैं। ऐसे ही अन्न, फूल, माला, चन्दन, स्त्री आदिक मूर्त्त-दृश्यमान ही अमूर्त्त सुख के कारण होवेंगे, तथा सर्प, विष और कंडे आदिक दुःख के कारण हैं। तो फिर अदृष्ट पुण्य पाप की कल्पना काहे को करते हो?

सिद्धांतीः—यह तुमारा कहना अयुक्त है, क्योंकि इस कहने में व्यभिचार है। तथाहि—दो पुरुषों के पास तुल्य साधन भी हैं, तो भी फल में बड़ा भेद दिखता है। तुल्य

विना यत्न के मोक्ष हो जावेंगे, और प्रायः संसार शून्य हो जावेगा। तब संसार में दुःखी कोई भी न होवेगा। दानादि शुभ क्रिया के करने वाले तथा तिस का शुभ फल भोगने वाले ही रहने चाहिये। परन्तु संसार में दुःखी बहुत दीखते हैं, अरु सुखी थोड़े दीखते हैं। इस से जाना जाता है कि जो कृषि, वाणिज्य, हिंसादिक्रिया निबंधन अदृष्ट पाप का फल दुःखी जीवों को है, अरु सुखी जीवों को दानादि निबन्धन अदृष्ट धर्म का फल है।

प्रतिवादीः—जो सुखी है, वो हिंसादि क्रिया से है, अरु जो दुःखी है, वो धर्म दानादिक के फल से है, ऐसे क्यों न माना जावे?

सिद्धांतीः—ऐसे नहीं होता, क्योंकि अशुभ क्रिया–हिंसादि के करने वाले ही संसार में बहुत हैं, अरु शुभ क्रिया दानादिक के करने वाले थोड़े हैं। यह कारणानुमान है। अथ कार्यानुमान कहते हैं—जीवों में आत्मत्व के अविशेष होने पर भी नर पशु आदि के शरीरों के कार्यरूप होने से उन की विचित्रता का कोई कारण है; जैसे घट का दण्ड, चक्र, चीवरादि सामग्री संयुक्त कुम्भकार। तथा ऐसे भी मत कहना कि दृष्ट माता पिता ही इस देह के कारण हैं, न कि पुण्य पाप। क्योंकि माता पिता एक सरीखे भी हैं, तो भी पुत्रों के शरीर में विचित्रता देखते हैं, सो विचित्रता अदृष्ट-शुभाशुभ कर्म के विना नहीं हो सकती। इस वास्ते जो शुभ

विना यत्न के मोक्ष हो जावेंगे, और प्रायः संसार शून्य हो जावेगा। तब संसार में दुःखी कोई भी न होवेगा। दानादि शुभ क्रिया के करने वाले तथा तिस का शुभ फल भोगने वाले ही रहने चाहिये। परन्तु संसार में दुःखी बहुत दीखते हैं, अरु सुखी थोड़े दीखते हैं। इस से जाना जाता है कि जो कृषि, वाणिज्य, हिंसादिक्रिया निवंधन अदृष्ट पाप का फल दुःखी जीवों को है, अरु सुखी जीवों को दानादि निबन्धन अदृष्ट धर्म का फल है।

प्रतिवादीः—जो सुखी है, वो हिंसादि क्रिया से है, अरु जो दुःखी है, वो धर्म दानादिक के फल से है, ऐसे क्यों न माना जावे ?

सिद्धांतीः—ऐसे नहीं होता, क्योंकि अशुभ क्रिया–हिंसादि के करने वाले ही संसार में बहुत हैं, अरु शुभ क्रिया दानादिक के करने वाले थोड़े हैं। यह कारणानुमान है। अथ कार्यानुमान कहते हैं—जीवों में आत्मत्व के अविशेष होने पर भी नर पशु आदि के शरीरों के कार्यरूप होने से उन की विचित्रता का कोई कारण है; जैसे घट का दण्ड, चक्र, चीवरादि सामग्री संयुक्त कुम्भकार। तथा ऐसे भी मत कहना कि दृष्ट माता पिता ही इस देह के कारण हैं, न कि पुण्य पाप। क्योंकि माता पिता एक सरीखे भी हैं, तो भी पुत्रों के शरीर में विचित्रता देखते हैं, सो विचित्रता अदृष्ट-शुभाशुभ कर्म के विना नहीं हो सकती। इस वास्ते जो शुभ

पंच ज्ञानावरण

प्रकार का है। उस में मतिज्ञान और श्रुत-ज्ञान, ए दोनों अभिलाप-प्लावितार्थ-ग्रहणरूप ज्ञान हैं। तीसरा इन्द्रियों की अपेक्षा के विना आत्मा को साक्षात् अर्थ का ग्रहण कराने वाला ज्ञान, अवधि-ज्ञान चौथा मन में चिन्तित अर्थ का साक्षात् करने वाला ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, तथा पांचमा केवल-संपूर्ण निष्कलंक जो ज्ञान, सो केवल ज्ञान है। इन पांचों ज्ञानों का जो आव-रण सो ज्ञानावरण है। यथा—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। १. जिस के उदय से जीव निर्मति निष्प्रतिभ होता है, सो मतिज्ञानावरण, २. जिसके उदय से पठन करते भी जीव को कुछ न आवे, सो श्रुतज्ञानावरण, ३. जिस के उदय से अवधि ज्ञान न होवे, सो अवधिज्ञानावरण, ४. जिस के उदय से मनःपर्यवज्ञान न होवे, सो मनःपर्यवज्ञानावरण, ५. जिस के उदय से केवलज्ञान न होवे, सो केवलज्ञानावरण। यह पांच प्रकृति पापरुप हैं।

---

३. इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये विना, मर्यादा पूर्वक जिस से रूपी द्रव्य का ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४. इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये विना, मर्यादा पूर्वक जो संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता है, वह मनःपर्याय (पर्यव) ज्ञान है।

५. जिस के द्वारा संसार के त्रिकालवर्त्ती सभी पदार्थ सर्वथा एक साथ जाने जाते हैं, वह केवलज्ञान होता है।

पंच ज्ञानावरण

प्रकार का है। उस में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, ए दोनों अभिलाप-प्लावितार्थ-ग्रहणरूप ज्ञान हैं। तीसरा इन्द्रियों की अपेक्षा के विना आत्मा को साक्षात् अर्थ का ग्रहण कराने वाला ज्ञान, अवधिज्ञान चौथा मन में चिन्तित अर्थ का साक्षात् करने वाला ज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, तथा पांचमा केवल-संपूर्ण निष्कलंक जो ज्ञान, सो केवल ज्ञान है। इन पांचों ज्ञानों का जो आवरण सो ज्ञानावरण है। यथा—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्यवज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण। १. जिस के उदय से जीव निर्मति निष्प्रतिभ होता है, सो मतिज्ञानावरण, २. जिसके उदय से पठन करते भी जीव को कुछ न आवे, सो श्रुतज्ञानावरण, ३. जिस के उदय से अवधि ज्ञान न होवे, सो अवधिज्ञानावरण, ४. जिस के उदय से मनःपर्यवज्ञान न होवे, सो मनःपर्यवज्ञानावरण, ५. जिस के उदय से केवलज्ञान न होवे, सो केवलज्ञानावरण। यह पांच प्रकृति पापरुप हैं।

---

३. इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये विना, मर्यादा पूर्वक जिस से रूपी द्रव्य का ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

४. इन्द्रिय तथा मन की अपेक्षा किये विना, मर्यादा पूर्वक जो संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानता है, वह मनःपर्याय (पर्यव) ज्ञान है।

५. जिस के द्वारा संसार के त्रिकालवर्त्ती सभी पदार्थ सर्वथा एक साथ जाने जाते हैं, वह केवलज्ञान होता है।

र्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण ४. केवल दर्शनावरण। अरु निद्रा आदि जो पांच हैं, सोदर्शनावरण के क्षयोपशम करके लब्धात्मलाभ दर्शन लब्धियों का आवरक है। इस का भावार्थ यह है, कि चक्षु करके सामान्यग्राही जो बोध, सो चक्षुर्दर्शन, सो जिस के उदय करके तिस की लब्धि का विघात होवे, सो चक्षुर्दर्शनावरण। ऐसे ही अचक्षु करके-चक्षु को वर्ज के शेष चार इन्द्रिय तथा पांचमा मन, इन करके जो दर्शन, सो अचक्षुर्दर्शन, तिस का जो आवरण, सो अचक्षुर्दर्शनावरण। तथा रूपी पदार्थों का जो मर्यादा-पूर्वक देखना-सामान्यार्थका ग्रहण करना, सो अवधिदर्शन; तिस का जो आवरण, सो अवधिदर्शनावरण। तथा वर-प्रधान ज्ञायक होने से केवल, अनंत ज्ञेयके होने से जो अनंत दर्शन, सो केवलदर्शन, तिस का जो आवरण, सो केवल-दर्शनावरण। अरु जो चैतन्य का सर्व ओर से अति कुत्सित-पना करे, सो निद्रा। अर्थात् दर्शन उपयोग-सामान्य ग्रहण रूप, तिस का विघ्न करने वाली, सो निद्रा जाननी। तिस निद्रा के पांच भेद हैं। १. निद्रा, २. निद्रा निद्रा, ३. प्रचला, ४. प्रचलाप्रचला, ५. स्त्यानर्द्धि। तहां १. निद्रा उस को कहते हैं, कि जो चपटी-चुटकी बजाने से जाग उठे, सो सुखप्रतिबोध निद्रा। जिस के उदय से ऐसी निद्रा आवे तिस का नाम निद्रा है। तथा २. अतिशय करके जो निद्रा होवे, उस का नाम निद्रानिद्रा है, जैसे कि बहुत हलाने से

र्शनावरण, ३ अवधिदर्शनावरण ४. केवल दर्शनावरण । अरु निद्रा आदि जो पांच हैं, सो दर्शनावरण के क्षयोपशम करके लब्धात्मलाभ दर्शन लब्धियों का आवरक है । इस का भावार्थ यह है, कि चक्षु करके सामान्यग्राही जो बोध, सो चक्षुर्दर्शन, सो जिस के उदय करके तिस की लब्धि का विघात होवे, सो चक्षुर्दर्शनावरण। ऐसे ही अचक्षु करके-चक्षु को वर्ज के शेष चार इन्द्रिय तथा पांचमा मन, इन करके जो दर्शन, सो अचक्षुर्दर्शन, तिस का जो आवरण, सो अचक्षुर्दर्शनावरण। तथा रूपी पदार्थों का जो मर्यादा-पूर्वक देखना-सामान्यार्थका ग्रहण करना, सो अवधिदर्शन; तिस का जो आवरण, सो अवधिदर्शनावरण । तथा वर-प्रधान ज्ञायक होने से केवल, अनंत ज्ञेयके होने से जो अनंत दर्शन, सो केवलदर्शन, तिस का जो आवरण, सो केवल-दर्शनावरण। अरु जो चैतन्य का सर्व ओर से अति कुत्सित-पना करे, सो निद्रा। अर्थात् दर्शन उपयोग-सामान्य ग्रहण रूप, तिस का विघ्न करने वाली, सो निद्रा जाननी । तिस निद्रा के पांच भेद हैं। १. निद्रा, २. निद्रा निद्रा, ३. प्रचला, ४. प्रचलाप्रचला, ५. स्त्यानर्द्धि । तहां १. निद्रा उस को कहते हैं, कि जो चपटी-चुटकी बजाने से जाग उठे, सो सुखप्रतिबोध निद्रा। जिस के उदय से ऐसी निद्रा आवे तिस का नाम निद्रा है। तथा २. अतिशय करके जो निद्रा होवे, उस का नाम निद्रानिद्रा है, जैसे कि बहुत हलाने से

अरु कषायमोहनीय के सोलां भेद हैं। क्योंकि यह क्रोधादिक भी तत्त्वश्रद्धान से भ्रष्ट कर देते हैं। सो सोलां भेद इस प्रकार से हैं। १. अनंतानुबंधी क्रोध, २. अनंतानुबंधी मान, ३. अनंतानुबंधी माया, ४. अनंतानुबंधी लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसे ही प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसे ही संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। यह सर्व सोलह भेद कषायमोहनीय के हैं।

ये क्रोधादिक अनंत संसार के मूल कारण हैं। अनंतानुबंधी क्रोध का स्वभाव ऐसा है, कि जैसी पत्थर की रेखा। तात्पर्य कि जिस के साथ क्लेश हो जावे, फिर जहां लगि जीवे, तहां लगि रोष न छोड़े, सो अनंतानुबंधी क्रोध है। तथा मान पत्थर के स्तंभ सरीखा, कदापि नमे नहीं। तथा माया बांस की जड समान—कदापि सरल न होवे। तथा लोभ, कृमि के रंग के समान—कदापि दूर न होवे। इस प्रकार क्रोध, मान, माया, अरु लोभ करके युक्त जो परिणाम है तिस का नाम अनंतानुबंधी क्रोधादिक कर्म प्रकृति है। तथा अप्रत्याख्यान यहां नञ् अल्पार्थ का सूचक है, सो थोड़ा भी प्रत्याख्यान, जिस के उदय होने से नहीं होता है, उस को अप्रत्याख्यान कहते हैं। अब इस का स्वरूप कहते हैं। क्रोध पृथ्वी की रेखा समान, मान हाड़ के स्तंभ समान, माया मेष के सींग समान, लोभ कर्दम के दाग

अरु कषायमोहनीय के सोलां भेद हैं । क्योंकि यह क्रोधादिक भी तत्त्वश्रद्धान से भ्रष्ट कर देते हैं। सो सोलां भेद इस प्रकार से हैं। १. अनंतानुबंधी क्रोध, २. अनंतानुबंधी मान, ३. अनंतानुबंधी माया, ४. अनंतानुबंधी लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसे ही प्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया, लोभ। ऐसे ही संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ । यह सर्व सोलह भेद कषायमोहनीय के हैं।

ये क्रोधादिक अनंत संसार के मूल कारण हैं । अनंतानुबंधी क्रोध का स्वभाव ऐसा है, कि जैसी पत्थर की रेखा। तात्पर्य कि जिस के साथ क्लेश हो जावे, फिर जहां लगि जीवे, तहां लगि रोष न छोड़े, सो अनंतानुबंधी क्रोध है। तथा मान पत्थर के स्तंभ सरीखा, कदापि नमे नहीं। तथा माया बांस की जड समान—कदापि सरल न होवे। तथा लोभ, कृमि के रंग के समान—कदापि दूर न होवे। इस प्रकार क्रोध, मान, माया, अरु लोभ करके युक्त जो परिणाम है तिस का नाम अनंतानुबंधी क्रोधादिक कर्म प्रकृति है। तथा अप्रत्याख्यान यहां नञ् अल्पार्थ का सूचक है, सो थोड़ा भी प्रत्याख्यान, जिस के उदय होने से नहीं होता है, उस को अप्रत्याख्यान कहते हैं । अब इस का स्वरूप कहते हैं । क्रोध पृथ्वी की रेखा समान, मान हाड़ के स्तंभ समान, माया मेष के सींग समान, लोभ कर्दम के दाग

के उदय से खट्टी वस्तु की अभिलाषा होती है । यह पुरुष वेद का विकार ऐसा है, कि जैसी तृण की अग्नि। क्योंकि तृण की अग्नि एक वार ही प्रज्वलित होती है, अरु तत्काल शांत भी हो जाती है । ऐसे पुरुषवेद भी एक वार ही तत्काल उदय हो जाता है, फिर शांत भी तत्काल ही हो जाता है । ३. तथा जिस के उदय से स्त्री अरु पुरुष दोनों की अभिलाषा उत्पन्न होवे, सो नपुंसकवेद है। जैसे पित्त अरु कफ के उदय से खट्टी मीठी वस्तु की अभिलाषा होती है। इस नपुंसकवेद का उदय ऐसा है, कि जैसे मोटे नगर के दाह की अग्नि । यह तीन वेद हैं । ४. तथा जिस के उदय से सनिमित्त और निर्निमित्त हसना आवे, सो हास्यनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ५. तथा जिस के उदय से रमणीक वस्तुओं में रमे—खुशी माने, सो रतिनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ६. तथा इस से जो विपरीत होवे, सो अरतिनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ७. तथा जिस के उदय करके प्रियवियोगादि में विकल हुआ मन शोच, क्रंदन, और परिदेवन आदि करता है, सो शोकनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ८. तथा जिस के उदय से सनिमित्त अथवा विना निमित्त के भयभीत होवे, सो भयनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ९. तथा गंद आदि मलिन वस्तु के देखने से जो नाक चढ़ाना, तिस का जो हेतु है, सो जुगुप्सानामा मोहकर्म की प्रकृति है। यह नव नोकपाय मोहकर्म की प्रकृति हैं।

के उदय से खट्टी वस्तु की अभिलाषा होती है । यह पुरुष वेद का विकार ऐसा है, कि जैसी तृण की अग्नि। क्योंकि तृण की अग्नि एक वार ही प्रज्वलित होती है, अरु तत्काल शांत भी हो जाती है । ऐसे पुरुषवेद भी एक वार ही तत्काल उदय हो जाता है, फिर शांत भी तत्काल ही हो जाता है । ३. तथा जिस के उदय से स्त्री अरु पुरुष दोनों की अभिलाषा उत्पन्न होवे, सो नपुंसकवेद है। जैसे पित्त अरु कफ के उदय से खट्टी मीठी वस्तु की अभिलाषा होती है। इस नपुंसकवेद का उदय ऐसा है, कि जैसे मोटे नगर के दाह की अग्नि । यह तीन वेद हैं । ४. तथा जिस के उदय से सनिमित्त और निर्निमित्त हसना आवे, सो हास्यनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ५. तथा जिस के उदय से रमणीक वस्तुओं में रमे—खुशी माने, सो रतिनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ६. तथा इस से जो विपरीत होवे, सो अरतिनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ७. तथा जिस के उदय करके प्रियवियोगादि में विकल हुआ मन शोच, क्रंदन, और परिदेवन आदि करता है, सो शोकनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ८. तथा जिस के उदय से सनिमित्त अथवा विना निमित्त के भयभीत होवे, सो भयनामा मोहकर्म की प्रकृति है। ९. तथा गंद आदि मलिन वस्तु के देखने से जो नाक चढ़ाना, तिस का जो हेतु है, सो जुगुप्सानामा मोहकर्म की प्रकृति है। यह नव नोकपाय मोहकर्म की प्रकृति हैं।

उभयतो मर्कटबंधः" दोनों हाड़ों को दोनों पासे मर्कटबंध से बांध के पट्टे की आकृति के समान हाड़ की पट्टी पर जिस का वेष्टन है, सो दूसरा ऋषभनाराच संहनन है । तथा वज्र ऋषभ करके हीन दोनों पासे मर्कटबंध युक्त तीसरा नाराच नामक संहनन है। तथा एक पासे मर्कटबंध अरु दूसरे पासे कीलिका करके बींधा हुआ हाड़, यह चौथा अर्धनाराचनामा संहनन है । तथा ऋषभ अरु नाराच, इन करके वर्जित, मात्र कीलिका करके वींधे हुये दोनों हाड़, ऐसा जो हाड का संचय, सो चौथा कीलिका नामा संहनन है। दोनों हाड़ों का स्पर्श पर्यंत लक्षण है जिस में तथा मूठी चांपी कराने में आर्त्त—पीडित, सो सेवार्त्त नामा संहनन है।

तथा आद्य संस्थान को वर्ज के १. न्यग्रोध परिमंडल, २. सादि ३. वामन ४. कुब्ज, ५. हुंडक; यह पांच संस्थान हैं। इन का स्वरूप नीचे लिखते हैं, तहां १. न्यग्रोधवत्—वड़वृक्ष की तरें परिमंडल, न्यग्रोधपरिमण्डल है, जैसे वड़वृक्ष ऊपर से सम्पूर्ण अवयववाला होता है, तैसे नीचे नहीं होता है। ऐसे ही यह संस्थान नाभि के ऊपर तो विस्तार बाहुल्य, संपूर्ण लक्षणवाला होता है, अरु नाभि के नीचे सम्पूर्ण लक्षण नहीं, सो न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है । २. सादि, जिस में नाभि से नीचे का देह का विभाग तो लक्षणों करके पूर्ण, अरु नाभि से ऊपर का भाग लक्षण में विसंवादी होवे, तिस का नाम सादिसंस्थान है। ३. हाथ, पग, शिर,

उभयतो मर्कटबंधः" दोनों हाड़ों को दोनों पासे मर्कटबंध से बांध के पट्टे की आकृति के समान हाड़ की पट्टी पर जिस का वेष्टन है, सो दूसरा ऋषभनाराच संहनन है । तथा वज्र ऋषभ करके हीन दोनों पासे मर्कटबंध युक्त तीसरा नाराच नामक संहनन है। तथा एक पासे मर्कटबंध अरु दूसरे पासे कीलिका करके बांधा हुआ हाड़, यह चौथा अर्धनाराचनामा संहनन है । तथा ऋषभ अरु नाराच, इन करके वर्जित, मात्र कीलिका करके बंधे हुये दोनों हाड़, ऐसा जो हाड का संचय, सो चौथा कीलिका नामा संहनन है। दोनों हाड़ों का स्पर्श पर्यंत लक्षण है जिस में तथा मूठी चांपी कराने में आर्त्त—पीडित, सो सेवार्त्त नामा संहनन है।

तथा आद्य संस्थान को वर्ज के १. न्यग्रोध परिमंडल, २. सादि ३. वामन ४. कुब्ज, ५. हुंडक; यह पांच संस्थान हैं। इन का स्वरूप नीचे लिखते हैं, तहां १. न्यग्रोधवत्–वड़वृक्ष की तरें परिमंडल, न्यग्रोधपरिमण्डल है, जैसे वड़वृक्ष ऊपर से सम्पूर्ण अवयववाला होता है, तैसे नीचे नहीं होता है। ऐसे ही यह संस्थान नाभि के ऊपर तो विस्तार वाहुल्य, संपूर्ण लक्षणवाला होता है, अरु नाभि के नीचे सम्पूर्ण लक्षण नहीं, सो न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है । २. सादि, जिस में नाभि से नीचे का देह का विभाग तो लक्षणों करके पूर्ण, अरु नाभि से ऊपर का भाग लक्षण में विसंवादी होवे, तिस का नाम सादिसंस्थान है। ३. हाथ, पग, शिर,

हायोगतिनाम। तथा २५. जिस के उदय से पृथिवी आदिक एकेंद्रिय स्थावरकाय में प्राणी उत्पन्न होता है, अरु स्थावर नाम से कहा जाता है, सो स्थावर नाम। २६. जिस के प्रभाव से लोकव्यापी सूक्ष्म पृथ्विी आदि जीवों में जीव उत्पन्न होता है, सो सूक्ष्म नाम। २७. जिसके उदय से आहार पर्याप्ति आदिक पूर्वोक्त पर्याप्तियें पूरी न होवें, सो अपर्याप्त नाम। २८. जिस के उदय से अनन्त जीवों का साधारण-एक शरीर होवे, सो साधारण नाम। २९. जिसके उदय से जिह्वादि अवयव, शरीर में अस्थिर होवें, सो अस्थिर नाम। ३०. जिस के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होवें; सो अशुभ नाम। उस का किसी को हाथ लग जावे, तो वह रोष नहीं करता, परन्तु पग लगने से क्रोध करता है, इस वास्ते अशुभनाम है। ३१. जिस के उदय से जीव को जो २ देखे, तिस २ को वो जीव अनिष्ट लगे-उद्वेगकारी होवे, सो असुभगनाम। ३२. जिस के उदय से कठोर, भिन्न, हीन, दीन स्वर वाला जीव होवे, सो दुःस्वर नाम। ३३. जिस के उदय से चाहे युक्ति युक्त भी बोले, तो भी तिस का कहना कोई न माने, सो अनादेय नाम। ३४. जिस के उदय से जीव, ज्ञान विज्ञान दानादिक गुण युक्त भी है, तो भी जगत् में उस की यश-कीर्ति नहीं होती बल्कि उलटी निंदा होती है, सो अयशःकीर्ति नाम। यह नाम कर्म की चौतीस पाप प्रकृति कही हैं।

हायोगतिनाम। तथा २५. जिस के उदय से पृथिवी आदिक एकेंद्रिय स्थावरकाय में प्राणी उत्पन्न होता है, अरु स्थावर नाम से कहा जाता है, सो स्थावर नाम। २६. जिस के प्रभाव से लोकव्यापी सूक्ष्म पृथ्वी आदि जीवों में जीव उत्पन्न होता है, सो सूक्ष्म नाम। २७. जिसके उदय से आहार पर्याप्ति आदिक पूर्वोक्त पर्याप्तियें पूरी न होवें, सो अपर्याप्त नाम। २८. जिस के उदय से अनन्त जीवों का साधारण-एक शरीर होवे, सो साधारण नाम। २९. जिसके उदय से जिह्वादि अवयव, शरीर में अस्थिर होवें, सो अस्थिर नाम। ३०. जिस के उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होवें; सो अशुभ नाम। उस का किसी को हाथ लग जावे, तो वह रोष नहीं करता, परन्तु पग लगने से क्रोध करता है, इस वास्ते अशुभनाम है। ३१. जिस के उदय से जीव को जो २ देखे, तिस २ को वो जीव अनिष्ट लगे-उद्वेगकारी होवे, सो असुभगनाम। ३२. जिस के उदय से कठोर, भिन्न, हीन, दीन स्वर वाला जीव होवे, सो दुःस्वर नाम। ३३. जिस के उदय से चाहे युक्ति युक्त भी बोले, तो भी तिस का कहना कोई न माने, सो अनादेय नाम। ३४. जिस के उदय से जीव, ज्ञान विज्ञान दानादिक गुण युक्त भी है, तो भी जगत् में उस की यश-कीर्ति नहीं होती बल्कि उलटी निंदा होती है, सो अयशःकीर्ति नाम। यह नाम कर्म की चौतीस पाप प्रकृति कही हैं।

क्योंकि तुम हमारे कहे का अभिप्राय नहीं जानते। हमारा अभिप्राय तो यह है, कि जो कुछ भी इस जगत् में होता है, सो निमित्त के बिना नहीं होता है, यह जो भिल्ल, कोल, धांगड, धाणक, गधीले, चंडाल, थोरी, वाघरी, सांसी, कंजर प्रमुख असभ्य जाति के लोग हैं, सो गामों के बाहिर जंगलों में रहते हैं। अनेक प्रकार के क्लेश सहते हैं। काले, दुर्गंध वाले, रूप में बुरे, कुत्सित शरीर वाले होते हैं। सुंदर खाने को नहीं मिलता। यह सब इन को किसी निमित्त से प्राप्त है? अथवा निमित्त के विना? जेकर कहो कि विना ही निमित्त है, तब तो तुम नास्तिक मति हो। इस नास्तिक मत का खण्डन हम पूर्व लिख आये हैं। जे कर कहो कि सनिमित्तक है, तब तो ऐसे असभ्य जाति के कुल में उत्पन्न होने का कारण भी ज़रूर होना चाहिये, कि जिस के उदय से ऐसे कुल में उत्पन्न होता है। तिस का ही नाम नीच गोत्र है। इस नीच गोत्र के प्रभाव से और भी बहुत पाप प्रकृतियों का उदय होता है, जिस से वे दुःखादि क्लेश पाते हैं। तथा च बुद्धिहीनता, जालम-स्वभाव, निर्दयता, कुत्सित आहार, पशुओं की तरे जंगलों में वास, धर्म कर्म से पराङ्मुख, सत्संग रहित, गम्यागम्य के विवेक रहित, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय विचार शून्यता, इन सब का मुख्य कारण नीच गोत्र है। जैसे धनवान् और निर्धन दोनों एक सरीखे नहीं हो सकते हैं, तैसे ही नीच-

क्योंकि तुम हमारे कहे का अभिप्राय नहीं जानते। हमारा अभिप्राय तो यह है, कि जो कुछ भी इस जगत् में होता है, सो निमित्त के बिना नहीं होता है, यह जो भिल्ल, कोल, धांगड, धाणक, गधीले, चंडाल, थोरी, बाघरी, सांसी, कंजर प्रमुख असभ्य जाति के लोग हैं, सो गामों के बाहिर जंगलों में रहते हैं। अनेक प्रकार के क्लेश सहते हैं। काले, दुर्गंध वाले, रूप में बुरे, कुत्सित शरीर वाले होते हैं। सुंदर खाने को नहीं मिलता। यह सब इन को किसी निमित्त से प्राप्त है? अथवा निमित्त के बिना? जेकर कहो कि बिना ही निमित्त है, तब तो तुम नास्तिक मति हो। इस नास्तिक मत का खण्डन हम पूर्व लिख आये हैं। जे कर कहो कि सनिमित्तक है, तब तो ऐसे असभ्य जाति के कुल में उत्पन्न होने का कारण भी ज़रूर होना चाहिये, कि जिस के उदय से ऐसे कुल में उत्पन्न होता है। तिस का ही नाम नीच गोत्र है। इस नीच गोत्र के प्रभाव से और भी बहुत पाप प्रकृतियों का उदय होता है, जिस से वे दुःखादि क्लेश पाते हैं। तथा च बुद्धिहीनता, जालम-स्वभाव, निर्दयता, कुत्सित आहार, पशुओं की तरे जंगलों में वास, धर्म कर्म से पराङ्मुख, सत्संग रहित, गम्यागम्य के विवेक रहित, भक्ष्याभक्ष्य और पेयापेय विचार शून्यता, इन सब का मुख्य कारण नीच गोत्र है। जैसे धनवान् और निर्धन दोनों एक सरीखे नहीं हो सकते हैं, तैसे ही नीच-

का भी विभाग है। यह व्यवहार ब्राह्मण अरु जैनों ने ही नहीं बनाया, किंतु यह अच्छे बुरे कर्मों के उदय से है। यह परस्पर जाति का आहार न खाने का व्यवहार मिश्रदेश में भी था। इस वास्ते ऊंच नीच जाति होती है।

तथा आयु कर्म में से नरकायु की प्रकृति पाप में गिनी जाती है, नरक शब्द की व्युत्पत्ति ऐसे है:—

नरान् प्रकृष्टपापफलभोगाय गुरुपापकारिणः प्राणिनो नरानित्युपलक्षणात्वात् कायंति शब्दयंतीति नरकास्तेष्वायुस्तद्भवप्रायोग्यसकलकर्मप्रकृतिविपाकानुभवकारणं प्राणधारणं यत्तन्नरकायुष्कं तद्विपाकवेद्यकर्मप्रकृतिरपि नरकायुष्कमिति।

तथा वेदनीय कर्म की असातावेदनीय पाप प्रकृति में गिनी जाती है। असाता नाम दुःख का है, जिस के उदय से जीव दुःख भोगता है, तिस का नाम असातावेदनीय है।

यह ज्ञानावरणीय पांच, अंतराय पांच, दर्शनावरणीय नव, मोहनीय छब्बीस, नाम कर्म की चौतीस, नीच गोत्र एक, तथा असातावेदनीय एक, सब मिल कर ब्यासी प्रकार से पाप फल भोगने में आता है।

अथ आश्रवतत्त्व लिखते हैं। मिथ्यात्वादि आश्रव के हेतु

का भी विभाग है । यह व्यवहार ब्राह्मण अरु जैनों ने ही नहीं बनाया, किंतु यह अच्छे बुरे कर्मों के उदय से है। यह परस्पर जाति का आहार न खाने का व्यवहार मिश्रदेश में भी था। इस वास्ते ऊंच नीच जाति होती है।

तथा आयु कर्म में से नरकायु की प्रकृति पाप में गिनी जाती है, नरक शब्द की व्युत्पत्ति ऐसे है:—

नरान् प्रकृष्टपापफलभोगाय गुरुपापकारिणः प्राणिनो नरानित्युपलक्षणत्वात् कायंति शब्दयंतीति नरकास्तेष्वायुस्तद्भवप्रायोग्यसकलकर्मप्रकृतिविपाकानुभवकारणं प्राणधारणं यत्तन्नरकायुष्कं तद्विपाकवेद्यकर्मप्रकृतिरपि नरकायुष्कमिति ।

तथा वेदनीय कर्म की असातावेदनीय पाप प्रकृति में गिनी जाती है । असाता नाम दुःख का है, जिस के उदय से जीव दुःख भोगता है, तिस का नाम असातावेदनीय है।

यह ज्ञानावरणीय पांच, अंतराय पांच, दर्शनावरणीय नव, मोहनीय छब्बीस, नाम कर्म की चौतीस, नीच गोत्र एक, तथा असातावेदनीय एक, सब मिल कर व्यासी प्रकार से पाप फल भोगने में आता है।

अथ आश्रवतत्त्व लिखते हैं। मिथ्यात्वादि आश्रव के हेतु

दोनों में परस्पर कार्य कारण भाव का नियम है। इस वास्ते यहां पर इतरेतर दूषण नहीं है, प्रवाह की अपेक्षा करके यह अनादि है।

यह आश्रव पुण्य और पाप बंध का हेतु होने से दो प्रकार का है। यह दोनों भेदों के मिथ्यात्वादि उत्तर भेदों के उत्कर्षापकर्ष, अर्थात् अधिक न्यून होने से अनेक प्रकार हैं। इस शुभाशुभ मन वचन काये के व्यापार रूप आश्रव की सिद्धि अपनी आत्मा में स्वसंवेदनादि प्रत्यक्ष से है। दूसरों में वचन के व्यापार की प्रत्यक्ष से सिद्धि है, और शेष की तिस के कार्यप्रभव अनुमान तथा आप्तप्रणीत आगम से जाननी।

आश्रव के उत्तर भेद बैतालीस हैं, सो लिखते हैं। पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पच्चीस क्रिया, तीन योग, यह बैतालीस भेद हैं।

आश्रव के ४२ भेद

जीव रूप तलाव में कर्म रूप पाणी जिस करके आवे, सो आश्रव है। तहां इन्द्रिय पांच हैं, तिनका स्वरूप इस प्रकार है—१. स्पर्श किया जावे स्वविषय-स्पर्श लक्षण जिस करके, सो स्पर्शनेन्द्रिय, २. "रस्यते आस्वाद्यते रसोऽनयेति" आस्वादित करें—रस लेवें जिस करके, सो रसना 'जिह्वा' इन्द्रिय। ३. सूंघा जावे गंध जिस करके, सो घ्राणेंद्रिय—नासिकेंद्रिय ४. चक्षु—लोचन। ५. सुना जावे शब्द जिस करके, सो श्रोत्रें-

दोनों में परस्पर कार्य कारण भाव का नियम है । इस वास्ते यहां पर इतरेतर दूषण नहीं है, प्रवाह की अपेक्षा करके यह अनादि है ।

यह आश्रव पुण्य और पाप बंध का हेतु होने से दो प्रकार का है । यह दोनों भेदों के मिथ्यात्वादि उत्तर भेदों के उत्कर्षापकर्ष, अर्थात् अधिक न्यून होने से अनेक प्रकार हैं। इस शुभाशुभ मन वचन काये के व्यापार रूप आश्रव की सिद्धि अपनी आत्मा में स्वसंवेदनादि प्रत्यक्ष से है । दूसरों में वचन के व्यापार की प्रत्यक्ष से सिद्धि है, और शेष की तिस के कार्यप्रभव अनुमान तथा आप्तप्रणीत आगम से जाननी ।

आश्रव के उत्तर भेद बैतालीस हैं, सो लिखते हैं । पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, पच्चीस क्रिया, तीन योग, यह बैतालीस भेद हैं ।

आश्रव के ४२ भेद

जीव रूप तलाव में कर्म रूप पाणी जिस करके आवे, सो आश्रव है। तहां इन्द्रिय पांच हैं, तिनका स्वरूप इस प्रकार है–१. स्पर्श किया जावे स्वविषय–स्पर्श लक्षण जिस करके, सो स्पर्शनेंद्रिय, २. "रस्यते आस्वाद्यते रसोऽनयेति" आस्वादित करें—रस लेवें जिस करके, सो रसना 'जिह्वा' इन्द्रिय । ३. सूंघा जावे गंध जिस करके, सो घ्राणेंद्रिय—नासिकेंद्रिय ४. चक्षु—लोचन । ५. सुना जावे शब्द जिस करके, सो श्रोत्रें-

अभिमान करे और दूसरों को तुच्छ समझे, सो ऐश्वर्यमद। इस प्रकार से मान के आठ भेद हैं। तथा तीसरी माया, सो "मयति गच्छति" अर्थात् जिसके प्रभाव से जीव परवंचना के निमित्त विकार को प्राप्त होवे, उस को माया—कपट कहते हैं। तथा जिस करके परधन में गृद्धि होवे, तिस को लोभ कहते हैं। इन चारों को कषाय कहते हैं।

अब पांच अव्रत कहते हैं। तहां पांच इन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, उच्छ्वासनिःश्वास, आयु, यह दस प्राण हैं। इन दस प्राणों के योग से जीव को भी प्राण कहते हैं। तिन प्राणों का जो वध—हनना अर्थात् मारना, सो प्रथम प्राणवध अव्रत जानना। २. झूठ बोलने का नाम मृषावाद है। ३. दूसरों की वस्तु चुरा लेने का नाम अदत्तादान है। ४. स्त्री पुरुष का जो जोड़ा, तिस का नाम मिथुन है, इन दोनों के मिलने का जो कर्म, सो मैथुन—अब्रह्म सेवन। तथा ५. "परिगृह्यते" सर्व ओर से अंगीकार किये जायं चार गति के निबंधन कर्म जिस करके, सो परिग्रह। इन पांचों के चार चार भेद हैं, सो कहते हैं।

हिंसा आदि अव्रत के चार २ भंग

१. एक द्रव्य से हिंसा है, परन्तु भाव से नहीं, २. एक द्रव्य से हिंसा नहीं, परन्तु भाव से है, ३. एक द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा है, ४. एक द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं। यह प्रथम अव्रत के चार भेद कहे। तिस में प्रथम भंग—भेद का

अभिमान करे और दूसरों को तुच्छ समझे, सो ऐश्वर्यमद। इस प्रकार से मान के आठ भेद हैं। तथा तीसरी माया, सो "मयति गच्छति" अर्थात् जिसके प्रभाव से जीव परवंचना के निमित्त विकार को प्राप्त होवे, उस को माया—कपट कहते हैं। तथा जिस करके परधन में गृद्धि होवे, तिस को लोभ कहते हैं। इन चारों को कषाय कहते हैं।

अब पांच अव्रत कहते हैं। तहां पांच इन्द्रिय, मनोबल, वचनबल, कायबल, उच्छ्वासनिःश्वास, आयु, यह दस प्राण हैं। इन दस प्राणों के योग से जीव को भी प्राण कहते हैं। तिन प्राणों का जो वध—हनना अर्थात् मारना, सो प्रथम प्राणवध अव्रत जानना। २. झूठ बोलने का नाम मृषावाद है। ३. दूसरों की वस्तु चुरा लेने का नाम अदत्तादान है। ४. स्त्री पुरुष का जो जोड़ा, तिस का नाम मिथुन है, इन दोनों के मिलने का जो कर्म, सो मैथुन—अब्रह्म सेवन। तथा ५. "परिगृह्यते" सर्व ओर से अंगीकार किये जायं चार गति के निबंधन कर्म जिस करके, सो परिग्रह। इन पांचों के चार चार भेद हैं, सो कहते हैं।

हिंसा आदि अव्रत के चार २ भंग

१. एक द्रव्य से हिंसा है, परन्तु भाव से नहीं, २. एक द्रव्य से हिंसा नहीं, परन्तु भाव से है, ३. एक द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा है, ४. एक द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं। यह प्रथम अव्रत के चार भेद कहे। तिस में प्रथम भंग—भेद का

है । वो चाहता है कि मेरे शत्रु के घर में आग लग जावे, मरी पड़ जावे, नदी में डूब जावे, चोरी हो जावे, बंदीखाने में पड़े, तथा वेष बदल के भलामानस बन के ठगबाज़ी करे, तथा अगले का बुरा करने के वास्ते अनेक प्रकार से उस को विश्वास में लावे, तथा फकीरी का वेष करके लोगों से धन एकठा करे, इत्यादि । तथा साधु के गुण तो उस में नहीं हैं, परन्तु लोगों में अपने आपको गुणी प्रकट करे, इत्यादिक कामों में द्रव्य हिंसा तो नहीं करता, परन्तु भाव से तो वो पुरुषहिंसक है, इस का फल अनन्त संसार में भ्रमण करने के सिवाय और कुछ नहीं । यह दूसरा भंग ।

तीसरे भंग में प्रकट रूप से इन्द्रियों के विषय में गृद्ध हो कर जीव हिंसा करनी, जैसे कि कसाई, खटिक, वागुरी, अहेडी—शिकारी करते हैं । तथा विश्वासघात करना अरु मन में आनंद मानना, इत्यादि का समावेश है । इस का फल दुर्गति है । यह द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा है । यह तीसरा भंग ।

चौथा भंग द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं । उस को अहिंसा कहना यह भंग शून्य है, इस भंग वाला कोई भी जीव नहीं ।

ऐसे ही झूठ के भी चार भेद हैं । तिन का स्वरूप कहते हैं । साधु रास्ते में चला जाता है, तिस के आगे हो कर एक जंगली गौओं का तथा मृगादि जानवरों का टोला

है । वो चाहता है कि मेरे शत्रु के घर में आग लग जावे, मरी पड़ जावे, नदी में डूब जावे, चोरी हो जावे, बंदीखाने में पड़े, तथा वेष बदल के भलामानस बन के ठगबाज़ी करे, तथा अगले का बुरा करने के वास्ते अनेक प्रकार से उस को विश्वास में लावे, तथा फकीरी का वेष करके लोगों से धन एकठा करे, इत्यादि । तथा साधु के गुण तो उस में नहीं हैं, परन्तु लोगों में अपने आपको गुणी प्रकट करे, इत्यादिक कामों में द्रव्य हिंसा तो नहीं करता, परन्तु भाव से तो वो पुरुषहिंसक है, इस का फल अनन्त संसार में भ्रमण करने के सिवाय और कुछ नहीं । यह दूसरा भंग।

तीसरे भंग में प्रकट रूप से इन्द्रियों के विषय में गृद्ध हो कर जीव हिंसा करनी, जैसे कि कसाई, खटिक, वागुरी, अहेडी—शिकारी करते हैं। तथा विश्वासघात करना अरु मन में आनंद मानना, इत्यादि का समावेश है। इस का फल दुर्गति है। यह द्रव्य से भी हिंसा है, अरु भाव से भी हिंसा है। यह तीसरा भंग।

चौथा भंग द्रव्य से भी हिंसा नहीं, अरु भाव से भी हिंसा नहीं। उस को अहिंसा कहना यह भंग शून्य है, इस भंग वाला कोई भी जीव नहीं।

ऐसे ही झूठ के भी चार भेद हैं। तिन का स्वरूप कहते हैं। साधु रास्ते में चला जाता है, तिस के आगे हो कर एक जंगली गौओं का तथा मृगादि जानवरों का टोला

वास्ते उस को राज से वाहिर ले जावे । तो व्यवहार में उस राजा की उसने आज्ञा भंग रूप चोरी करी है, परन्तु वास्तव में वो चोर नहीं । इसी तरे और जगा में भी जान लेना। यह प्रथम भंग। दूसरे भंग में चोरी तो नहीं करता, परन्तु चोरी करने का मन उस का है, तथा जो भगवान् वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा भंग करने वाला है, सो भी भाव चोर है, यह दूसरा भङ्ग । तथा तीसरे भङ्ग में चोरी भी करता है, अरु मन में भी चोरी करने का भाव है, यह तीसरा भङ्ग है । अरु चौथा भङ्ग तो पूर्ववत् शून्य है।

ऐसे ही मैथुन के चार भङ्ग कहते हैं । जो साधु जल में डूवती साधवीको देख कर काढ़ने के वास्ते पकड़े, तथा धर्मी गृहस्थ छत से गिरती अपनी बहिन वेटी को पकड़े, तथा बावरी होकर दौड़ती हुई को पकड़े। यह द्रव्य से मैथुन है, परन्तु भाव से नहीं, यह प्रथम भङ्ग । तथा द्रव्य से तो मैथुन सेवना नहीं है, परन्तु मैथुन सेवने की अभिलाषा बड़ी करता है; सो भाव से मैथुन है, यह दूसरा भङ्ग । तथा तीसरे भङ्ग में तो द्रव्य अरु भाव दोनों से मैथुन सेवता है। चौथा भङ्ग पूर्ववत् शून्य है।

ऐसे ही परिग्रह के चार भङ्ग कहते हैं। जैसे कोई मुनि कायोत्सर्ग कर रहा है, उस के गले में कोई हारादिक आभूषण गेर—डाल देवे, वो द्रव्य से तो परिग्रह दीखता है; परन्तु भाव से वह परिग्रह नहीं है, यह प्रथम भङ्ग । तथा

वास्ते उस को राज से बाहिर ले जावे । तो व्यवहार में उस राजा की उसने आज्ञा भंग रूप चोरी करी है, परन्तु वास्तव में वो चोर नहीं । इसी तरे और जगा में भी जान लेना। यह प्रथम भंग। दूसरे भंग में चोरी तो नहीं करता, परन्तु चोरी करने का मन उस का है, तथा जो भगवान् वीतराग सर्वज्ञ की आज्ञा भंग करने वाला है, सो भी भाव चोर है, यह दूसरा भङ्ग । तथा तीसरे भङ्ग में चोरी भी करता है, अरु मन में भी चोरी करने का भाव है, यह तीसरा भङ्ग है । अरु चौथा भङ्ग तो पूर्ववत् शून्य है।

ऐसे ही मैथुन के चार भङ्ग कहते हैं । जो साधु जल में डूबती साध्वीको देख कर काढ़ने के वास्ते पकड़े, तथा धर्मी गृहस्थ छत से गिरती अपनी बहिन बेटी को पकड़े, तथा बावरी होकर दौड़ती हुई को पकड़े। यह द्रव्य से मैथुन है, परन्तु भाव से नहीं, यह प्रथम भङ्ग । तथा द्रव्य से तो मैथुन सेवना नहीं है, परन्तु मैथुन सेवने की अभिलाषा बड़ी करता है; सो भाव से मैथुन है, यह दूसरा भङ्ग । तथा तीसरे भङ्ग में तो द्रव्य अरु भाव दोनों से मैथुन सेवता है। चौथा भङ्ग पूर्ववत् शून्य है।

ऐसे ही परिग्रह के चार भङ्ग कहते हैं। जैसे कोई मुनि कायोत्सर्ग कर रहा है, उस के गले में कोई हारादिक आभूषण गेर—डाल देवे, वो द्रव्य से तो परिग्रह दीखता है; परन्तु भाव से वह परिग्रह नहीं है, यह प्रथम भङ्ग । तथा

माया प्रधान प्रवृत्ति, सो मायाप्रात्ययिकी क्रिया। ६. मिथ्यात्व ही है प्रत्यय-कारण जिसका सो मिथ्यादर्शनप्रात्ययिकी क्रिया १०. संयम के विघातक कषायों के उदय से प्रत्याख्यान का न करना, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया। ११. रागादि कलुपित भाव से जो जीव अजीव को देखना, सो दर्शन क्रिया। १२. राग, द्वेष, और मोह युक्त चित्तसे जो स्त्री आदिकों के शरीर का स्पर्श करना, सो स्पर्शन क्रिया। १३. प्रथम अंगीकार करे हुये पापोपादान-कारण अधिकरण की अपेक्षा से जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो प्रातीत्यकी क्रिया। १४. समंतात्—सर्व ओर से उपनिपात—आगमन होवे, स्त्री आदिक जीवों का जिस स्थान में (भोजनादिक में) सो समंतोपनिपात, तहां जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो सामंतोपनिपातिकी क्रिया। १५. जो परोपदेशित पाप में चिरकाल प्रवृत्त रहे, उस पाप की जो भाव से अनुमोदना करे, सो नैसृष्टिकी क्रिया। १६. अपने हाथ करके जो करे, जैसे कि कोई पुरुप वड़े अभिमान से क्रोधित हो कर जो काम उस के नौकर कर सकते हैं, उस काम को अपने हाथ से करे, सो स्वाहस्तिकी क्रिया। १७. भगवत् अर्हंत की आज्ञा का उल्लंघन करके अपनी वुद्धि से जीवाजीवादि पदार्थों के प्ररूपण द्वारा जो क्रिया, सो आज्ञापनिकी क्रिया। १८. दूसरों के अन होये खोटे आचरण का प्रकाश करना, उन की पूजा का नाश करना, तिस से जो उत्पन्न होवे, सो वैदारणिकी क्रिया। १९. आभोग नाम

माया प्रधान प्रवृत्ति, सो मायाप्रात्ययिकी क्रिया। ९. मिथ्यात्व ही है प्रत्यय-कारण जिसका सो मिथ्यादर्शनप्रात्ययिकी क्रिया १०. संयम के विघातक कषायों के उदय से प्रत्याख्यान का न करना, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया। ११. रागादि कलुषित भाव से जो जीव अजीव को देखना, सो दर्शन क्रिया। १२. राग, द्वेष, और मोह युक्त चित्तसे जो स्त्री आदिकों के शरीर का स्पर्श करना, सो स्पर्शन क्रिया। १३. प्रथम अंगीकार करे हुये पापोपादान-कारण अधिकरण की अपेक्षा से जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो प्रातीत्यकी क्रिया। १४. समंतात्—सर्व ओर से उपनिपात—आगमन होवे, स्त्री आदिक जीवों का जिस स्थान में (भोजनादिक में) सो समंतोपनिपात, तहां जो क्रिया उत्पन्न होवे, सो सामंतोपनिपातिकी क्रिया। १५. जो परोपदेशित पाप में चिरकाल प्रवृत्त रहे, उस पाप की जो भाव से अनुमोदना करे, सो नैसृष्टिकी क्रिया। १६. अपने हाथ करके जो करे, जैसे कि कोई पुरुष वड़े अभिमान से क्रोधित हो कर जो काम उस के नौकर कर सकते हैं, उस काम को अपने हाथ से करे, सो स्वाहस्तिकी क्रिया। १७. भगवत् अर्हंत की आज्ञा का उल्लंघन करके अपनी बुद्धि से जीवाजीवादि पदार्थों के प्ररूपण द्वारा जो क्रिया, सो आज्ञापनिकी क्रिया। १८. दूसरों के अन होये खोटे आचरण का प्रकाश करना, उन की पूजा का नाश करना, तिस से जो उत्पन्न होवे, सो वैदारणिकी क्रिया। १९. आभोग नाम

कायिकी क्रिया दो प्रकार की है, एक अनुपरत कायिकी क्रिया, दूसरी अनुपयुक्त कायिकी क्रिया । उस में दुष्ट मिथ्यादृष्टि जीव के मन वचन की अपेक्षा से रहित पर जीवों को पीडाकारी, ऐसा जो काया का उद्यम, सो प्रथम भेद है। तथा प्रमत्त संयत का जो विना उपयोग के अनेक कर्त्तव्य रूप काया का व्यापार, सो दूसरा भेद । २. दूसरी आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार से है । एक संयोजना, दूसरी निवर्त्तना। उस में विष, गरल, फांसी, धनु, यंत्र, तलवार आदि शस्त्रों का जीवों के मारने वास्ते जो संयोजन अर्थात् मिलाप करना, जैसे धनुष अरु तीर का मिलाप करना, इसी तरें सर्व जानना, यह प्रथम भेद । तथा तलवार, तोमर, शक्ति, तोप, बंदूक, इन का जो नये सिरे से बनाना, यह दूसरा भेद । ३. जिन निमित्तों से क्रोध उत्पन्न होवे, सो निमित्त जीव अजीव भेद से दो प्रकार के हैं। उस में जीव तो प्राणी, अरु अजीव खूंटा, कांटा, पत्थर कंकर आदि, इन के ऊपर द्वेष करे। ४. तथा अपने हाथों करके, अरु पर के हाथों करके, जीव को ताडना-पीडा देनी सो परितापना। इस परितापना के दो भेद हैं, एक तो स्व-अपने आप को पीडा देनी, जैसे पुत्र कलत्रादि के वियोग से दुःखी होकर अपने हाथों से छाती और सिर का कूटना, यह प्रथम भेद। तथा पुत्र शिष्यादि को ताडना—पीटना, यह दूसरा भेद। ५. पांचमी प्राणातिपातिकी क्रिया के दो भेद हैं, एक तो अपने आप का घात करना, जैसे कि

कायिकी क्रिया दो प्रकार की है, एक अनुपरत कायिकी क्रिया, दूसरी अनुपयुक्त कायिकी क्रिया। उस में दुष्ट मिथ्यादृष्टि जीव के मन वचन की अपेक्षा से रहित पर जीवों को पीडाकारी, ऐसा जो काया का उद्यम, सो प्रथम भेद है। तथा प्रमत्त संयत का जो विना उपयोग के अनेक कर्त्तव्य रूप काया का व्यापार, सो दूसरा भेद। २. दूसरी आधिकरणिकी क्रिया दो प्रकार से है। एक संयोजना, दूसरी निवर्त्तना। उस में विष, गरल, फांसी, धनु, यंत्र, तलवार आदि शस्त्रों का जीवों के मारने वास्ते जो संयोजन अर्थात् मिलाप करना, जैसे धनुष अरु तीर का मिलाप करना, इसी तरें सर्व जानना, यह प्रथम भेद। तथा तलवार, तोमर, शक्ति, तोप, बंदूक, इन का जो नये सिरे से बनाना, यह दूसरा भेद। ३. जिन निमित्तों से क्रोध उत्पन्न होवे, सो निमित्त जीव अजीव भेद से दो प्रकार के हैं। उस में जीव तो प्राणी, अरु अजीव खूंटा, कांटा, पत्थर कंकर आदि, इन के ऊपर द्वेष करे। ४. तथा अपने हाथों करके, अरु पर के हाथों करके, जीव को ताडना-पीडा देनी सो परितापना। इस परितापना के दो भेद हैं, एक तो स्व-अपने आप को पीडा देनी, जैसे पुत्र कलत्रादि के वियोग से दुःखी होकर अपने हाथों से छाती और सिर का कूटना, यह प्रथम भेद। तथा पुत्र शिष्यादि को ताडना—पीटना, यह दूसरा भेद। ५. पांचमी प्राणातिपातिकी क्रिया के दो भेद हैं, एक तो अपने आप का घात करना, जैसे कि

तथा अजीव को—प्रतिमादि को ताड़े, बाँधे, सो स्वाहस्तिकी क्रिया, १७. जीव अजीव की मिथ्या प्ररूपणा करनी, तथा जीव अजीव को मंत्र से मंगवाना, सो आज्ञापनिकी क्रिया। १८. जीव और अजीव को विदारणा, सो वैदारणिकी क्रिया। १९. विना उपयोग से जो वस्तु लेवे, तथा भूमिकादि पर छोड़े, सो अनाभोगिकी क्रिया। २०. इस लोक में और परलोक में विरुद्ध ऐसा जो चोरी परदारागमनादिक है, उनको सेवे, मन में डरे नहीं, सो अनवकांक्षा प्रात्ययिकी क्रिया। २१. मन, वचन, काया का जो सावद्य-पापसहित व्यापार, सो प्रायोगिकी क्रिया। २२. अष्टविध कर्म परमाणुओं का जो ग्रहण करना, सो समादान क्रिया। २३. राग जनक वीणादि का जो शब्दादि व्यापार, सो प्रेमप्रात्ययिकी क्रिया, २४. अपने ऊपर तथा पर के ऊपर जो द्वेष करना, सो द्वेषप्रात्ययिकी क्रिया। २५. केवल योग से जो क्रिया, सो केवली की ईर्यापथिकी क्रिया। यह पच्चीस क्रिया का स्वरूप संक्षेप मात्र लिखा है। यद्यपि इन क्रियाओं में कितनीक क्रिया आपस में एक सरीखी दीखती हैं, तो भी एक सरीखी नहीं हैं। इन का अच्छी तरें स्वरूप देखना होवे, तो गंधहस्तीभाष्य देख लेना।

अथ योग तीन हैं, सो लिखते हैं। १. मन का व्यापार, सो मनोयोग; २. वचन का व्यापार, सो वचनयोग; ३. काया का व्यापार, सो काययोग।

यह सर्व मिल कर वैतालीस भेद आश्रवतत्त्व के होते

तथा अजीव को—प्रतिमादि को ताड़े, बाँधे, सो स्वाहस्तिकी क्रिया, १७. जीव अजीव की मिथ्या प्ररूपणा करनी, तथा जीव अजीव को मंत्र से मंगवाना, सो आज्ञापनिकी क्रिया। १८. जीव और अजीव को विदारणा, सो वैदारणिकी क्रिया। १९. विना उपयोग से जो वस्तु लेवे, तथा भूमिकादि पर छोड़े, सो अनाभोगिकी क्रिया। २०. इस लोक में और परलोक में विरुद्ध ऐसा जो चोरी परदारागमनादिक है, उनको सेवे, मन में डरे नहीं, सो अनवकांक्षा प्रात्ययिकी क्रिया। २१. मन, वचन, काया का जो सावद्य-पापसहित व्यापार, सो प्रायोगिकी क्रिया। २२. अष्टविध कर्म परमाणुओं का जो ग्रहण करना, सो समादान क्रिया। २३. राग जनक वीणादि का जो शब्दादि व्यापार, सो प्रेमप्रात्ययिकी क्रिया, २४. अपने ऊपर तथा पर के ऊपर जो द्वेष करना, सो द्वेषप्रात्ययिकी क्रिया। २५. केवल योग से जो क्रिया, सो केवली की ईर्यापथिकी क्रिया। यह पच्चीस क्रिया का स्वरूप संक्षेप मात्र लिखा है। यद्यपि इन क्रियाओं में कितनीक क्रिया आपस में एक सरीखी दीखती हैं, तो भी एक सरीखी नहीं हैं। इन का अच्छी तरें स्वरूप देखना होवे, तो गंधहस्तीभाष्य देख लेना।

अथ योग तीन हैं, सो लिखते हैं। १. मन का व्यापार, सो मनोयोग; २. वचन का व्यापार, सो वचनयोग; ३. काया का व्यापार, सो काययोग।

यह सर्व मिल कर बैतालीस भेद आश्रव तत्त्व के होते

को दूर करने के वास्ते धूमादि का यत्न भी न करे, तथा तिन के निवारण के वास्ते पंखा भी न करे, इस प्रकार से दंश-मशक परिषह को सहे। ६. अचेलपरिषह, चेल नाम वस्त्र का है, सो शीर्ण अर्थात् फटे हुए और जीर्ण भी होवे, तो भी अकल्पित वस्त्र न लेवे, सो अचेल परिषह। सर्वथा वस्त्रों के अभाव का नाम अचेल परिषह नहीं। क्योंकि आगम में जो वस्त्रादिक रखने का जो प्रमाण कहा है, उस प्रमाण में रखना परिग्रह नहीं है। परिग्रह उसको कहते हैं, कि जो मूर्च्छा रक्खे। उक्तं चः—

* जंपि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
तंपि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ॥

---

* छाया—यद्यपि वस्त्रं च पात्रं च, कम्बलं पादपुंछनम् ।
तदपि संयम लज्जार्थं धारयन्ति परिहन्ति च ॥
न सः परिग्रह उक्तो ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्त इत्युक्तं महर्षिणा ॥

भावार्थ—यद्यपि वस्त्र, पात्र, कंवल, रजोहरणादि उपकरण साधु ग्रहण करते एवं उपभोग करते हैं, तथापि वे सब संयम की रक्षा के लिये है। अतः भगवान् महावीर स्वामी ने उन्हें परिग्रह नहीं कहा, अपितु मूर्च्छा–ममत्व को ही परिग्रह कहा है। ऐसा गणधर देव का कथन है।

को दूर करने के वास्ते धूमादि का यत्न भी न करे, तथा तिन के निवारण के वास्ते पंखा भी न करे, इस प्रकार से दंश-मशक परिषह को सहे। ६. अचेलपरिषह, चेल नाम वस्त्र का है, सो शीर्ण अर्थात् फटे हुए और जीर्ण भी होवे, तो भी अकल्पित वस्त्र न लेवे, सो अचेल परिषह। सर्वथा वस्त्रों के अभाव का नाम अचेल परिषह नहीं। क्योंकि आगम में जो वस्त्रादिक रखने का जो प्रमाण कहा है, उस प्रमाण में रखना परिग्रह नहीं है। परिग्रह उसको कहते हैं, कि जो मूर्च्छा रक्खे। उक्तं चः—

* जंपि वत्थं व पायं वा कंबलं पायपुंछणं ।
तंपि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इअ वुत्तं महेसिणा ॥

---

* छाया—यद्यपि वस्त्रं च पात्रं च, कम्बलं पादपुंछनम् ।
तदपि संयम लज्जार्थं धारयन्ति परिहन्ति च ॥
न सः परिग्रह उक्तो ज्ञातपुत्रेण त्रायिणा ।
मूर्च्छा परिग्रह उक्त इत्युक्तं महर्षिणा ॥

भावार्थ—यद्यपि वस्त्र, पात्र, कंबल, रजोहरणादि उपकरण साधु ग्रहण करते एवं उपभोग करते हैं, तथापि वे सब संयम की रक्षा के लिये है। अतः भगवान् महावीर स्वामी ने उन्हें परिग्रह नहीं कहा, अपितु मूर्च्छा-ममत्व को ही परिग्रह कहा है। ऐसा गणधर देव का कथन है।

करना युक्त नहीं, क्योंकि इसका फल यह स्वयं भोगेगा। ऐसे चिन्तन करके आक्रोशपरिषह को सहे। १३. वधपरिषह, हाथ आदि करके ताडना करना-मारना, तिसका सहन करना वध परिषह है। सो इस रीति से कि यह जो मेरा शरीर है, सो अवश्य विध्वंस होवेगा, तथा इस शरीर के सम्बन्ध से मेरे को जो दुःख होता है, सो मेरे करे हुए कर्म का फल है। इस बुद्धि से वध परिषह को सहे। १४. याचना नाम मांगने का है, तथा सर्वही वस्त्र अन्नादिक साधुओं को मांगने से ही मिलता है। इस बुद्धि से याचना परिषह को सहे। १५. साधु को किसी वस्तु की इच्छा है, अरु वो वस्तु गृहस्थ के घर में भी बहुत है, साधु मांगने को गया, परन्तु गृहस्थ देता नहीं, तब साधु मन में विषाद न करे, अरु देने वाले का बुरा भी न चितवे, दुर्वचन भी न बोले, समता करे, आज नहीं मिला, तो कलको मिल जायगा, इस तरह अलाभपरिषह को सहे। १६. रोग-ज्वर अतिसारादि जब हो जावे, तब गच्छ के बाहर जो साधु होवे, सो तो कोई भी औषधि न खावे, अरु जो गच्छवासी साधु होवे, सो गुरु लाघवता का विचार करके रोग परिषह को सहे। तथा जो रीति शास्त्र में औषध ग्रहण करनेकी कही है, तिस रीति से करे। १७. तृणस्पर्श परिषह, दर्भादिक कठोर तृण का स्पर्श सहे। १८. मलपरिषह, साधु के शरीर में पसीना आने से रजका पुंज शरीर में लगने से कठिन मैल लग जाता है, अरु उष्ण

करना युक्त नहीं, क्योंकि इसका फल यह स्वयं भोगेगा। ऐसे चिन्तन करके आक्रोशपरिषह को सहे। १३. वधपरिषह, हाथ आदि करके ताडना करना-मारना, तिसका सहन करना वध परिषह है। सो इस रीति से कि यह जो मेरा शरीर है, सो अवश्य विध्वंस होवेगा, तथा इस शरीर के सम्बन्ध से मेरे को जो दुःख होता है, सो मेरे करे हुए कर्म का फल है। इस बुद्धि से वध परिषह को सहे। १४. याचना नाम मांगने का है, तथा सर्वही वस्त्र अन्नादिक साधुओं को मांगने से ही मिलता है। इस बुद्धि से याचना परिषह को सहे। १५. साधु को किसी वस्तु की इच्छा है, अरु वो वस्तु गृहस्थ के घर में भी बहुत है, साधु मांगने को गया, परन्तु गृहस्थ देता नहीं, तब साधु मन में विषाद न करे, अरु देने वाले का बुरा भी न चिंतवे, दुर्वचन भी न बोले, समता करे, आज नहीं मिला, तो कलको मिल जायगा, इस तरह अलाभपरिषह को सहे। १६. रोग-ज्वर अतिसारादि जब हो जावे, तब गच्छ के बाहर जो साधु होवे, सो तो कोई भी औषधि न खावे, अरु जो गच्छवासी साधु होवे, सो गुरु लाघवता का विचार करके रोग परिषह को सहे। तथा जो रीति शास्त्र में औषध ग्रहण करनेकी कही है, तिस रीति से करे। १७. तृणस्पर्श परिषह, दर्भादिक कठोर तृण का स्पर्श सहे। १८. मलपरिषह, साधु के शरीर में पसीना आने से रजका पुंज शरीर में लगने से कठिन मैल लग जाता है, अरु उष्ण

की विकलता को मन में न लाना, सो दर्शनपरिषह है। यह बाईस परिषह जो साधु जीते, सो संवरी—संवरवाला कहा जाता है, इन परिषहों का विस्तार देखना होवे, तो श्रीशांतिसूरिकृत उत्तराध्ययन सूत्र की बृहद्वृत्ति, तथा तत्त्वार्थ सूत्र की भाष्यवृत्ति देख लेनी।

अथ पांच प्रकार का चारित्र लिखते हैं। १. सामायिक चारित्र, २. छेदोपस्थापनिका चारित्र, ३. परिहारविशुद्धि चारित्र, ४. सूक्ष्मसंपराय चारित्र, ५. यथाख्यात चारित्र, यह पांच प्रकार का चारित्र है। इन पांचों के धारक साधु भी जैनमत में पांच प्रकार के हैं। इस काल में प्रथम के दो प्रकार के चारित्र के धारक साधु हैं। अरु तीन चारित्र व्यवच्छेद हो गए हैं। इन पांचों का विस्तार देखना होवे तो श्रीदेवाचार्यकृत नवतत्त्व प्रकरण की टीका तथा भगवती अरु पन्नवणासूत्र की वृत्ति देख लेनी। यह सर्व मिल कर सत्तावन भेद आश्रव के रोकने वाले हैं।

अथ निर्जरा तत्त्व लिखते हैं। निर्जरा उस को कहते हैं, जो बांधे हुये कर्मों को खेरु करे—खेरे अर्थात् आत्मा से अलग करे, जिस से निर्जरा होती है, तिस का नाम तप है। सो तप बारह प्रकार का है, उस का स्वरूप गुरुतत्त्व के निरूपण में संक्षेप से लिख आये हैं, वहां से जान लेना। अरु जेकर विस्तार देखना होवे, तो नवतत्त्वप्रकरणवृत्ति तथा श्रीवर्द्धमानसूरिकृत

निर्जरा तत्त्व

की विकलता को मन में न लाना, सो दर्शनपरिग्रह है। यह बाईस परिषह जो साधु जीते, सो संवरी—संवरवाला कहा जाता है, इन परिषहों का विस्तार देखना होवे, तो श्रीशांतिसूरिकृत उत्तराध्ययन सूत्र की बृहद्वृत्ति, तथा तत्त्वार्थ सूत्र की भाष्यवृत्ति देख लेनी।

अथ पांच प्रकार का चारित्र लिखते हैं। १. सामायिक चारित्र, २. छेदोपस्थापनिका चारित्र, ३. परिहारविशुद्धि चारित्र, ४. सूक्ष्मसंपराय चारित्र, ५. यथाख्यात चारित्र, यह पांच प्रकार का चारित्र है। इन पांचों के धारक साधु भी जैनमत में पांच प्रकार के हैं। इस काल में प्रथम के दो प्रकार के चारित्र के धारक साधु हैं। अरु तीन चारित्र व्यवच्छेद हो गए हैं। इन पांचों का विस्तार देखना होवे तो श्रीदेवाचार्यकृत नवतत्त्व प्रकरण की टीका तथा भगवती अरु पन्नवणासूत्र की वृत्ति देख लेनी। यह सर्व मिल कर सत्तावन भेद आश्रव के रोकने वाले हैं।

अथ निर्जरा तत्त्व लिखते हैं। निर्जरा उस को कहते हैं, जो बांधे हुये कर्मों को खेरु करे—बखेरे अर्थात् आत्मा से अलग करे, जिस से निर्जरा होती है, तिस का नाम तप है। सो तप बारह प्रकार का है, उस का स्वरूप गुरुतत्त्व के निरूपण में संक्षेप से लिख आये हैं, वहां से जान लेना। अरु जेकर विस्तार देखना होवे, तो नवतत्त्वप्रकरणवृत्ति तथा श्रीवर्द्धमानसूरिकृत

निर्जरा तत्त्व

भी काहे से करेगा ? इस वास्ते यह प्रथम विकल्प मिथ्या है।

दूसरा विकल्प—कर्म पहले थे अरु जीव पीछे से बना है, यह भी मिथ्या है। क्योंकि जीवों के विना वो कर्म किस ने करे ? कारण कि कर्त्ताके विना कर्म कदापि हो नहीं सकते। तथा प्रथम के कर्मों का फल भी इस जीव को नहीं होना चाहिये, क्योंकि वो कर्म जीव के करे हुए नहीं हैं। जेकर कर्म के करे विना भी कर्म फल होवे, तब तो अतिप्रसंग दूषण होवेगा। तब तो विना कर्म करे ईश्वर भी कर्म फल भोगने के वास्ते नरककुंड में जा गिरेगा। तथा जीव भी पीछे काहे से बनेगा ? क्योंकि जीव का उपादान कारण कोई नहीं है। जे कर कहो कि ईश्वर जीव का उपादान कारण है, तब तो कारण के समान कार्य भी होना चाहिये। जैसा ईश्वर निर्मल, निष्पाप, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, तैसा ही जीव होवेगा; परन्तु ऐसा है नहीं। एवं यदि ईश्वर जीवों का उपादान कारण होवे, तब तो ईश्वर ही जीव बन कर नाना क्लेश—जन्म मरण गर्भावासादि दुःखों का भोगने वाला हुआ। परन्तु ईश्वर ने यह अपने पग में आप कुहाड़ा क्यों मारा ? जो कि पूर्णानन्द पद को छोड़ कर संसार की विडंबना में क्यों फंसा ? फिर अपने आपको निष्पाप करने के वास्ते वेदादि शास्त्रों द्वारा कई तरे का तप जपादिक क्लेश करना बताया ? इस वास्ते यह दूसरा विकल्प भी मिथ्या है।

तीसरा विकल्प यह है कि—जीव और कर्म दोनों एक

भी काहे से करेगा ? इस वास्ते यह प्रथम विकल्प मिथ्या है।

दूसरा विकल्प—कर्म पहले थे अरु जीव पीछे से बना है, यह भी मिथ्या है। क्योंकि जीवों के विना वो कर्म किस ने करे ? कारण कि कर्त्ता के विना कर्म कदापि हो नहीं सकते। तथा प्रथम के कर्मों का फल भी इस जीव को नहीं होना चाहिये, क्योंकि वो कर्म जीव के करे हुए नहीं हैं। जेकर कर्म के करे विना भी कर्म फल होवे, तब तो अतिप्रसंग दूषण होवेगा। तब तो विना कर्म करे ईश्वर भी कर्म फल भोगने के वास्ते नरककुंड में जा गिरेगा। तथा जीव भी पीछे काहे से बनेगा ? क्योंकि जीव का उपादान कारण कोई नहीं है। जे कर कहो कि ईश्वर जीव का उपादान कारण है, तब तो कारण के समान कार्य भी होना चाहिये। जैसा ईश्वर निर्मल, निष्पाप, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, तैसा ही जीव होवेगा; परन्तु ऐसा है नहीं। एवं यदि ईश्वर जीवों का उपादान कारण होवे, तब तो ईश्वर ही जीव बन कर नाना क्लेश—जन्म मरण गर्भावासादि दुःखों का भोगने वाला हुआ। परन्तु ईश्वर ने यह अपने पग में आप कुहाड़ा क्यों मारा ? जो कि पूर्णानन्द पद को छोड़ कर संसार की विडंबना में क्यों फंसा ? फिर अपने आपको निष्पाप करने के वास्ते वेदादि शास्त्रों द्वारा कई तरे का तप जपादिक क्लेश करना बताया ? इस वास्ते यह दूसरा विकल्प भी मिथ्या है।

तीसरा विकल्प यह है कि—जीव और कर्म दोनों एक

उत्तरः—कर्म जो अनादि कहे हैं, सो प्रवाह की अपेक्षा अनादि हैं, इस वास्ते उन का क्षय हो जाता है।

प्रश्नः—यह जो तुम बंध कहते हो, सो निर्हेतुक है? अथवा सहेतुक है? जे कर कहो कि निर्हेतुक है, तब तो नित्य सत्त्व अथवा नित्य असत्त्व होवेगा। क्योंकि जिस वस्तु का हेतु नहीं, वो आकाशवत् नित्य सत् होती है, अथवा खरशृंगवत् नित्य असत् होती है। तब तो निर्हेतुक होने से मोक्ष का अभाव ही हो जावेगा। जेकर कहो कि सहेतुक है, तो हम को बताओ कि इस बंध का क्या हेतु है?

उत्तरः—इस बंध के मूल हेतु तो चार हैं, और उत्तर हेतु सत्तावन हैं। यहां प्रथम चार प्रकार का बंध कहते हैं। तिस में प्रथम प्रकृति बंध है। प्रकृति कौन सी है? अरु उस का बंध क्या है? सो कहते हैं। तहां मूल प्रकृति आठ हैं, उस में १. मत्यादि ज्ञान का जो आवरण—आच्छादन, सो ज्ञानावरण। २. सामान्य बोधक चक्षु आदि का जो आवरण सो दर्शनावरण। ३. सुख दुःखादि का वेद—भोग जिस से हो, सो वेदनीय। ४. मोह से जीव विचित्रता को प्राप्त करे, सो मोहनीय। ५. "एति याति चेत्यायुः" जो चलती गुज़रती है सो आयु। जिस के उदय से जीव जीता है सो आयु। ६. वे जो शुभाशुभ गत्यादि रूप से आत्मा को नमावे सो नाम कर्म। ७. गोत्र शब्द की व्युत्पत्ति ऐसे है "गां वाचं त्रायत इति गोत्रं" जिस के उदय से जीव ऊंच नीच कुल का

उत्तरः—कर्म जो अनादि कहे हैं, सो प्रवाह की अपेक्षा अनादि हैं, इस वास्ते उन का क्षय हो जाता है।

प्रश्नः—यह जो तुम बंध कहते हो, सो निर्हेतुक है? अथवा सहेतुक है? जे कर कहो कि निर्हेतुक है, तब तो नित्य सत्त्व अथवा नित्य असत्त्व होवेगा। क्योंकि जिस वस्तु का हेतु नहीं, वो आकाशवत् नित्य सत् होती है, अथवा खरशृंगवत् नित्य असत् होती है। तव तो निर्हेतुक होने से मोक्ष का अभाव ही हो जावेगा। जेकर कहो कि सहेतुक है, तो हम को बनाओ कि इस बंध का क्या हेतु है?

उत्तरः—इस बंध के मूल हेतु तो चार हैं, और उत्तर हेतु सत्तावन हैं। यहां प्रथम चार प्रकार का बंध कहते हैं। तिस में प्रथम प्रकृति बंध है। प्रकृति कौन सी है? अरु उस का बंध क्या है? सो कहते हैं। तहां मूल प्रकृति आठ हैं. उस में १. मत्यादि ज्ञान का जो आवरण—आच्छादन, सो ज्ञानावरण। २. सामान्य बोधक चक्षु आदि का जो आवरण सो दर्शनावरण। ३. सुख दुःखादि का वेद—भोग जिस से हो, सो वेदनीय। ४. मोह से जीव विचित्रता को प्राप्त करे, सो मोहनीय। ५. "एति याति चेत्यायुः" जो चलती गुज़रती है सो आयु। जिस के उदय से जीव जीता है सो आयु। ६. वे जो शुभाशुभ गत्यादि रूप से आत्मा को नमावे सो नाम कर्म। ७. गोत्र शब्द की व्युत्पति ऐसे है "गां वाचं त्रायत इति गोत्रं" जिस के उदय से जीव ऊंच नीच कुल का

कोटी सागरोपम तक रहकर फल दे करके चली जाती है। यह दूसरा स्थितिबंध। ३. जैसे किसी लड्डु में कसैला रस, किसी में कडुवा और किसी में मीठा, ऐसे ही कर्मों में रस है अर्थात् किसी में दुःख रूप और किसी में सुख रूप हैं। जो जो अवस्था जीव की संसार में होती है, सो सर्व कर्म के अनुभाग से होती है। यह तीसरा अनुभाग बंध। ४. जैसे लड्डु के तोल, मान में, कोई लड्डु एक तोला और कोई छटांकादि का होता है, ऐसे ही कर्म प्रदेशों की गिनती भी किसी कर्म में थोड़ी, किसी में अधिक होती है, यह चौथा प्रदेश बंध है। यह दृष्टांत कर्म ग्रंथ में है। *

बन्ध के हेतु

अथ बंध के हेतु लिखते हैं। १. मिथ्यात्व—तत्त्वार्थ में श्रद्धान रहित होना। २. अविरतिपना—पापों से निवृत्त होने के परिणाम से रहित होना। ३. कषाय—कष नाम है संसार का, तथा कर्म का, तिस का जो आय—लाभ सो कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप। ४. योग—मन, वचन, काया का व्यापार। यह चारों बंध के मूलहेतु हैं। उत्तर हेतु सत्तावन हैं, सो लिखते हैं। उस में प्रथम मिथ्यात्व, पांच प्रकार का है—१. अभिग्रह मिथ्यात्व २. अनभिग्रह मिथ्यात्व, ३. अभिनिवेश मिथ्यात्व, ४. संशयमिथ्यात्व, ५. अनाभोग मिथ्यात्व।

* प्रथम कर्म ग्रन्थ गाथा २।

कोटी सागरोपम तक रहकर फल दे करके चली जाती है। यह दूसरा स्थितिबंध। ३. जैसे किसी लड्डु में कसैला रस, किसी में कडुवा और किसी में मीठा, ऐसे ही कर्मों में रस है अर्थात् किसी में दुःख रूप और किसी में सुख रूप हैं। जो जो अवस्था जीव की संसार में होती है, सो सर्व कर्म के अनुभाग से होती है। यह तीसरा अनुभाग बंध। ४. जैसे लड्डु के तोल, मान में, कोई लड्डु एक तोला और कोई छटांकादि का होता है, ऐसे ही कर्म प्रदेशों की गिनती भी किसी कर्म में थोड़ी, किसी में अधिक होती है, यह चौथा प्रदेश बंध है। यह दृष्टांत कर्म ग्रंथ में है। *

बन्ध के हेतु

अथ बंध के हेतु लिखते हैं। १. मिथ्यात्व—तत्त्वार्थ में श्रद्धान रहित होना। २. अविरतिपना–पापों से निवृत्त होने के परिणाम से रहित होना। ३. कषाय—कष नाम है संसार का, तथा कर्म का, तिस का जो आय—लाभ सो कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ रूप। ४. योग–मन, वचन, काया का व्यापार। यह चारों बंध के मूलहेतु हैं। उत्तर हेतु सत्तावन हैं, सो लिखते हैं। उस में प्रथम मिथ्यात्व, पांच प्रकार का है—१. अभिग्रह मिथ्यात्व २. अनभिग्रह मिथ्यात्व, ३. अभिनिवेश मिथ्यात्व, ४. संशयमिथ्यात्व, ५. अनाभोग मिथ्यात्व।

* प्रथम कर्म ग्रन्थ गाथा २।

माने। ऐसा जीव अतिपापी अरु बहुल संसारी होता है। यह मिथ्यात्व प्राय; जो जैन–जैनमत को विपरीत कथन करता है उस में होता है। जैसे गोष्ठमाहिलादिक हुए हैं। यह बात श्री अभय देवसूरि नवांगीवृत्तिकार नवतत्त्वप्रकरण के भाष्य में कहते हैं:—

* गोट्ठामाहिलमाईणं, जं अभिनिविसि तु तयं ॥

आदि शब्द से वोटिक शिवभूति में आभिनिवेशिक मिथ्यात्व जानना।

४. संशय मिथ्यात्व–सो जिनोक्त तत्त्व में शंका करनी। क्या यह जीव असंख्य प्रदेशी है ? वा नहीं है ? इस तरें सर्व पदार्थों में शंका करनी, तिस में जो उत्पन्न होवे, सो सांशयिक मिथ्यात्व है। † तदाह "भाष्यकृत्—सांशयिकं मिथ्यात्वं तदिति शेषः। शंका-संदेहो जिनोक्ततत्त्वेष्विति" संशय मिथ्यात्व के होने के कारण श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ध्यानशतक में लिखते हैं, कि एक तो जैनमत स्याद्वादरूप अनंतनयात्मक है, इस वास्ते समझना कठिन है। तथा सप्तभंगी के सकलादेशी, विकलादेशी भंगों का स्वरूप, अष्टपक्ष, सात

---

* गाथा का पूर्वार्ध इस प्रकार है:—

आभिग्गहियं किल दिक्खियाण अणभिग्गहियं तु इअराण।

† यह नव-तत्वभाष्य टीका का पाठ है टीका कर्ता यशोदेव उपाध्याय हैं।

माने। ऐसा जीव अतिपापी अरु बहुल संसारी होता है। यह मिथ्यात्व प्राय; जो जैन-जैनमत को विपरीत कथन करता है उस में होता है। जैसे गोष्ठमाहिलादिक हुए हैं। यह बात श्री अभय देवसूरि नवांगीवृत्तिकार नवतत्त्वप्रकरण के भाष्य में कहते हैं:—

* गोट्ठामाहिलमाईणं, जं अभिनिविसि तु तयं॥

आदि शब्द से बोटिक शिवभूति में आभिनिवेशिक मिथ्यात्व जानना।

४. संशय मिथ्यात्व-सो जिनोक्त तत्त्व में शंका करनी। क्या यह जीव असंख्य प्रदेशी है? वा नहीं है? इस तरें सर्व पदार्थों में शंका करनी, तिस में जो उत्पन्न होवे, सो सांशयिक मिथ्यात्व है। † तदाह "भाष्यकृत्—सांशयिकं मिथ्यात्वं तदिति शेषः। शंका-संदेहो जिनोक्ततत्त्वेष्विति" संशय मिथ्यात्व के होने के कारण श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ध्यानशतक में लिखते हैं, कि एक तो जैनमत स्याद्वादरूप अनंतनयात्मक है, इस वास्ते समझना कठिन है। तथा सप्तभंगी के सकलादेशी, विकलादेशी भंगों का स्वरूप, अष्टपक्ष, सात

---

* गाथा का पूर्वार्द्ध इस प्रकार है:—

आभिग्गहियं किल दिक्खियाण अणाभिग्गहियं तु इअराण।

† यह नव-तत्वभाष्य टीका का पाठ है टीका कर्त्ता यशोदेव उपाध्याय हैं।

ही करने लगना। ३. परिणाम मिथ्यात्व—मन में विपरीत परिणाम—कदाग्रह रहे, शुद्ध शास्त्रार्थ को माने नहीं। ४. प्रदेशमिथ्यात्व—मिथ्यात्व के पुद्गल जो सत्ता में हैं, उन का नाम प्रदेश मिथ्यात्व है। इन चारों भेदों के भी अनेक भेद हैं, उस में कितनेक यहां पर लिखते हैं।

१. जो धर्म वीतराग सर्वज्ञ ने कहा है, तिस को अधर्म माने। २. अरु जो हिंसा प्रवृत्ति प्रमुख आश्रवमय अशुद्ध अधर्म है, उस को धर्म माने। ३. जो सत्य मार्ग है, उस को मिथ्या कहे। ४. जो विषयी जन का मार्ग है, उस को सत्य मार्ग कहे। ५. जो साधु सत्तावीस गुणों करी विराजमान हैं, उस को असाधु कहे। ६. जो आरम्भ परिग्रह विषय कषाय करके भरा हुआ है, अरु उपदेश ऐसा देता है, कि जिस के सुनने से लोगों को कुवासना, कुबुद्धि उत्पन्न होवे, ऐसा गुरु पत्थर की नौका समान है। ऐसे जो अन्यलिंगी कुलिंगी तिन को साधु कहे। ७. षट्काया के जीवों को अजीव माने। ८. काष्ठ, सोना आदि जो अजीव है, उन को जीव माने। ९. मूर्त्त पदार्थों को अमूर्त्त माने। १०. अमूर्त्त पदार्थों को मूर्त्त माने, यह दश भेद मिथ्यात्व के हैं।

तथा दूसरे छे भेद मिथ्यात्व के हैं; सो कहते हैं। १. लौकिक देव, २. लौकिक गुरु, ३. लौकिक पर्व, ४. लोकोत्तर देव, ५. लोकोत्तर गुरु, ६. लोकोत्तर पर्व।

१. लौकिक देवगत मिथ्यात्व—जो देव राग द्वेष करके

ही करने लगना। ३. परिणाम मिथ्यात्व—मन में विपरीत परिणाम—कदाग्रह रहे, शुद्ध शास्त्रार्थ को माने नहीं। ४. प्रदेशमिथ्यात्व—मिथ्यात्व के पुद्गल जो सत्ता में हैं, उन का नाम प्रदेश मिथ्यात्व है। इन चारों भेदों के भी अनेक भेद हैं, उस में कितनेक यहां पर लिखते हैं।

१. जो धर्म वीतराग सर्वज्ञ ने कहा है, तिस को अधर्म माने। २. अरु जो हिंसा प्रवृत्ति प्रमुख आश्रवमय अशुद्ध अधर्म है, उस को धर्म माने। ३. जो सत्य मार्ग है, उस को मिथ्या कहे। ४. जो विषयी जन का मार्ग है, उस को सत्य मार्ग कहे। ५. जो साधु सत्तावीस गुणों करी विराजमान हैं, उस को असाधु कहे। ६. जो आरम्भ परिग्रह विषय कषाय करके भरा हुआ है, अरु उपदेश ऐसा देता है, कि जिस के सुनने से लोगों को कुवासना, कुबुद्धि उत्पन्न होवे, ऐसा गुरु पत्थर की नौका समान है। ऐसे जो अन्यलिंगी कुलिंगी तिन को साधु कहे। ७. षट्कायों के जीवों को अजीव माने। ८. काष्ठ, सोना आदि जो अजीव है, उन को जीव माने। ९. मूर्त्त पदार्थों को अमूर्त्त माने। १०. अमूर्त्त पदार्थों को मूर्त्त माने, यह दश भेद मिथ्यात्व के हैं।

तथा दूसरे छे भेद मिथ्यात्व के हैं; सो कहते हैं। १. लौकिक देव, २. लौकिक गुरु, ३. लौकिक पर्व, ४. लोकोत्तर देव, ५. लोकोत्तर गुरु, ६. लोकोत्तर पर्व।

१. लौकिक देवगत मिथ्यात्व—जो देव राग द्वेष करके

छट. ७. सीयलसातम, ८. बुधाष्टमी. ९. नौली नवमी, १०. विजय दशमी, ११. व्रत एकादशी, १२. वत्स द्वादशी, १३. धनतेरस. १४. अनन्त चौदश, १५. अमावास्या, १६. सोमवती अमावास्या. १७. रक्षाबन्धन, १८. होली, १९. दोई, २०. दुसहरा, २१. सोमप्रदोष. २२. लोड़ी, २३. आदित्यवार, २४. उत्तरायण, २५. संक्रांति, २६. ग्रहण, २७. नवरात्र, २८. श्राद्ध, २९. पीपल को पानी देना, ३०. गधे की माता का घोड़ा मान के पूजना, ३१. गोत्राटी. ३२. अन्न कूट, ३३. अनेक श्मशान. फ़बरों का मेला, इत्यादि ।

४. लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व—देव श्रीअरिहंत, धर्म का आकर, विश्वोपकार का सागर, परम पूज्य, परमेश्वर, सकल दोष रहित, शुद्ध, निरंजनः तिन की स्थापनारूप जो प्रतिमा, तिस के आगे इस लोक के पौद्गलिक सुख की आशा से मन में कल्पना करे कि जे कर मेरा यह काम हो जावेगा, तो मैं बड़ी भारी पूजा करूंगा, छत्र चढ़ाऊंगा, दीपमाला की रोशनी करूंगा, रात्रि जागरण करूँगा, ऐसे भावों से वीतराग को माने, यह मिथ्यात्व है। क्योंकि जो पुरुष चिन्तामणि के दाता से काच का टुकड़ा मांगे सो बुद्धिमान् नहीं है। जिसको अपने कर्मोदय का स्वरूप मालूम नहीं है, वही जीव ऐसा होता है।

५. लोकोत्तरगुरुगत मिथ्यात्व—सो जो साधु का वेष रक्खे अरु आप निर्गुणी होवे, जिन वाणी का उत्थापक

छट. ७. सीयलसातम, ८. बुधाष्टमी, ९. नौली नवमी, १०. विजय दशमी, ११. व्रत एकादशी, १२. वत्स द्वादशी, १३. धनतेरस, १४. अनन्त चौदश, १५. अमावास्या, १६. सोमवती अमावास्या, १७. रक्षाबन्धन, १८. होली, १९. होई, २०. दुसहरा, २१. सोमप्रदोष, २२. लोड़ी, २३. आदित्यवार, २४. उत्तरायण, २५. संक्रांति, २६. ग्रहण, २७. नवरात्र, २८. श्राद्ध, २९. पीपल को पानी देना, ३०. गधे की माता का घोड़ा मान के पूजना, ३१. गोत्राटी, ३२. अन्न कूट, ३३. अनेक श्मशान, फकरों का मेला, इत्यादि ।

४. लोकोत्तर देवगत मिथ्यात्व—देव श्रीअरिहंत, धर्म का आकर, विश्वोपकार का सागर, परम पूज्य, परमेश्वर, सकल दोष रहित, शुद्ध, निरंजनः तिन की स्थापनारूप जो प्रतिमा, तिस के आगे इस लोक के पौद्गलिक सुख की आशा से मन में कल्पना करे कि जे कर मेरा यह काम हो जावेगा, तो मैं बड़ी भारी पूजा करूंगा, छत्र चढ़ाऊंगा, दीपमाला की रोशनी करूंगा, रात्रि जागरण करूँगा, ऐसे भावों से वीतराग को माने, यह मिथ्यात्व है। क्योंकि जो पुरुष चिन्तामणि के दाता से काच का टुकड़ा मांगे सो बुद्धिमान् नहीं है। जिसको अपने कर्मोदय का स्वरूप मालूम नहीं है, वही जीव ऐसा होता है ।

५. लोकोत्तरगुरुगत मिथ्यात्व—सो जो साधु का वेष रक्खे पर आप निर्गुणी होवे, जिन वाणी का उत्थापक

क्रोध, मान, माया, अरु लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार, तथा प्रत्याख्यान क्रोधादि चार, अरु संज्वलन क्रोधादि चार, एवं सोलह कषाय हैं। इनके सहचारी नव नोकषाय हैं। यथा—१. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा, ७. स्त्री वेद, ८. पुरुष वेद, ६. नपुंसकवेद। इन सबका व्याख्यान पीछे कर आये हैं। इन से कर्म का बन्ध होता है, और यही संसार स्थिति के मूल कारण हैं। यह तीसरा बन्ध हेतु कहा है।

चौथा योगनामा बन्ध का हेतु है। सो योग मन, वचन, अरु काया भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों के पन्द्रां भेद हैं। तहां प्रथम मनोयोग चार प्रकार का है, और वचन योग भी चार प्रकार का है, अरु काययोग सात प्रकार का है, ये सब मिलकर पन्द्रां भेद हैं।

मन नाम अन्तःकरण का है। उसके चार प्रकार यह हैं। १. सत्यमनोयोग, २. असत्यमनोयोग, ३. मिश्रमनोयोग, ४. व्यवहारमनोयोग। मन भी द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। काया के व्यापार से पुद्गलों का ग्रहण करके उन को जब मनोयोग से काढ़ता है, तिस का नाम द्रव्यमन कहते हैं। अरु उन पुद्गलों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, तिसका नाम भावमन है। उस ज्ञान करके जो व्यवहार सिद्ध होता है, तिस व्यवहार करके मन भी सत्यादि

योगके भेद प्रभेद

क्रोध, मान, माया, अरु लोभ, ऐसे ही अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार, तथा प्रत्याख्यान क्रोधादि चार, अरु संज्वलन क्रोधादि चार, एवं सोलह कषाय हैं। इनके सहचारी नव नोकषाय हैं। यथा—१. हास्य, २. रति, ३. अरति, ४. शोक, ५. भय, ६. जुगुप्सा, ७. स्त्री वेद, ८. पुरुष वेद, ६. नपुंसकवेद। इन सबका व्याख्यान पीछे कर आये हैं। इन से कर्म का बन्ध होता है, और यही संसार स्थिति के मूल कारण हैं। यह तीसरा बन्ध हेतु कहा है।

चौथा योगनामा बन्ध का हेतु है। सो योग मन, वचन, अरु काया भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों के पन्द्रां भेद हैं। तहां प्रथम मनोयोग चार प्रकार का है, और वचन योग भी चार प्रकार का है, अरु काययोग सात प्रकार का है, ये सब मिलकर पन्द्रां भेद हैं।

मन नाम अन्तःकरण का है। उसके चार प्रकार यह हैं। १. सत्यमनोयोग, २. असत्यमनोयोग, ३. मिश्रमनोयोग, ४. व्यवहारमनोयोग। मन भी द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है। काया के व्यापार से पुद्गलों का ग्रहण करके उन को जब मनोयोग से काढ़ता है, तिस का नाम द्रव्यमन कहते हैं। अरु उन पुद्गलों के संयोग से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, तिसका नाम भावमन है। उस ज्ञान करके जो व्यवहार सिद्ध होता है, तिस व्यवहार करके मन भी सत्यादि

योगके भेद प्रभेद

जान लेना । यह चार मन के अरु चार वचन के एवं आठ भेद हुए ।

सत्यवचन दश प्रकार का है । १. जनपद सत्य--सो जिस देश में जिस वस्तु का जो नाम बोलते हैं, उस देश में वो नाम सत्य है, जैसे कोंकण देशमें पानी को पिच्छ कहते हैं, किसी देश में बड़े पुरुष को बेटा कहते हैं, वा बेटे को काका कहते हैं, किसी देश में पिता को भाई, सासु को आई, इत्यादि कहते हैं, सो जनपदसत्य । २. सम्मतसत्य—सो जैसे मेंडक, सिवाल, कमल आदि सब पंक से उत्पन्न होते हैं, तो भी पंकज शब्द करके कमल का ही ग्रहण पूर्व विद्वानों ने सम्मत किया है, किन्तु मेंडक, सिवाल नहीं । ३. स्थापनासत्य—सो जिस की प्रतिमा होवे, तिस को उस के नाम से कहना । जैसे महावीर, पार्श्वनाथ अर्हत की जो प्रतिमा होवे, उस प्रतिमा को महावीर, पार्श्वनाथ कहें, तो सत्य है । परन्तु उस को जो पत्थर कहे, सो मृषावादी है । जैसे स्याही और कागज़ स्थापना करने से ऋग्, यजु, साम, अथर्व कहे जाते हैं; आचारांगादि अंग कहे जाते हैं; तथा काष्ठ के आकार विशेष को किवाड़ कहते हैं; तथा ईंट, पत्थर, चूने को स्तंभ कहना; पुस्तक में त्रिकोणादि चित्र लिख कर उस को आर्यावर्त्त, भारतवर्ष, जंबूद्वीपादि कहना; तथा स्याही की स्थापना को ककार खकार कहना । इस स्थापना से पुरुष की कछुक सिद्धि ज़रूर होती है । नहीं तो नाना प्रकार की स्थापना पुरुष किस वास्ते

जान लेना । यह चार मन के अरु चार वचन के एवं आठ भेद हुए ।

सत्यवचन दश प्रकार का है। १. जनपद सत्य--सो जिस देश में जिस वस्तुका जो नाम बोलते हैं, उस देश में वो नाम सत्य है, जैसे कोंकण देशमें पानी को पिच्छ कहते हैं, किसी देश में बड़े पुरुष को बेटा कहते हैं, वा बेटे को काका कहते हैं, किसी देश में पिता को भाई, सासु को आई, इत्यादि कहते हैं, सो जनपदसत्य । २. सम्मतसत्य—सो जैसे मेंडक, सिवाल, कमल आदि सब पंक से उत्पन्न होते हैं, तो भी पंकज शब्द करके कमल का ही ग्रहण पूर्व विद्वानों ने सम्मत किया है, किन्तु मेंडक, सिवाल नहीं। ३. स्थापनासत्य—सो जिस की प्रतिमा होवे, तिस को उस के नाम से कहना । जैसे महावीर, पार्श्वनाथ अर्हंत की जो प्रतिमा होवे, उस प्रतिमा को महावीर, पार्श्वनाथ कहें, तो सत्य है। परन्तु उस को जो पत्थर कहे, सो मृषावादी है। जैसे स्याही और कागज़ स्थापना करने से ऋग्, यजु, साम, अथर्व कहे जाते हैं; आचारांगादि अंग कहे जाते हैं; तथा काष्ठ के आकार विशेष को किवाड़ कहते हैं; तथा ईंट, पत्थर, चूने को स्तंभ कहना; पुस्तक में त्रिकोणादि चित्र लिख कर उस को आर्यावर्त्त, भारतवर्ष, जंबूद्वीपादि कहना; तथा स्याही की स्थापना को ककार खकार कहना। इस स्थापना से पुरुष की कछुक सिद्धि ज़रूर होती है। नहीं तो नाना प्रकार की स्थापना पुरुष किस वास्ते

के वश से बोले। ९. विकथा करे, सो असत्य। १०. जिस बोलने में जीव की हिंसा होवे, सो असत्य।

अब दश प्रकार का मिश्र वचन कहते हैं। १. उत्पन्न मिश्रित—सो विना खबर कह देना कि इस नगर में आज दश बालक जन्मे हैं, इत्यादि। २. विगत मिश्रित—सो जैसे विना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश मनुष्य मरे हैं। ३. उत्पन्नविगतमिश्रित—सो जैसे विना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश जन्मे हैं, अरु दश ही मरे हैं। ४. जीवमिश्रित—सो जीवाजीव की राशि को कहना कि यह जीव है। ५. अजीवमिश्रित—सो अन्न की राशि को कहना कि यह अजीव है। ६. जीवाजीवमिश्रित—सो जीवाजीव दोनों की मिश्रभाषा बोले। ७. अनंतमिश्रित—सो मूली आदिकों के अवयवों में किसी जगे अनंत जीव हैं, किसी जगें प्रत्येक जीव हैं, उन को प्रत्येक काय कहे। ८. प्रत्येक मिश्रित—सो प्रत्येक जीवों को अनंतकाय कहे। ९. अद्धामिश्रित—सो दो घड़ी के तड़कें में कहे कि दिन चढ़ गया है। १०. अदद्धामिश्रित—सो घड़ी एक रात्रि जाने पर, दिन का उदय कहे। यह दश प्रकार का मिश्रवचन है।

अब व्यवहार वचन के बारह भेद कहते हैं। १. आमंत्रणी करना—कि हे भगवन्! २. आज्ञापना—यह काम कर, तथा यह वस्तु ला। ३. याचना—यह वस्तु हम को दीजिये। ४. पृच्छना—अमुक गाम का मार्ग कौनसा है? ५. प्रज्ञापना –

के वश से बोले। ९. विकथा करे, सो असत्य। १०. जिस बोलने में जीव की हिंसा होवे, सो असत्य।

अब दश प्रकार का मिश्र वचन कहते हैं। १. उत्पन्न मिश्रित—सो विना खबर कह देना कि इस नगर में आज दश बालक जन्मे हैं, इत्यादि। २. विगत मिश्रित—सो जैसे विना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश मनुष्य मरे हैं। ३. उत्पन्नविगतमिश्रित—सो जैसे विना खबर के कहना कि इस नगर में आज दश जन्मे हैं, अरु दश ही मरे हैं। ४. जीवमिश्रित—सो जीवाजीव की राशि को कहना कि यह जीव है। ५. अजीवमिश्रित—सो अन्न की राशि को कहना कि यह अजीव है। ६. जीवाजीवमिश्रित—सो जीवाजीव दोनों की मिश्रभाषा बोले। ७. अनंतमिश्रित—सो मूली आदिकों के अवयवों में किसी जगे अनंत जीव हैं, किसी जगे प्रत्येक जीव हैं, उन को प्रत्येक काय कहे। ८. प्रत्येक मिश्रित—सो प्रत्येक जीवों को अनंतकाय कहे। ९. अद्धामिश्रित—सो दो घड़ी के तड़के में कहे कि दिन चढ़ गया है। १०. अदद्धामिश्रित—सो घड़ी एक रात्रि जाने पर, दिन का उदय कहे। यह दश प्रकार का मिश्रवचन है।

अब व्यवहार वचन के बारह भेद कहते हैं। १. आमंत्रण करना—कि हे भगवन्! २. आज्ञापना—यह काम कर, तथा यह वस्तु ला। ३. याचना—यह वस्तु हम को दीजिये। ४. पृच्छना—अमुक गाम का मार्ग कौनसा है? ५. प्रज्ञापना –

अथ मोक्षतत्त्व लिखते हैं । तहां प्रथम मोक्ष का स्वरूप कहते हैं । यदुक्तः—

जीवस्य कृत्स्नकर्मक्षयेण यत्स्वरूपावस्थानं तन्मोक्ष उच्यते ।

मोक्षतत्त्व का स्वरूप

भावार्थः—जीव के सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय होने करके जो स्वरूप में रहना है, उस को मोक्ष कहते हैं। वह मोक्ष जीव का धर्म है। तथा धर्म धर्मी का कथंचित् अभेद होने से धर्मी जो सिद्ध, तिन की जो प्ररूपणा, सो भी मोक्ष प्ररूपणा है । क्योंकि मोक्ष जो है, सो जीव पर्याय है, सो जीव पर्याय कथंचित् सिद्ध जीव से अभिन्न है । जीव की पर्याय जीव से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकती है । तदुक्तः—

द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥

[सं० त०, कां० १ गा० १२ की प्रतिच्छाया]

भावार्थः—पर्यायों करके रहित द्रव्य अरु द्रव्य से वर्जित-रहित पर्याय किसी जगे, किसी अवसर में, किसी प्रमाण से, किसी ने, कोई रूप से देखा है ? [अर्थात् नहीं देखा ।]

अथ मोक्षतत्त्व लिखते हैं । तहां प्रथम मोक्ष का स्वरूप कहते हैं । यदुक्तं:—

जीवस्य कृत्स्नकर्मक्षयेण यत्स्वरूपावस्थानं तन्मोक्ष उच्यते ।

मोक्षतत्त्व का स्वरूप

भावार्थः—जीव के सम्पूर्ण ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय होने करके जो स्वरूप में रहना है, उस को मोक्ष कहते हैं । वह मोक्ष जीव का धर्म है। तथा धर्म धर्मी का कथंचित् अभेद होने से धर्मी जो सिद्ध, तिन की जो प्ररूपणा, सो भी मोक्ष प्ररूपणा है । क्योंकि मोक्ष जो है, सो जीव पर्याय है, सो जीव पर्याय कथंचित् सिद्ध जीव से अभिन्न है । जीव की पर्याय जीव से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकती है । तदुक्तं:—

द्रव्यं पर्यायवियुतं, पर्याया द्रव्यवर्जिताः ।
क्व कदा केन किंरूपा दृष्टा मानेन केन वा ॥

[सं० त०, कां० १ गा० १२ की प्रतिच्छाया]

भावार्थः—पर्यायों करके रहित द्रव्य अरु द्रव्य से वर्जित-रहित पर्याय किसी जगे, किसी अवसर में, किसी प्रमाण से, किसी ने, कोई रूप से देखा है ? [अर्थात् नहीं देखा ।]

इन पांचों प्रकारों में सिद्ध पना नहीं, क्योंकि सर्वथा शरीर के परित्यागने से सिद्ध होता है। जहां शरीर नहीं तहां इन्द्रिय भी कोई नहीं। इसी वास्ते सिद्ध अतींद्रिय हैं। [३] १. पृथिवीकाय, २. अप्काय, ३. तेजःकाय, ४. पवनकाय, ५. वनस्पतिकाय, ६. त्रसकाय। इन छे ही कायों के जीवों में सिद्धपना नहीं। क्योंकि सिद्ध जो हैं, सो अकाय—काय रहित हैं। [४] काय, वचन अरु मन के भेद से योग तीन हैं। उस में केवल काययोग वाले एकेंद्रिय जीव हैं, अरु काय वचन योग वाले द्वींद्रियादि असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत जीव हैं, अरु काय, वचन, मन योग वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय प्रर्याप्त जीव हैं। इन तीनों योगों में सिद्धपने की सत्ता नहीं। क्योंकि सिद्ध अयोगी हैं, अरु अयोगीपना तो काय वचन अरु मन के अभाव से होता है। [५] स्त्री, पुरुष, नपुंसक, इन तीनों वेदों में सिद्ध प्रद की सत्ता का अभाव है, क्यों कि सिद्ध जो हैं, सो पूर्वोक्त हेतु से अवेदी हैं। [६] क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चारों कषायों में सिद्धपना नहीं है, क्योंकि सिद्ध अकषायी हैं, सो अकषायिपना कर्म के अभाव से होता है। [७] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, केवलज्ञान, यह पांच प्रकार का ज्ञान है। अरु मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान, यह तीन अज्ञान हैं। उस में आदि के चारों ज्ञानों में अरु तीनों अज्ञानों में सिद्धपना

इन पांचों प्रकारों में सिद्ध पना नहीं, क्योंकि सर्वथा शरीर के परित्यागने से सिद्ध होता है। जहां शरीर नहीं तहां इन्द्रिय भी कोई नहीं। इसी वास्ते सिद्ध अतींद्रिय हैं। [३] १. पृथिवीकाय, २. अप्काय, ३. तेजःकाय, ४. पवनकाय, ५. वनस्पतिकाय, ६. त्रसकाय। इन छे ही कायों के जीवों में सिद्धपना नहीं। क्योंकि सिद्ध जो हैं, सो अकाय—काय रहित हैं। [४] काय, वचन अरु मन के भेद से योग तीन हैं। उस में केवल काययोग वाले एकेंद्रिय जीव हैं, अरु काय वचन योग वाले द्वींद्रियादि असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यंत जीव हैं, अरु काय, वचन, मन योग वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव हैं। इन तीनों योगों में सिद्धपने की सत्ता नहीं। क्योंकि सिद्ध अयोगी हैं, अरु अयोगीपना तो काय वचन अरु मन के अभाव से होता है। [५] स्त्री, पुरुष, नपुंसक, इन तीनों वेदों में सिद्ध पद की सत्ता का अभाव है, क्यों कि सिद्ध जो हैं, सो पूर्वोक्त हेतु से अवेदी हैं। [६] क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चारों कषायों में सिद्धपना नहीं है, क्योंकि सिद्ध अकषायी हैं, सो अकषायिपना कर्म के अभाव से होता है। [७] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्याय ज्ञान, केवलज्ञान, यह पांच प्रकार का ज्ञान है। अरु मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान, विभंगज्ञान, यह तीन अज्ञान हैं। उस में आदि के चारों ज्ञानों में अरु तीनों अज्ञानों में सिद्धपना

नहीं। सिद्ध जो है, सो नोभव्य नोअभव्य है। यह आप्त वचन भी है। [१२] क्षायिक, क्षायोपशमिक, उपशम, सास्वादन, अरु वेदक, यह पांच प्रकार का सम्यक्त्व है। इन का विपक्षी एक मिथ्यात्व, दूसरा सम्यक्त्व मिथ्यात्व—मिश्र है। तिन में से क्षायिक वर्जित चार सम्यक्त्व अरु मिथ्यात्व, तथा मिश्र, इन में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि यह सर्व क्षायोपशमिकादि भाववर्ती हैं। और क्षायिक सम्यक्त्व में सिद्ध पद है। क्षायिक सम्यक्त्व भी दो तरें का है। एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। तहां शुद्ध, अपाय, सत् द्रव्य रहित भवस्थ केवलियों के है। अरु सिद्धों के शुद्ध जीव स्वभावरूप सम्यक् दृष्टि है, सादि अपर्यवसान है। अरु अशुद्ध अपाय सहचारिणी श्रेणिकादिकों की तरें सम्यक् दृष्टि होना, यह क्षायिक सादि सपर्यवसान है। तहां अशुद्ध क्षायिक में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि उस के अपाय सहचारी हैं। अरु शुद्ध क्षायिक में तो सिद्ध सत्ता का विरोध नहीं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में भी शुद्ध क्षायिक रहता है। अपाय मतिज्ञानांश का नाम है। अरु सत् द्रव्य शुद्ध सम्यक्त्व के दलियों का नाम है। इन दोनों का अभाव होने से क्षायिक सम्यक्त्व के होता है। [१३] संज्ञा यद्यपि तीन प्रकार की है—१. हेतुवादोपदेशिनी, २. दृष्टिवादोपदेशिनी, ३. दीर्घकालिकी; तो भी दीर्घकालिकी संज्ञा करके जो संज्ञी हैं, वे ही व्यवहार में प्रायः

नहीं। सिद्ध जो है, सो नोभव्य नोअभव्य है। यह आप्त वचन भी है। [१२] क्षायिक, क्षायोपशमिक, उपशम, सास्वादन, अरु वेदक, यह पांच प्रकार का सम्यक्त्व है। इन का विपक्षी एक मिथ्यात्व, दूसरा सम्यक्त्व मिथ्यात्व—मिश्र है। तिन में से क्षायिक वर्जित चार सम्यक्त्व अरु मिथ्यात्व, तथा मिश्र, इन में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि यह सर्व क्षायोपशमिकादि भाववर्ती हैं। और क्षायिक सम्यक्त्व में सिद्ध पद है। क्षायिक सम्यक्त्व भी दो तरें का है। एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। तहां शुद्ध, अपाय, सत् द्रव्य रहित भवस्थ केवलियों के है। अरु सिद्धों के शुद्ध जीव स्वभावरूप सम्यक् दृष्टि है, सादि अपर्यवसान है। अरु अशुद्ध अपाय सहचारिणी श्रेणिकादिकों की तरें सम्यक् दृष्टि होना, यह क्षायिक सादि सपर्यवसान है। तहां अशुद्ध क्षायिक में सिद्ध पद नहीं। क्योंकि उस के अपाय सहचारी हैं। अरु शुद्ध क्षायिक में तो सिद्ध सत्ता का विरोध नहीं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में भी शुद्ध क्षायिक रहता है। अपाय मतिज्ञानांश का नाम है। अरु सत् द्रव्य शुद्ध सम्यक्त्व के दलियों का नाम है। इन दोनों का अभाव होने से क्षायिक सम्यक्त्व के होता है। [१३] संज्ञा यद्यपि तीन प्रकार की है—१. हेतुवादोपदेशिनी, २. दृष्टिवादोपदेशिनी, ३. दीर्घकालिकी; तो भी दीर्घकालिकी संज्ञा करके जो संज्ञी हैं, वे ही व्यवहार में प्रायः

के अनंतवें भाग में हैं । आठमा भाव द्वार-सो सिद्ध को क्षायिक और पारिणामिक भाव है, शेष भाव नहीं । नवमा अल्प बहुत्वद्वार—सो सर्व से थोडे अनंतरसिद्ध हैं । अनंतर-सिद्ध उन को कहते हैं कि जिन को, सिद्ध हुए एक समय हुआ है, तिन से परंपरा सिद्ध अनंत गुणे हुए हैं । छः मास सिद्ध होने में उत्कृष्ट अंतर होता है । यह मोक्षतत्त्व का स्वरूप संक्षेप मात्र से लिखा है, जेकर विशेष करके सिद्ध का स्वरूप देखना होवे, तदा नंदीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, सिद्धप्राभृतसूत्र, सिद्धपंचाशिका, देवाचार्यकृत नवतत्त्व प्रकरण की वृत्ति देख लेनी ।

इति श्री तपागच्छीय मुनिश्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनंदविजय—आत्माराम विरचिते जैनतत्त्वादर्शे

पंचमः परिच्छेदः संपूर्णः

के अनंतवें भाग में हैं । आठमा भाव द्वार–सो सिद्ध को क्षायिक और पारिणामिक भाव है, शेष भाव नहीं । नवमा अल्प बहुत्वद्वार—सो सर्व से थोडे अनंतर सिद्ध हैं । अनंतर-सिद्ध उन को कहने हैं कि जिन कों, सिद्ध हुए एक समय हुआ है, तिन से परंपरा सिद्ध अनंत गुणे हुए हैं । छः मास सिद्ध होने में उत्कृष्ट अंतर होता है । यह मोक्षतत्त्व का स्वरूप संक्षेप मात्र से लिखा है, जेकर विशेष करके सिद्ध का स्वरूप देखना होवे, तदा नंदीसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, सिद्धप्राभृतसूत्र, सिद्धपंचाशिका, देवाचार्यकृत नवतत्त्व प्रकरण की वृत्ति देख लेनी ।

इति श्री तपागच्छीय मुनिश्रीबुद्धिविजय शिष्य मुनि आनंदविजय—आत्माराम विरचिते जैनतत्त्वादर्शे

पंचमः परिच्छेदः संपूर्णः

की बुद्धि होवे, सो* व्यक्त मिथ्यात्व है। उपलक्षण से जीवादि नव पदार्थों में जिस की श्रद्धा नहीं, अरु जिनोक्त तत्त्व से जो विपरीत प्ररूपणा करनी, तथा जिनोक्त तत्त्व में संशय रखना, जिनोक्त तत्त्व में दूषणों का आरोप करना, इत्यादि। तथा अभिग्राहिकादि जो पांच मिथ्यात्व हैं, उन में एक अनाभोगिक मिथ्यात्व तो अव्यक्त मिथ्यात्व है शेष चार भेद व्यक्त मिथ्यात्व के हैं। तथा †"अधम्मे धम्मसण्णा" इत्यादि। इस प्रकार का जो मिथ्यात्व है, सो सर्व व्यक्त मिथ्यात्व है। अपर—दूसरा, जो अनादि काल से मोहनीय प्रकृति रूप, सम्यग्दर्शनरूप आत्मा के गुण का आच्छादक, जीव के साथ सदा अविनाभावी है, सो अव्यक्त मिथ्यात्व है।

अब मिथ्यात्व को गुण स्थान किस रीति से कहते हैं, सो लिखते हैं। अनादि काल से अव्यवहार राशिवर्त्ती जीव में सदा से ही अव्यक्त मिथ्यात्व रहता है, परंतु उस में व्यक्त मिथ्यात्व बुद्धि की जो प्राप्ति है, उसी को मिथ्यात्व गुणस्थान के नाम से कहा है।

* अदेवागुर्वधर्मेषु या देवगुरुधर्मधीः।
तन्मिथ्यात्वं भवेद् व्यक्तमव्यक्तं मोहलक्षणम्॥
[गुण० क्रमा०, श्लो० ६ की वृत्ति]

† इस सूत्र का सम्पूर्ण पाठ इस प्रकार है:—
दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तं जहा:—अधम्मे धम्मसण्णा धम्मे अधम्मसण्णा उम्मग्गे मग्गसण्णा मग्गे उम्मग्गसण्णा अजीवेसु जीवसण्णा जीवेसु अजीवसण्णा असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा अमुत्तेसु

की बुद्धि होवे, सो* व्यक्तमिथ्यात्व है। उपलक्षण से जीवादि नव पदार्थों में जिस की श्रद्धा नहीं, अरु जिनोक्त तत्त्व से जो विपरीत प्ररूपणा करनी, तथा जिनोक्त तत्त्व में संशय रखना, जिनोक्त तत्त्व में दूषणों का आरोप करना, इत्यादि। तथा अभिग्राहिकादि जो पांच मिथ्यात्व हैं, उन में एक अनाभोगिक मिथ्यात्व तो अव्यक्त मिथ्यात्व है शेष चार भेद व्यक्त मिथ्यात्व के हैं। तथा "अधम्मे धम्मसण्णा" इत्यादि। इस प्रकार का जो मिथ्यात्व है, सो सर्व व्यक्त मिथ्यात्व है। अपर—दूसरा, जो अनादि काल से मोहनीय प्रकृति रूप, सद्दर्शनरूप आत्मा के गुण का आच्छादक, जीव के साथ सदा अविनाभावी है, सो अव्यक्त मिथ्यात्व है।

अब मिथ्यात्व को गुण स्थान किस रीति से कहते हैं, सो लिखते हैं। अनादि काल से अव्यवहार राशिवर्त्ती जीव में सदा से ही अव्यक्त मिथ्यात्व रहता है, परंतु उस में व्यक्त मिथ्यात्व बुद्धि की जो प्राप्ति है, उसी को मिथ्यात्व गुणस्थान के नाम से कहा है।

* अदेवागुर्वधर्मेषु या देवगुरुधर्मधीः।
तन्मिथ्यात्वं भवेद्व्यक्तमव्यक्तं मोहलक्षणम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ६ की वृत्ति]

† इस सूत्र का सम्पूर्ण पाठ इस प्रकार है:—
दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते, तं जहा:—अधम्मे धम्मसण्णा धम्मे अधम्मसण्णा उम्मग्गे मग्गसण्णा मग्गे उम्मग्गसण्णा अजीवेसु जीवसण्णा जीवेसु अजीवसण्णा असाहुसु साहुसण्णा, साहुसु असाहुसण्णा अमुत्तेसु

ही मिथ्यात्व करके मोहित जीव धर्माधर्म को सम्यक्–भली प्रकार नहीं जानता है। यदाहः—

* मिथ्यात्वेनालीढचित्ता नितांतं,
तत्त्वातत्त्वं जानते नैव जीवाः।
किं जात्यंधाः कुत्रचिद्वस्तुजाते,
रम्यारम्यं व्यक्तिमासादयेयुः ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ८ की वृत्ति]

अभव्य जीवों की अपेक्षा जो मिथ्यात्व है; तथा सामान्य प्रकार से जो अव्यक्त मिथ्यात्व है, इन की स्थिति अनादि अनंत है, परन्तु भव्य जीवों की अपेक्षा वह स्थिति अनादि सांत है। यह स्थिति सामान्य प्रकार से मिथ्यात्व की अपेक्षा दिखलाई है। जेकर मिथ्यात्व गुणस्थानक की स्थिति का विचार करिये तो भव्य जीवों की अपेक्षा वह अनादि सांत और सादि सांत भी है। तथा अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है। मिथ्यात्व गुणस्थानक में रहा हुआ जीव एक सौ वीस बंधप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों में से तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति, आहारक शरीर, आहारकोपांग, यह तीन प्रकृति नहीं बांधता है, शेष एक सौ सतरां

* भावार्थः—मिथ्यात्वग्रसितचित्त जीव तत्त्वातत्त्व का किंचित् भी विचार नहीं कर सकते। जैसे कि जन्मांध प्राणी रम्यारम्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकते।

ही मिथ्यात्व करके मोहित जीव धर्माधर्म को सम्यक्—भली प्रकार नहीं जानता है। यदाहः—

* मिथ्यात्वेनालीढचित्ता नितांतं,
तत्त्वातत्त्वं जानते नैव जीवाः।
किं जात्यंधाः कुत्रचिद्वस्तुजाते,
रम्यारम्यं व्यक्तिमासादयेयुः ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ८ की वृत्ति]

अभव्य जीवों की अपेक्षा जो मिथ्यात्व है; तथा सामान्य प्रकार से जो अव्यक्त मिथ्यात्व है, इन की स्थिति अनादि अनंत है, परन्तु भव्य जीवों की अपेक्षा वह स्थिति अनादि सांत है। यह स्थिति सामान्य प्रकार से मिथ्यात्व की अपेक्षा दिखलाई है। जेकर मिथ्यात्व गुणस्थानक की स्थिति का विचार करिये तो भव्य जीवों की अपेक्षा वह अनादि सांत और सादि सांत भी है। तथा अभव्य जीवों की अपेक्षा अनादि अनंत है। मिथ्यात्व गुणस्थानक में रहा हुआ जीव एक सौ बीस बंधप्रायोग्य कर्मप्रकृतियों में से तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति, आहारक शरीर, आहारकोपांग, यह तीन प्रकृति नहीं बांधता है, शेष एक सौ सतरां

* भावार्थः—मिथ्यात्वग्रसितचित्त जीव तत्त्वातत्त्व का किंचित् भी विचार नहीं कर सकते। जैसे कि जन्मांध प्राणी रम्यारम्य वस्तु का ज्ञान नहीं कर सकते।

उदय में आये मिथ्यात्व का क्षय किया है, तथा जो मिथ्यात्व उदय में नहीं आया, तिस का उपशम किया है, एवं अन्तरकरण से अंतर्मुहूर्तकाल तक सर्वथा मिथ्यात्व के अवेदक को अंतरकरण औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व जीव को एक ही वार होता है। तथा उपशमश्रेणिप्रतिपन्न को मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायों के उपशम होने से स्वश्रेणिगत औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह दोनों प्रकार का जो उपशम सम्यक्त्व है, सो सास्वादन नाम के दूसरे गुणस्थान के उत्पत्ति में मूल कारण है।

सास्वादन गुणस्थान

अब सास्वादन का स्वरूप लिखते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव शांत हुये अनंतानुबंधी चारों कषायों में से एक भी क्रोधादिक के उदय होने पर औपशमिकसम्यक्त्वरूप गिरिशिखर से यह जीव परिच्युत-भ्रष्ट हो जाता है। जहां तक वह मिथ्यात्व रूप भूतल को नहीं प्राप्त हुआ, तहां तक एक समय से ले कर षट् आवलिका प्रमाण समय तक सास्वादन गुणस्थानवर्त्ती होता है।

प्रश्नः—व्यक्त बुद्धि प्राप्तिरूप प्रथम अरु मिश्रादि गुणस्थानों को उत्तरोत्तर चढ़ने का कारणभूत होने से तो गुणस्थानपना युक्त है। परंतु सम्यक्त्व से पड़ने वाले पतनरूप सास्वादन को गुणस्थानपना कैसे संभवे ?

उत्तरः—मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा सास्वादन भी

उदय में आये मिथ्यात्व का क्षय किया है, तथा जो मिथ्यात्व उदय में नहीं आया, तिस का उपशम किया है, एवं अन्तरकरण से अंतर्मुहूर्तकाल तक सर्वथा मिथ्यात्व के अवेदक को अंतरकरण औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह सम्यक्त्व जीव को एक ही वार होता है। तथा उपशमश्रेणिप्रतिपन्न को मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषायों के उपशम होने से स्वश्रेणिगत औपशमिक सम्यक्त्व होता है। यह दोनों प्रकार का जो उपशम सम्यक्त्व है, सो सास्वादन नाम के दूसरे गुणस्थान के उत्पत्ति में मूल कारण है।

सास्वादन गुणस्थान

अब सास्वादन का स्वरूप लिखते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व वाला जीव शांत हुये अनंतानुबंधी चारों कषायों में से एक भी क्रोधादिक के उदय होने पर औपशमिकसम्यक्त्वरूप गिरिशिखर से यह जीव परिच्युत-भ्रष्ट हो जाता है। जहां तक वह मिथ्यात्व रूप भूतल को नहीं प्राप्त हुआ, तहां तक एक समय से ले कर षट् आवलिका प्रमाण समय तक सास्वादन गुणस्थानवर्त्ती होता है।

प्रश्नः—व्यक्त बुद्धि प्राप्तिरूप प्रथम अरु मिश्रादि गुणस्थानों को उत्तरोत्तर चढ़ने का कारणभूत होने से तो गुणस्थानपना युक्त है। परंतु सम्यक्त्व से पड़ने वाले पतनरूप सास्वादन को गुणस्थानपना कैसे संभवे?

उत्तरः—मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा सास्वादन भी

के मिलने से जो अन्तर्मुहूर्त यावत् मिश्रित भाव है, उस को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। तात्पर्य कि जो जीव सम्यक्त्व, मिथ्यात्व दोनों के एकत्र मिलने से मिश्र-भाव में वर्ते है, सो मिश्रगुणस्थानस्थ होता है। क्योंकि मिश्रपना जो है, सो दोनों के मिलने से एक जात्यंतर रूप है। जैसे घोड़ी और गधा, इन दोनों के संयोग से जात्यंतर खच्चर उत्पन्न होता है, अथवा जैसे गुड़ दही के मिलने से जात्यंतर रस शिखरणी रूप उत्पन्न होता है, तैसे ही जिस जीव को सर्वज्ञ असर्वज्ञ के कहे दोनों धर्मों में समबुद्धि से एक सरीखी श्रद्धा उत्पन्न होवे, सो जात्यंतरभेदात्मक होने से मिश्रगुणस्थान होता है। तथा जब यह जीव मिश्रगुण-स्थान वाला होता है, तब परभव का आयु नहीं बांधता है, अरु मिश्र गुणस्थान में वर्त्तता हुआ जीव, मरता भी नहीं है, वह या तो सम्यग्दृष्टि होकर चौथे सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में आरोह करके मरता है, अथवा कुदृष्टि हो कर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक में पीछे आ कर मरता परन्तु किन्तु मिश्रगुण स्थान में रहता हुआ नहीं मरता। इस मिश्र गुण स्थान की तरे बारहवां क्षीणमोह, अरु तेरहवां सयोगी, इन दोनों गुणस्थानों में रहता हुआ भी जीव नहीं मरता है। शेष ग्यारह गुणस्थानों में काल कर जाता है। तथा मिथ्यात्व, सास्वादन और अविरति सम्यग्दृष्टि, यह तीन गुणस्थान जीव के साथ परभव में जाते हैं। शेष के ग्यारह गुणस्थान

के मिलने से जो अन्तर्मुहूर्त्त यावत् मिश्रित भाव है, उस को मिश्र गुणस्थान कहते हैं। तात्पर्य कि जो जीव सम्यक्त्व, मिथ्यात्व दोनों के एकत्र मिलने से मिश्र-भाव में वर्त्ते है, सो मिश्रगुणस्थानस्थ होता है। क्योंकि मिश्रपना जो है, सो दोनों के मिलने से एक जात्यंतर रूप है। जैसे घोड़ी और गधा, इन दोनों के संयोग से जात्यंतर खच्चर उत्पन्न होता है, अथवा जैसे गुड़ दही के मिलने से जात्यंतर रस शिखरणी रूप उत्पन्न होता है, तैसे ही जिस जीव को सर्वज्ञ असर्वज्ञ के कहे दोनों धर्मों में समबुद्धि से एक सरीखी श्रद्धा उत्पन्न होवे, सो जात्यंतरभेदात्मक होने से मिश्रगुणस्थान होता है। तथा जब यह जीव मिश्रगुण-स्थान वाला होता है, तब परभव का आयु नहीं बांधता है, अरु मिश्र गुणस्थान में वर्त्तता हुआ जीव, मरता भी नहीं है, वह या तो सम्यग्दृष्टि होकर चौथे सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में आरोह करके मरता है, अथवा कुदृष्टि हो कर मिथ्यादृष्टि गुणस्थानक में पीछे आ कर मरता परन्तु किन्तु मिश्रगुण स्थान में रहता हुआ नहीं मरता। इस मिश्र गुण स्थान की तरे बारहवां क्षीणमोह, अरु तेरहवां सयोगी, इन दोनों गुणस्थानों में रहता हुआ भी जीव नहीं मरता है। शेष ग्यारह गुणस्थानों में काल कर जाता है। तथा मिथ्यात्व, सास्वादन और अविरति सम्यग्दृष्टि, यह तीन गुणस्थान जीव के साथ परभव में जाते हैं। शेष के ग्यारह गुणस्थान

अर्थात् पूर्वभव के अभ्यास विशेष अथवा गुरू के उपदेश से जो अत्यन्त निर्मल रुचि–भावना प्रगट–उत्पन्न होती है, सो सम्यक्त्व है। इसी को सम्यक् श्रद्धान भी कहते हैं। यदाहः–

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते ।
ज़ायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा ॥

[यो० शा० प्र० १ श्लो० १७]

यह अविरति सम्यग्दृष्टिपना जैसे होता है, तैसे कहते हैं। दूसरा कषाय–अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से वर्जित विरतिपना–व्रत नियम रहित, केवल सम्यक्त्व मात्र ही जहां पर होवे, सो चौथे गुणस्थान वालों को अविरति सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान होता है। इस का तात्पर्य यह है, कि जैसे कोई पुरुष न्यायोपपन्न धन भोग विलास सौन्दर्यशालिकुल में उत्पन्न हुआ है, परन्तु दुरंत जूआ आदि व्यसनों के सेवन करने से अनेक प्रकारके अन्याय कर रहा है, सो किसी अपराध के करने से उसको राज से दण्ड मिला। तब वह पुरुष कोटवाल आदि राजकीय पुरुषों से विडंब्यमान, अपने व्यसन जनित कुत्सित कर्म को विरूप जानता हुआ, अपने कुल के सुन्दर सुख संपदा की अभिलाषा भी करता है, परन्तु कोटवालों से छूट कर सुख का उच्छ्वास भी नहीं ले सकता। तैसे ही यह जीव भी अविरतिपने को खोटे कर्म का फल जानता हुआ, विरति के सुन्दर सुख की अभिलाषा

अर्थात् पूर्वभव के अभ्यास विशेष अथवा गुरू के उपदेश से जो अत्यन्त निर्मल रुचि-भावना प्रगट-उत्पन्न होती है, सो सम्यक्त्व है। इसी को सम्यक् श्रद्धान भी कहते हैं। यदाहः-

रुचिर्जिनोक्ततत्त्वेषु, सम्यक् श्रद्धानमुच्यते।
जायते तन्निसर्गेण, गुरोरधिगमेन वा॥

[यो० शा० प्र० १ श्लो० १७]

यह अविरति सम्यग्दृष्टिपना जैसे होता है, तैसे कहते हैं। दूसरा कषाय-अप्रत्याख्यानी क्रोध, मान, माया और लोभ के उदय से वर्जित विरतिपना-व्रत नियम रहित, केवल सम्यक्त्व मात्र ही जहां पर होवे, सो चौथे गुणस्थान वालों को अविरति सम्यग्दृष्टि नामक गुणस्थान होता है। इस का तात्पर्य यह है, कि जैसे कोई पुरुष न्यायोपपन्न धन भोग विलास सौन्दर्यशालिकुल में उत्पन्न हुआ है, परन्तु दुरंत जूआ आदि व्यसनों के सेवन करने से अनेक प्रकारके अन्याय कर रहा है, सो किसी अपराध के करने से उसको राज से दण्ड मिला। तब वह पुरुष कोटवाल आदि राजकीय पुरुषों से विडंब्यमान, अपने व्यसन जनित कुत्सित कर्म को विरूप जानता हुआ, अपने कुल के सुन्दर सुख संपदा की अभिलाषा भी करता है, परन्तु कोटवालों से छूट कर सुख का उच्छ्वास भी नहीं ले सकता। तैसे ही यह जीव भी अविरतिपने को खोटे कर्म का फल जानता हुआ, विरति के सुन्दर सुख की अभिलाषा

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों की गति कहते हैं।

तीन करण जीव के परिणाम विशेष को करण कहते हैं, सो करण तीन प्रकार का होता है—१. यथाप्रवृत्तिकरण, २. अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। तहां पर्वत की नदी के जल से आलोड्यमान पाषाण की तरह घंचना—घोलना न्याय से यह जीव आयु कर्म को वर्ज कर शेष सातों कर्मों की स्थिति को किंचित् न्यून एक कोटाकोटी सागरप्रमाण को करता हुआ, जिस अध्यवसाय विशेष से ग्रंथिदेश—ग्रंथिके समीप तक आता है, उसको यथाप्रवृत्तिकरण कहते है। २. पूर्व में नहीं प्राप्त हुआ है जो अध्यवसायविशेष, तिस करके घन—निविड राग द्वेष परिणतिरूप ग्रंथि के भेदने का जो आरम्भ, तिस को अपूर्वकरण कहते हैं। ३. तथा जिस अनिवर्त्तक अध्यवसाय विशेष से ग्रंथिभेद करके अति परम आनंद जनक सम्यक्त्व को यह जीव प्राप्त करता है, तिस का नाम अनिवृत्तिकरण है। यह तीनों करण का स्वरूप श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण आचार्य, आवश्यक की शुद्धांभोनिधिगंधहस्तीमहाभाष्य में लिखते हैं। तीन पथिक के दृष्टांत से तीनों करण का स्वरूप दिखाते हैं। जैसे तीन पथिक उजाड़ के रस्ते चले जाते थे, तहां चलते चलते विकाल वेला हो गई और सूर्य अस्त हो गया, तब वे पंथी मन में बहुत डरने लगे। इतने में उस वखत तत्काल वहां दो चोर आ पहुंचे। तिन चोरों को देखकर उन में से एक पथिक

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती जीवों की गति कहते हैं।

तीन करण

जीव के परिणाम विशेष को करण कहते हैं, सो करण तीन प्रकार का होता है—१. यथाप्रवृत्तिकरण, २. अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। तहां पर्वत की नदी के जल से आलोड्यमान पाषाण की तरह घंचना—घोलना न्याय से यह जीव आयु कर्म को वर्ज कर शेष सातों कर्मों की स्थिति को किंचित् न्यून एक कोटाकोटी सागरप्रमाण को करता हुआ, जिस अध्यवसाय विशेष से ग्रंथिदेश—ग्रंथिके समीप तक आता है, उसको यथाप्रवृत्तिकरण कहते है। २. पूर्व में नहीं प्राप्त हुआ है जो अध्यवसायविशेष, तिस करके घन—निविड राग द्वेष परिणतिरूप ग्रंथि के भेदने का जो आरम्भ, तिस को अपूर्वकरण कहते हैं। ३. तथा जिस अनिवर्त्तक अध्यवसाय विशेष से ग्रंथिभेद करके अति परम आनंद जनक सम्यक्त्व को यह जीव प्राप्त करता है, तिस का नाम अनिवृत्तिकरण है। यह तीनों करण का स्वरूप श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमण आचार्य, आवश्यक की शुद्धांभोनिधिगंधहस्तीमहाभाष्य में लिखते हैं। तीन पथिक के दृष्टांत से तीनों करण का स्वरूप दिखाते हैं। जैसे तीन पथिक उजाड़ के रस्ते चले जाते थे, तहां चलते चलते विकाल वेला हो गई और सूर्य अस्त हो गया, तब वे पंथी मन में बहुत डरने लगे। इतने में उस वखत तत्काल वहां दो चोर आ पहुंचे। तिन चोरों को देखकर उन में से एक पथिक

अनिवृत्तिकरण करके विशुद्ध होकर उदय को प्राप्त हुए मिथ्यात्व को क्षय करके और उदय नहीं हुए को उपशांत कर देवे, तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जब जीव में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब उस को मनुष्यगति और देवगति की प्राप्ति होती है। तथा अपूर्वकरण करके जिस जीव ने तीन पुंज किये हैं, वह यदि चौथे गुणस्थान से ही क्षपकपने का जब आरम्भ करे तो अनंतानुबंधी चार, मिथ्यामोह, मिश्रमोह, अरु सम्यक्त्व मोहरूप तीनों पुंजों के क्षय होने से उसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जेकर अबद्धायु है, तब तो तिसी भव में मोक्ष को प्राप्त हो जावेगा। अरु जेकर आयु बांध कर पीछे से क्षायिकसम्यक्त्ववान् हुआ है, तब उस का तीसरे भव में मोक्ष होता है। तथा जेकर असंख्यात वर्ष जीने वाले मनुष्य ने तिर्यंच का आयु बांध कर पीछे से क्षायिकसम्यक्त्व को प्राप्त किया हो, तब चौथे भव में मोक्ष होता है।

अब अविरति गुणस्थानकवर्त्ती जीव का कृत्य लिखते हैं। व्रत नियम तो उस के कोई भी नहीं होता है, परन्तु देव में अर्थात् भगवान् श्रीवीतराग में, अरु उक्तलक्षण गुरु में तथा श्रीसंघ में क्रम करके भक्ति, पूजा, नमस्कार, वात्सल्यादि कृत्य करता है। तथा प्रभावक श्रावक होने से शासन की उन्नति-शासन की प्रभावना करता है। तथा अविरति

अनिवृत्तिकरण करके विशुद्ध होकर उदय को प्राप्त हुए मिथ्यात्व को क्षय करके और उदय नहीं हुए को उपशांत कर देवे, तब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। जब जीव में क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब उस को मनुष्यगति और देवगति की प्राप्ति होती है। तथा अपूर्वकरण करके जिस जीव ने तीन पुंज किये हैं, वह यदि चौथे गुणस्थान से ही क्षपकपने का जब आरम्भ करे तो अनंतानुबंधी चार, मिथ्यामोह, मिश्रमोह, अरु सम्यक्त्व मोहरूप तीनों पुंजों के क्षय होने से उसे क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। तब क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जेकर अबद्धायु है, तब तो तिसी भव में मोक्ष को प्राप्त हो जावेगा। अरु जेकर आयु बांध कर पीछे से क्षायिकसम्यक्त्ववान् हुआ है, तब उस का तीसरे भव में मोक्ष होता है। तथा जेकर असंख्यात वर्ष जीने वाले मनुष्य ने तिर्यंच का आयु बांध कर पीछे से क्षायिकसम्यक्त्व को प्राप्त किया हो, तब चौथे भव में मोक्ष होता है।

अब अविरति गुणस्थानकवर्त्ती जीव का कृत्य लिखते हैं। व्रत नियम तो उस के कोई भी नहीं होता है, परन्तु देव में अर्थात् भगवान् श्रीवीतराग में, अरु उक्तलक्षण गुरु में तथा श्रीसंघ में क्रम करके भक्ति, पूजा, नमस्कार, वात्सल्यादि कृत्य करता है। तथा प्रभावक श्रावक होने से शासन की उन्नति-शासन की प्रभावना करता है। तथा अविरति

*आउट्टि थूल हिंसाइ, मज्ज मंसाइचायओ।
जहन्नो सावओ होइ, जो नमुक्कारधारओ॥

[श्रा० दि० अवचूर्णी गा० २२५]

तथा मध्यम देशविरति—धर्म योग्य गुणों करी आकीर्ण, गृहस्थोचित्त षट्कर्म रूप धर्म में तत्पर, द्वादश व्रत का पालक, सदाचारवान् होवे, तो मध्यम श्रावक जानना। तथा उत्कृष्ट-देशविरति—सचित्त आहार का वर्जक, प्रतिदिन एकाशन करे, ब्रह्मचारी होवे, महाव्रत अंगीकार करने की इच्छा वाला होवे, गृहस्थ का धंदा जिस ने त्यागा है, ऐसा जो होवे, सो उत्कृष्टदेशविरति है। यह तीन प्रकार की विरति जिस को होवे, उस को श्राद्ध अर्थात् श्रावक कहते हैं। देशविरति की उत्कृष्टी स्थिति देशोनकोटिपूर्व की है।

अथ देशविरति गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इस गुणस्थान में १. अनिष्टयोगार्त्त, २. इष्टवियोगार्त्त, ३. रोगार्त्त, ४ निदानार्त्त, यह चार पाद रूप आर्त्तध्यान, तथा १. हिंसानंदरौद्र, २. मृषानन्दरौद्र, ३. चौर्यानंदरौद्र, ४. संरक्षणानंदरौद्र, यह चार पाद वाला रौद्र ध्यान है। देशविरति के आर्त्त और रौद्र ध्यान मंद होता है। जैसे जैसे देशविरति अधिक अधिकतर होती है, तैसे तैसे आर्त्त रौद्र

---

* आकुट्टिस्थूलहिंसादिमद्यमांसादित्यागात्।
जघन्यः श्रावको भवति; यो नमस्कारधारकः॥

*आउट्टि थूल हिंसाइ, मज्ज मंसाइचायओ।
जहन्नो सावओ होइ, जो नमुक्कारधारओ॥

[श्रा० दि० अवचूर्णी गा० २२५]

तथा मध्यम देशविरति—धर्म योग्य गुणों करी आकीर्ण, गृहस्थोचित्त षट्कर्म रूप धर्म में तत्पर, द्वादश व्रत का पालक, सदाचारवान् होवे, तो मध्यम श्रावक जानना। तथा उत्कृष्ट-देशविरति—सचित्त आहार का वर्जक, प्रतिदिन एकाशन करे, ब्रह्मचारी होवे, महाव्रत अंगीकार करने की इच्छा वाला होवे, गृहस्थ का धंदा जिस ने त्यागा है, ऐसा जो होवे, सो उत्कृष्टदेशविरति है। यह तीन प्रकार की विरति जिस को होवे, उस को श्राद्ध अर्थात् श्रावक कहते हैं। देशविरति की उत्कृष्टी स्थिति देशोनकोटिपूर्व की है।

अथ देशविरति गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इस गुणस्थान में १. अनिष्टयोगार्त्त, २. इष्टवियोगार्त्त, ३. रोगार्त्त, ४ निदानार्त्त, यह चार पाद रूप आर्त्तध्यान, तथा १. हिंसानंदरौद्र, २. मृषानन्दरौद्र, ३. चौर्यानंदरौद्र, ४. संरक्षणानंदरौद्र, यह चार पाद वाला रौद्र ध्यान है। देशविरति के आर्त्त और रौद्र ध्यान मंद होता है। जैसे जैसे देशविरति अधिक अधिकतर होती है, तैसे तैसे आर्त्त रौद्र

* आकुट्टिस्थूलहिंसादिमद्यमांसादित्यागतः।
जघन्यः श्रावको भवति; यो नमस्कारधारकः॥

इन का विस्तार देखना होवे, तदा पंचाशकनामा शास्त्र के प्रतिमा पंचाशक में देख लेना । श्रावक के व्रत बारह हैं, सो आगे चल कर लिखेंगे । यह षट् कर्म, एकादश प्रतिमा, बारह व्रत, इन के पालन में मध्यम धर्म ध्यान होता है । तथा देशविरति गुणस्थानस्थ जीव अप्रत्याख्यानी चार कषाय, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, यह नरकत्रिक, आद्य संहनन तथा औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, यह औदारिक द्विक, यह सब मिलकर दश कर्मप्रकृति का बंधव्यच्छेद होने से सतसठ कर्मप्रकृति का बंध करता है। तथा अप्रत्याख्यान चार, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकत्रिक, देव त्रिक, वैक्रिय द्विक, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, इन सतरां कर्मप्रकृतियों के उदय का व्यवच्छेद करने से सत्तासी कर्मप्रकृति को वेदता है । अरु एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है ।

पांचमे गुणस्थान के उपरांत जितने गुणस्थान हैं, तिन में से तेरहवें गुणस्थान को वर्जे के शेष के सर्व गुणस्थानों की अन्तर्मुहूर्त्त मात्र स्थिति है ।

अब छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं ।

प्रमत्त गुणस्थान

सर्व विरति साधु छठे प्रमत्त गुणस्थान में होता है, जो कि अहिंसादि पांच महाव्रत का धारक है । प्रमाद के होने से साधु प्रमत्त होता है । प्रमाद पांच प्रकार का है । यदाहः—

इन का विस्तार देखना होवे, तदा पंचाशकनामा शास्त्र के प्रतिमा पंचाशक में देख लेना । श्रावक के व्रत बारह हैं, सो आगे चल कर लिखेंगे । यह षट् कर्म, एकादश प्रतिमा, बारह व्रत, इन के पालन में मध्यम धर्म ध्यान होता है । तथा देशविरति गुणस्थानस्थ जीव अप्रत्याख्यानी चार कषाय, नरकगति, नरकायु, नरकानुपूर्वी, यह नरकत्रिक, आद्य संहनन तथा औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, यह औदारिक द्विक, यह सब मिलकर दश कर्मप्रकृति का बंधव्यच्छेद होने से सतसठ कर्मप्रकृति का बंध करता है । तथा अप्रत्याख्यान चार, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, नरकत्रिक, देव त्रिक, वैक्रिय द्विक, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, इन सतरां कर्मप्रकृतियों के उदय का व्यवच्छेद करने से सत्तासी कर्मप्रकृति को वेदता है । अरु एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है ।

पांचमे गुणस्थान के उपरांत जितने गुणस्थान हैं, तिन में से तेरहवें गुणस्थान को वर्ज के शेष के सर्व गुणस्थानों की अन्तर्मुहूर्त्त मात्र स्थिति है ।

अब छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं ।

प्रमत्त गुणस्थान

सर्व विरति साधु छठे प्रमत्त गुणस्थान में होता है, जो कि अहिंसादि पांच महाव्रत का धारक है । प्रमाद के होने से साधु प्रमत्त होता है । प्रमाद पांच प्रकार का है । यदाहः—

और संस्थानविचय धर्मध्यान के चार पाद हैं। उक्तं चः—

आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य च चिंतनात् ।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं चतुर्विधं ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० २८ की वृत्ति]

भावार्थः—आज्ञा उस को कहते हैं, कि जो कुछ सर्वज्ञ अर्हंत भगवंत ने कहा है, सो सर्व सत्य है। अरु जो बात मेरी समझ में नहीं आती है, वो मेरी बुद्धि की मंदता है। तथा दुषम काल के प्रभाव से, संशय मिटाने वाले गुरु के अभाव से, इत्यादि अन्य निमित्तों से मेरी समझ में नहीं आता। परन्तु अर्हंत भगवंत के कहे हुए वाक्य तो सत्य ही हैं, क्योंकि उन के मृषा बोलने का कोई भी निमित्त नहीं है। ऐसा जो चिंतन करना सो आज्ञा विचयनामा प्रथम भेद है। तथा राग, द्वेष, कषायादिकों से जो अपाय—कष्ट उत्पन्न होते हैं, तिन का जो चिंतन करना, सो अपाय विचयनामा दूसरा भेद है। तथा क्षण क्षण प्रति जो कर्मफलोदय विचित्र रूप से उत्पन्न होता है, सो विपाक विचयनामा तीसरा भेद है। तथा यह लोक अनादि अनंत है, अरु उत्पाद, व्यय, ध्रुव रूप सर्व पदार्थ हैं, तथा पुरुषाकार लोक का संस्थान है, ऐसा जो चिंतन करना, सो संस्थान विचयनामा चौथा भेद है। इत्यादि आलंबन युक्त धर्मध्यान की गौणता प्रमत्त गुणस्थान में है, किन्तु प्रमाद युक्त होने से मुख्यता नहीं।

और संस्थानविचय धर्मध्यान के चार पाद हैं। उक्तं चः—

आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य च चिंतनात् ।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं चतुर्विधं ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० २८ की वृत्ति]

भावार्थः—आज्ञा उस को कहते हैं, कि जो कुछ सर्वज्ञ अर्हंत भगवंत ने कहा है, सो सर्व सत्य है। अरु जो बात मेरी समझ में नहीं आती है, वो मेरी बुद्धि की मंदता है। तथा दुषम काल के प्रभाव से, संशय मिटाने वाले गुरु के अभाव से, इत्यादि अन्य निमित्तों से मेरी समझ में नहीं आता। परन्तु अर्हंत भगवंत के कहे हुए वाक्य तो सत्य ही हैं, क्योंकि उन के मृषा बोलने का कोई भी निमित्त नहीं है। ऐसा जो चिंतन करना सो आज्ञा विचयनामा प्रथम भेद है। तथा राग, द्वेष, कषायादिकों से जो अपाय—कष्ट उत्पन्न होते हैं, तिन का जो चिंतन करना, सो अपाय विचयनामा दूसरा भेद है। तथा क्षण क्षण प्रति जो कर्मफलोदय विचित्र रूप से उत्पन्न होता है, सो विपाक विचयनामा तीसरा भेद है। तथा यह लोक अनादि अनंत है, अरु उत्पाद, व्यय, ध्रुव रूप सर्व पदार्थ हैं, तथा पुरुषाकार लोक का संस्थान है, ऐसा जो चिंतन करना, सो संस्थान विचयनामा चौथा भेद है। इत्यादि आलंबन युक्त धर्मध्यान की गौणता प्रमत्त गुणस्थान में है, किन्तु प्रमाद युक्त होने से मुख्यता नहीं।

अर्थः—जेकर जिनमत को अंगीकार करते हो, और जैन-मत में साधु होते हो, तो व्यवहार निश्चय का त्याग मत करो। क्योंकि व्यवहार नय के उच्छेद होने से तीर्थ का उच्छेद हो जायगा। इस बात पर यह दृष्टांत है, कि कोई एक पुरुष अपने घर में सदा बाजरे की रोटी खाता है। किसी ने उस को निमन्त्रण करके अपूर्व मिष्टान्न का आहार कराया, तब वो उस के स्वाद का लोलुपी हो कर अपने घर की बाजरे की रोटी निःस्वाद जान कर खाता नहीं, और उस दुष्प्राप्य मिष्टान्न की अभिलाषा करता है, परन्तु वह मिष्टान्न उस को मिलता नहीं। तब वो जैसे उभयभ्रष्ट होता है, तैसे ही जीव भी कदाग्रहरूप भूत के लगने से प्रमत्तगुणस्थानसाध्य स्थूलमात्र पुण्यपुष्टि का कारण षडावश्यकादि कष्टक्रिया को नहीं करता हुआ, कदाचित् अप्रमत्त गुणस्थान में प्राप्त होने वाले अमृत आहार तुल्य निर्विकल्प मनोजनित समाधिरूप निरालंबन ध्यान के अंश को प्राप्त हो गया है, तब तिस निरालंबन ध्यान से उत्पन्न हुआ जो परमानंदरूप सुखस्वाद, तिस करके प्रमत्त गुणस्थानगत षडावश्यकादि कष्टक्रिया कर्म को कदन्न के समान जानकर कर उस का सम्यक् आराधन नहीं करता, और मिष्टान्न तुल्य निरालंबन ध्यानांश तो प्रथम संहनन के अभाव से प्राप्त होता नहीं है, तब षडावश्यक के न करने से उभयभ्रष्ट हो जाता है। क्योंकि निरालंबन ध्यान का मनोरथ ही पंचम काल के महामुनि ऋषियों ने करा है। तथाच पूर्वमहर्षयः—

अर्थः—जेकर जिनमत को अंगीकार करते हो, और जैनमत में साधु होते हो, तो व्यवहार निश्चय का त्याग मत करो। क्योंकि व्यवहार नय के उच्छेद होने से तीर्थ का उच्छेद हो जायगा। इस बात पर यह दृष्टांत है, कि कोई एक पुरुष अपने घर में सदा बाजरे की रोटी खाता है। किसी ने उस को निमन्त्रण करके अपूर्व मिष्टान्न का आहार कराया, तब वो उस के स्वाद का लोलुपी हो कर अपने घर की बाजरे की रोटी निःस्वाद जान कर खाता नहीं, और उस दुष्प्राप्य मिष्टान्न की अभिलाषा करता है, परन्तु वह मिष्टान्न उस को मिलता नहीं। तब वो जैसे उभयभ्रष्ट होता है, तैसे ही जीव भी कदाग्रहरूप भूत के लगने से प्रमत्तगुणस्थानसाध्य स्थूलमात्र पुण्यपुष्टि का कारण षडावश्यकादि कष्टक्रिया को नहीं करता हुआ, कदाचित् अप्रमत्त गुणस्थान में प्राप्त होने वाले अमृत आहार तुल्य निर्विकल्प मनोजनित समाधिरूप निरालंबन ध्यान के अंश को प्राप्त हो गया है, तब तिस निरालंबन ध्यान से उत्पन्न हुआ जो परमानंदरूप सुखस्वाद, तिस करके प्रमत्त गुणस्थानगत षडावश्यकादि कष्टक्रिया कर्म को कदन्न के समान जानकर कर उस का सम्यक् आराधन नहीं करता, और मिष्टान्न तुल्य निरालंबन ध्यानांश तो प्रथम संहनन के अभाव से प्राप्त होता नहीं है, तब षडावश्यक के न करने से उभयभ्रष्ट हो जाता है। क्योंकि निरालंबन ध्यान का मनोरथ ही पंचम काल के महामुनि ऋषियों ने करा है। तथाच पूर्वमहर्षयः—

इन श्लोकों का थोड़ासा अर्थ भी लिख देते हैं:—१. चित्त की वृत्ति का निरोध करके, इन्द्रियसमूह और इंद्रियों के विषयों को दूर करके, तदनन्तर पवन अर्थात् श्वासोच्छ्वास की गतागति को रोक करके; अरु धैर्य का अवलंबन करके, पद्मासन से बैठ करके, शिवके वास्ते विधि संयुक्त किसी पर्वत की गुफा में बैठ करके; एक वस्तु पर दृष्टि रख कर; मुझ को अंतर्मुख, रहना योग्य है। २. चित्त के निश्चल होने पर राग, द्वेष, कषाय, निद्रा मद के शांत हुए, इन्द्रिय समूह के दूर हुए, तथा भ्रमारंभक अन्धकार के दूर होने से, आनंद के प्रगट वृद्धिमान् भये, ज्ञान के प्रकाश भये, ऐसी अवस्था में वन में रहे हुए मेरे को दुष्टाशय वाले सिंह कब देखेंगे? तथा श्रीसूरप्रभाचार्य भी कहते हैं:—३. हे भगवन्! तुमारे आगमरूप भेषज से राग रूप रोग को निवृत्त करके, निर्मल चित्त होकर, कब वो दिन आवेगा कि जिस दिन मैं समाधि रूपी लक्ष्मी को देखूंगा? तथा श्रीहेमचंद्र सूरि जी कहते हैं:—४. वन में पद्मासन से बैठे हुए और जिस की गोद में हिरण का बच्चा बैठा हुआ है, ऐसे मुझ को हिरणों के स्वामी बूढ़े मृग कब सूंघेंगे [अरु मैं अपनी समाधि में स्थित रहूं] ५. तथा शत्रु अरु मित्र में, तृण अरु स्त्री में, सुवर्ण अरु पाषाण में, मणि अरु मट्टि में, मोक्ष अरु संसार में, निर्विशेषमति, मैं कब होऊंगा? ऐसे ही मंत्री वस्तुपाल ने तथा परमत में भर्तृहरि ने भी मनोरथ ही करा है। इस प्रकार स्वसमय और

इन श्लोकों का थोड़ासा अर्थ भी लिख देते हैं:—१. चित्त की वृत्ति का निरोध करके, इन्द्रियसमूह और इंद्रियों के विषयों को दूर करके, तदनन्तर पवन अर्थात् श्वासोच्छ्वास की गतागति को रोक करके, अरु धैर्य का अवलंबन करके, पद्मासन से बैठ करके, शिवके वास्ते विधि संयुक्त किसी पर्वत की गुफा में बैठ करके, एक वस्तु पर दृष्टि रख कर, मुझ को अंतर्मुख, रहना योग्य है। २. चित्त के निश्चल होने पर राग, द्वेष, कषाय, निद्रा मद के शांत हुए, इन्द्रिय समूह के दूर हुए, तथा भ्रमारंभक अन्धकार के दूर होने से, आनंद के प्रगट वृद्धिमान् भये, ज्ञान के प्रकाश भये, ऐसी अवस्था में वन में रहे हुए मेरे को दुष्टाशय वाले सिंह कब देखेंगे ? तथा श्रीसूरप्रभाचार्य भी कहते हैं:—३. हे भगवन् ! तुमारे आगमरूप भेषज से राग रूप रोग को निवृत्त करके, निर्मल चित्त होकर, कब वो दिन आवेगा कि जिस दिन मैं समाधि रूपी लक्ष्मी को देखूंगा ? तथा श्रीहेमचंद्र सूरि जी कहते हैं:—४. वन में पद्मासन से बैठे हुए और जिस की गोद में हिरण का बच्चा बैठा हुआ है, ऐसे मुझ को हिरणों के स्वामी बूढ़े मृग कब सूंघेंगे [अरु मैं अपनी समाधि में स्थित रहूं] ५. तथा शत्रु अरु मित्र में, तृण अरु स्त्री में, सुवर्ण अरु पाषाण में, मणि अरु मट्टि में, मोक्ष अरु संसार में, निर्विशेषमति, मैं कब होऊंगा ? ऐसे ही मंत्री वस्तुपाल ने तथा परमत में भर्तृहरि ने भी मनोरथ ही करा है। इस प्रकार स्वसमय और

तिस के छेदने के वास्ते वह अवश्यमेव षडावश्यकादि क्रिया को करे। जहां तक कि ऊपर के गुणस्थानों करी साध्य जो निरालंबन ध्यान है, तिस की प्राप्ति न हो जावे। तथा प्रमत्त गुणस्थानस्थजीव चार प्रत्याख्यान के बंध का व्यवच्छेद होने से त्रेसठ प्रकृति का बंध करता है। तथा तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योत अरु प्रत्याख्यान चार, इन आठ प्रकृतियों के उदय का उच्छेद होने से, अरु आहारक तथा आहारकोपांग इन दो प्रकृतियों का उदय होने से इकासी प्रकृति को वेदता है, अरु उस में एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है।

अथ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं।

अप्रमत्तगुणस्थान

पांच महाव्रत धारी साधु पांच प्रकार के प्रमाद से रहित होने पर अप्रमत्तगुणस्थानस्थ होता है। क्योंकि उस में संज्वलन की चारों कषायों तथा नोकषायों का भी उदय मंद होवे है। तात्पर्य यह कि संज्वलन कषाय तथा नोकषायों का जैसा जैसा मंदोदय होता है, तैसे तैसे साधु अप्रमत्त होता है। यदाहः—

*यथा यथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि।

---

*भावार्थः—सुलभता से प्राप्त हुआ पांचों इन्द्रियों संबंधी विषयसुख ज्यों ज्यों मनुष्य को अरुचिकर होता है, त्यों त्यों उसे सम्यक् ज्ञान में

तिस के छेदनें के वास्ते वह अवश्यमेव षडावश्यकादि क्रिया को करे। जहां तक कि ऊपर के गुणस्थानों करी साध्य जो निरालंबन ध्यान है, तिस की प्राप्ति न हो जावे। तथा प्रमत्त गुणस्थानस्थजीव चार प्रत्याख्यान के बंध का व्यवच्छेद होने से त्रेसठ प्रकृति का बंध करता है। तथा तिर्यग्गति, तिर्यगानुपूर्वी, नीचगोत्र, उद्योत अरु प्रत्याख्यान चार, इन आठ प्रकृतियों के उदय का उच्छेद होने से, अरु आहारक तथा आहारकोपांग इन दो प्रकृतियों का उदय होने से इकासी प्रकृति को वेदता है, अरु उस में एक सौ अडतीस प्रकृति की सत्ता है।

अथ सप्तम अप्रमत्त गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं।

अप्रमत्तगुणस्थान

पांच महाव्रत धारी साधु पांच प्रकार के प्रमाद से रहित होने पर अप्रमत्तगुणस्थानस्थ होता है। क्योंकि उस में संज्वलन की चारों कषायों तथा नोकषायों का भी उदय मंद होवे है। तात्पर्य यह कि संज्वलन कषाय तथा नोकषायों का जैसा जैसा मंदोदय होता है, तैसे तैसे साधु अप्रमत्त होता है। यदाहः—

*यथा यथा न रोचंते, विषयाः सुलभा अपि।

---

*भावार्थः—सुलभता से प्राप्त हुआ पांचों इन्द्रियों संबंधी विषयसुख ज्यों ज्यों मनुष्य को अरुचिकर होता है, त्यों त्यों उसे सम्यक् ज्ञान में

ध्यान—एकाग्रता रूप, ऐसा ज्ञान ध्यानरूप जिस के पास धन है, इसी वास्ते "मौनी"—मौनवान् है, क्योंकि मौनवान् ही ध्यानरूप धनवान् हो सकता है। तदनन्तर ज्ञान ध्यान मौनवान् उपशम करने के वास्ते अथवा क्षय करने के वास्ते सन्मुख हुआ २ ऐसा पवित्र मुनि सप्तोत्तर मोह को, पूर्वोक्त सम्यक्त्व मोह, मिश्रमोह, मिथ्यात्वमोह, अरु अनंतानुबंधी चार, इन सात प्रकृति के विना शेष इक्कीस प्रकृतिरूप मोहनीय कर्म के उपशम करने के सन्मुख तथा क्षय करने के सन्मुख जब होता है, तब सालंबन ध्यान को त्याग के निरालंबन ध्यान में प्रवेश करने का आरंभ करता है। इस निरालंबन ध्यान में प्रवेश करने वाले योगी तीन तरे के होते हैं। यथा—१. प्रारंभक, २. तन्निष्ठ, ३. निष्पन्नयोग। यदाहः—

*सम्यग् नैसर्गिकीं वा विरतिपरिणतिं, प्राप्य सांसर्गिकीं वा,
क्वाप्येकांते निविष्टाः कपिचपलचलन्मानसस्तंभनाय।
शश्वन्नासाग्रपालीघनघटितदृशो धीरवीरासनस्था
ये निष्कम्पाः समाधे र्विदधति विधिनारंभमारंभकास्ते ।१।

*भावार्थः—१. जो मनुष्य नैसर्गिक या सांसर्गिक विरति—व्रत नियम वाली आत्म परिणति को प्राप्त करके, बन्दर के समान चपल मन को निरुद्ध करने के लिये, किसी पर्वत की गुफा आदि एकांत स्थान में बैठकर तथा निरन्तर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगा कर निष्कम्प रूप वीरासन से विधिपूर्वक समाधि का प्रारम्भ करते हैं, उन्हें प्रारम्भक योगी कहते हैं।

ध्यान—एकाग्रता रूप, ऐसा ज्ञान ध्यानरूप जिस के पास धन है, इसी वास्ते "मौनी"—मौनवान् है, क्योंकि मौनवान् ही ध्यानरूप धनवान् हो सकता है। तदनन्तर ज्ञान ध्यान मौनवान् उपशम करने के वास्ते अथवा क्षय करने के वास्ते सन्मुख हुआ २ ऐसा पवित्र मुनि सप्तोत्तर मोह को, पूर्वोक्त सम्यक्त्व मोह, मिश्रमोह, मिथ्यात्वमोह, अरु अनंतानुबंधी चार, इन सात प्रकृति के विना शेष इक्कीस प्रकृतिरूप मोहनीय कर्म के उपशम करने के सन्मुख तथा क्षय करने के सन्मुख जब होता है, तब सालंबन ध्यान को त्याग के निरालंबन ध्यान में प्रवेश करने का आरंभ करता है । इस निरालंबन ध्यान में प्रवेश करने वाले योगी तीन तरे के होते हैं । यथा—१. प्रारंभक, २. तन्निष्ठ, ३. निष्पन्नयोग। यदाहः—

*सम्यग् नैसर्गिकीं वा विरतिपरिणतिं, प्राप्य सांसर्गिकीं वा,
क्वाप्येकांते निविष्टाः कपिचपलचलन्मानसस्तंभनाय ।
शश्वन्नासाग्रपालीघनघटितदृशो धीरवीरासनस्था
ये निष्कम्पाः समाधे र्विदधति विधिनारंभमारंभकास्ते ।१।

*भावार्थः—१. जो मनुष्य नैसर्गिक या सांसर्गिक विरति—व्रत नियम वाली आत्म परिणति को प्राप्त करके, बन्दर के समान चपल मन को निरुद्ध करने के लिये, किसी पर्वत की गुफा आदि एकांत स्थान में बैठकर तथा निरन्तर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि लगा कर निष्कम्प रूप वीरासन से विधिपूर्वक समाधि का प्रारम्भ करते हैं, उन्हें प्रारम्भक योगी कहते हैं।

अथ अप्रमत्त गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इस अप्रमत्त गुणस्थान में सर्वज्ञ का कहा हुआ धर्मध्यान मैत्र्यादि भेद से अनेक रूप होता है। यदाहः—

*मैत्र्यादिभिश्चतुर्भेदं, यद्वाज्ञादिचतुर्विधम्।
रूपस्थादिचतुर्धा वा, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥१॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥२॥
आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य च चिंतनात्।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥३॥

[गुण० क्रमा, श्लो० ३५ की वृत्ति]

तथा १. पिंडस्थध्यान—अपने अंग अंगीका स्वरूप, २. वाणीव्यापाररूप पदस्थध्यान, ३. संकल्पित आत्मरूप रूपस्थ

---

*१. मैत्री भावना आदि चार भेद या आज्ञा आदि चार भेद, अथवा पिण्डस्थादि चार भेदों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का कहा है।

२. धर्मध्यान को वृद्धि के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, इन चार भावनाओं को ध्याना चाहिये। क्योंकि ये इस की वृद्धि के लिये रसायन के तुल्य हैं।

३. आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, इन चार प्रकार के ध्येयों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का कहा है।

अथ अप्रमत्त गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इस अप्रमत्त गुणस्थान में सर्वज्ञ का कहा हुआ धर्मध्यान मैत्र्यादि भेद से अनेक रूप होता है। यदाहः—

*मैत्र्यादिभिश्चतुर्भेदं, यद्वाज्ञादिचतुर्विधम् ।
रूपस्थादिचतुर्धा वा, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥१॥
मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं, तद्धि तस्य रसायनम् ॥२॥
आज्ञापायविपाकानां, संस्थानस्य च चिंतनात् ।
इत्थं वा ध्येयभेदेन, धर्मध्यानं प्रकीर्तितम् ॥३॥

[गुण० क्रमा, श्लो० ३५ की वृत्ति]

तथा १. पिंडस्थध्यान—अपने अंग अंगीका स्वरूप, २. वाणीव्यापाररूप पदस्थध्यान, ३. संकल्पित आत्मरूप रूपस्थ

*१. मैत्री भावना आदि चार भेद या आज्ञा आदि चार भेद, अथवा पिण्डस्थादि चार भेदों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का कहा है।

२. धर्मध्यान की वृद्धि के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ, इन चार भावनाओं को ध्याना चाहिये। क्योंकि ये इस की वृद्धि के लिये रसायन के तुल्य हैं।

३. आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, इन चार प्रकार के ध्येयों के अनुसार धर्मध्यान भी चार प्रकार का कहा है।

वर्त्तमान जो जीव है, वो भावतीर्थस्नान करके परम शुद्धि को प्राप्त होता है। यदाहः—

*दाहोवसमं तण्हाइछेयणं मलप्पवाहणं चेव।
तिहिं अत्थेहिं निउत्तं, तम्हा तं दव्वओ तित्थं॥१॥
कोहंमि उ निग्गाहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तित्थं।
लोहंमि उ निग्गहिए, तण्हाएछेयणं जाण॥२॥
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिं भवेहिं संचियं जम्हा।
तवसंयमेण धोयइ, तम्हा तं भावओ तित्थं॥३॥

[आव० नि०, गा० १०६६—६७—६८]

अर्थः—१. जो दाह को उपशांत करे, तृषा का छेद करे, शरीर के मल को दूर करे। तात्पर्य कि इन पूर्वोक्त तीनों अर्थों करके जो नियुक्त होवे, ऐसे जो गंगा मागधादि—तिस को द्रव्यतीर्थ कहते हैं। २. तथा क्रोध के निग्रह करने से अन्तरंग

छायाः—दाहोपशमस्तृष्णाछेदनं मलप्रवाहणञ्चैव।
त्रिभिरर्थैर्नियुक्तं तस्मात्तद्द्रव्यतस्तीर्थम्॥१॥
क्रोधे तु निगृहीते, दाहस्योपशमनं भवति तीर्थम्।
लोभे तु निगृहीते, तृष्णायाश्छेदनं जानीहि॥२॥
अष्टविधं कर्मरजः बहुकैरपि भवैः संचितं यस्मात्।
तपः संयमेन चालयति, तस्मात्तद्भावतस्ततीर्थम्॥३॥

वर्त्तमान जो जीव है, वो भावतीर्थस्नान करके परम शुद्धि को प्राप्त होता है। यदाहः—

*दाहोवसमं तण्हाइछेयणं मलप्पवाहणं चेव ।
तिहिं अत्थेहिं निउत्तं, तम्हा तं दव्वओ तित्थं ॥१॥
कोहंमि उ निग्गहिए, दाहस्सोवसमणं हवइ तित्थं ।
लोहंमि उ निग्गहिए, तण्हाएछेयणं जाण ॥२॥
अट्ठविहं कम्मरयं, बहुएहिं भवेहिं संचियं जम्हा ।
तवसंयमेण धोयइ, तम्हा तं भावओ तित्थं ॥३॥

[आव० नि०, गा० १०६६—६७—६८]

अर्थः—१. जो दाह को उपशांत करे, तृषा का छेद करे, शरीर के मल को दूर करे। तात्पर्य कि इन पूर्वोक्त तीनों अर्थों करके जो नियुक्त होवे, ऐसे जो गंगा मागधादि—तिस को द्रव्यतीर्थ कहते हैं। २. तथा क्रोध के निग्रह करने से अन्तरंग

छायाः—दाहोपशमस्तृष्णाछेदनं मलप्रवाहणञ्चैव ।
त्रिभिरर्थैर्नियुक्तं तस्मात्तद्द्रव्यतस्तीर्थम् ॥१॥
क्रोधे तु निगृहीते, दाहस्योपशमनं भवति तीर्थम् ।
लोभे तु निगृहीते, तृष्णायाश्छेदनं जानीहि ॥२॥
अष्टविधं कर्मरजः बहुकैरपि भवैः संचितं यस्मात् ।
तपः संयमेन चालयति, तस्मात्तद्भावतस्ततीर्थम् ॥३॥

आहारकोपांग, इन दो प्रकृतियों का बंध करता है । इस वास्ते उनसठ प्रकृति का बंध करता है । तथा जेकर देवायु न बांधे, तब अट्ठावन प्रकृति का बंध करता है । यदि स्त्यानर्द्धि त्रिक, अरु आहारक द्विक के उदय का व्यवच्छेद करे, तब छिहत्तर प्रकृति का फल वेदता है । अरु १३८ प्रकृति की इस में सत्ता है ।

अब आठवां अपूर्वकरण, नवमा अनिवृत्तिबादर, दसवां सूक्ष्मसंपराय, ग्यारहवां उपशांतमोह, और बारहवां क्षीणमोह, इन पांच गुणस्थानों का नामार्थ सामान्य प्रकार से लिखते हैं ।

उक्त अप्रमत्तसंयत—सातमे गुणस्थान—वर्त्ती जीव चार संज्वलन कषाय, छे नो कषाय, इन के मंद होने पर अप्राप्तपूर्व अत्यन्त परमाह्लाद रूप अपूर्व पारिणामिक भाव जब प्राप्त होता है, तब वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आता है । इस का नाम अपूर्वकरण इस वास्ते कहते हैं, कि इस गुणस्थान में अपूर्व आत्मगुण की प्राप्ति होती है ।

तथा देखे, सुने और अनुभव किये हुए जो भोग, तिन की आकांक्षारूप संकल्प विकल्प से रहित, निश्चल परमात्मैकतत्त्वरूप प्रधान परिणतिरूप भावों की निवृत्ति नहीं होती, इस वास्ते इस नवमे गुणस्थान को अनिवृत्ति गुणस्थान कहते हैं । इसका नाम जो अनिवृत्तिबादर भी है, उस का कारण यह है, कि इसमें अप्रत्याख्यानादि जो द्वादश बादर

आहारकोपांग, इन दो प्रकृतियों का बंध करता है । इस वास्ते उनसठ प्रकृति का बंध करता है । तथा जेकर देवायु न बांधे, तब अठ्ठावन प्रकृति का बंध करता है । यदि स्त्यानर्द्धि त्रिक, अरु आहारक द्विक के उदय का व्यवच्छेद करे, तब छिहत्तर प्रकृति का फल वेदता है । अरु १३८ प्रकृति की इस में सत्ता है ।

अब आठवां अपूर्वकरण, नवमा अनिवृत्तिबादर, दसवां सूक्ष्मसंपराय, ग्यारहवां उपशांतमोह, और बारहवां क्षीणमोह, इन पांच गुणस्थानों का नामार्थ सामान्य प्रकार से लिखते हैं ।

उक्त अप्रमत्तसंयत—सातमे गुणस्थान—वर्त्ती जीव चार संज्वलन कषाय, छे नो कषाय, इन के मंद होने पर अप्राप्तपूर्व अत्यन्त परमाह्लाद रूप अपूर्व पारिणामिक भाव जब प्राप्त होता है, तब वह अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान में आता है । इस का नाम अपूर्वकरण इस वास्ते कहते हैं, कि इस गुणस्थान में अपूर्व आत्मगुण की प्राप्ति होती है ।

तथा देखे, सुने और अनुभव किये हुए जो भोग, तिन की आकांक्षारूप संकल्प विकल्प से रहित, निश्चल परमात्मैकतत्त्वरूप प्रधान परिणतिरूप भावों की निवृत्ति नहीं होती, इस वास्ते इस नवमे गुणस्थान को अनिवृत्ति गुणस्थान कहते हैं । इसका नाम जो अनिवृत्तिबादर भी है, उस का कारण यह है, कि इसमें अप्रत्याख्यानादि जो द्वादश बादर

उपशमश्रेणि

उपशमक मुनि शुक्लध्यान का प्रथम पाया, जिस का स्वरूप आगे लिखेंगे, उस को ध्याता हुआ उपशमश्रेणि को अंगीकार करता है। वो मुनि पूर्वगत श्रुत का धारक, निरतिचार चारित्रवान् और आदि के तीन संहनन से युक्त होता है, अर्थात् ऐसी योग्यता वाला मुनि उपशमश्रेणि करता है।

उपशम श्रेणि वाला मुनि जेकर अल्प आयु वाला होवे, तब तो काल करके "अहमिंद्र" अर्थात् पांच अनुत्तर विमान में—सर्वार्थसिद्धादि देवों में उत्पन्न होता है। परन्तु जिस के प्रथम संहनन होवे, वो ही अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, क्योंकि अपर संहनन वाला अनुत्तर विमान में उत्पन्न नहीं होता। और सेवार्त्त संहनन वाला तो चौथे महेंद्र स्वर्ग तक जा सकता है। तथा कीलिकादि चार संहनन वालों के दो दो देवलोक की वृद्धि कर लेनी। अरु प्रथम संहनन वाला तो मोक्ष तक जाता है। अरु जो सात लव अधिक आयु वाला मोक्ष योग्य होता है, वोही सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है। यदाहः—

*सत्त लवा जइ आउं, पहुप्पमाणं तओ हु सिज्झंता।
तत्तिअमित्तं न हुयं, तत्तो लवसत्तमा जाया ।१।
सव्वट्ठ सिद्धनामे, उक्कोसठिइसु विजयमाईसु।
एगावसेसगब्भा, हवंति लवसत्तमा देवा ।२।

[गुण० क्रमा० श्लो० ४१ की वृत्ति]

* छायाः—सप्तलवा यदि आयुः प्राभविष्यत् तदाऽसेत्स्यन्नेव।

उपशमश्रेणि

उपशमक मुनि शुक्लध्यान का प्रथम पाया, जिस का स्वरूप आगे लिखेंगे, उस को ध्याता हुआ उपशमश्रेणि को अंगीकार करता है। वो मुनि पूर्वगत श्रुत का धारक, निरतिचार चारित्रवान् और आदि के तीन संहनन से युक्त होता है, अर्थात् ऐसी योग्यता वाला मुनि उपशमश्रेणि करता है।

उपशम श्रेणि वाला मुनि जेकर अल्प आयु वाला होवे, तब तो काल करके "अहमिंद्र" अर्थात् पांच अनुत्तर विमान में—सर्वार्थसिद्धादि देवों में उत्पन्न होता है। परन्तु जिस के प्रथम संहनन होवे, वो ही अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है, क्योंकि अपर संहनन वाला अनुत्तर विमान में उत्पन्न नहीं होता। और सेवार्त्त संहनन वाला तो चौथे महेंद्र स्वर्ग तक जा सकता है। तथा कीलिकादि चार संहनन वालों के दो दो देवलोक की वृद्धि कर लेनी। अरु प्रथम संहनन वाला तो मोक्ष तक जाता है। अरु जो सात लव अधिक आयु वाला मोक्ष योग्य होता है, वोही सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होता है। यदाहः—

*सत्त लवा जइ आउं, पहुप्पमाणं तओ हु सिज्झंता।
तत्तिअमित्तं न हुयं, तत्तो लवसत्तमा जाया ।१।
सव्वट्ठ सिद्धनामे, उक्कोसठिइसु विजयमाईसु।
एगावसेसगब्भा, हवंति लवसत्तमा देवा ।२।
[गुण० क्रमा० श्लो० ४१ की वृत्ति]

* छायाः—सप्तलवा यदि आयुः प्राभविष्यत् तदाऽसेत्स्यन्नेव।

सर्वथा उपशम करता है । तथा यहां उपशांतमोह गुण स्थान में जीव एक प्रकृति—सातावेदनीयरूप बांधता है, और उनसठ प्रकृति को वेदता है, तथा १४८ प्रकृति की उत्कृष्टी सत्ता है ।

अथ उपशांतमोह गुणस्थान में जैसा सम्यक्त्व चारित्र और भाव होता है, सो कहते हैं । इस उपशांतमोह गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्व अरु उपशम चारित्र होता है। तथा भाव भी उपशम ही होता है, किन्तु क्षायिक भाव तथा क्षायोपशमिक भाव नहीं होता है ।

अब उपशांतमोह गुणस्थान से जैसे जीव पड़ जाता है, सो कहते हैं । उपशमी मुनि तीव्र मोहोदय अर्थात् चारित्र मोहनीय का उदय पा करके उपशांतमोह गुणस्थान से पड़ जाता है। फिर मोहजनित प्रमाद में पतित होता है । जैसे कि पानी में मल नीचे बैठ जाने पर ऊपर से निर्मल हो जाता है। परन्तु फिर कोई निमित्त पाकर वह मलिन हो जाता है। यदाहः—

* सुयकेवलि आहारग, उजुमई उवसंतगावि हु पमाया ।
हिंडंति भवमणंतं, तयणंतरमेव चउगइआ ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ४४ की वृत्ति]

---

* श्रुतकेवलिन आहारका ऋजुमतय उपशान्तका अपि च प्रमादात् ।
हिण्डन्ति भवमनन्तं तदनन्तरमेव चतुर्गतिकाः ॥

सर्वथा उपशम करता है। तथा यहां उपशांतमोह गुण स्थान में जीव एक प्रकृति—सातावेदनीयरूप बांधता है, और उनसठ प्रकृति को वेदता है, तथा १४८ प्रकृति की उत्कृष्टी सत्ता है।

अथ उपशांतमोह गुणस्थान में जैसा सम्यक्त्व चारित्र और भाव होता है, सो कहते हैं। इस उपशांतमोह गुणस्थान में उपशम सम्यक्त्व अरु उपशम चारित्र होता है। तथा भाव भी उपशम ही होता है, किन्तु क्षायिक भाव तथा क्षायोपशमिक भाव नहीं होता है।

अब उपशांतमोह गुणस्थान से जैसे जीव पड़ जाता है, सो कहते हैं। उपशमी मुनि तीव्र मोहोदय अर्थात् चारित्र मोहनीय का उदय पा करके उपशांतमोह गुणस्थान से पड़ जाता है। फिर मोहजनित प्रमाद में पतित होता है। जैसे कि पानी में मल नीचे बैठ जाने पर ऊपर से निर्मल हो जाता है। परन्तु फिर कोई निमित्त पाकर वह मलिन हो जाता है। यदाहः—

* सुयकेवलि आहारग, उजुमई उवसंतगावि हु पमाया।
हिंडंति भवमणंतं, तयणंतरमेव चउगइआ ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ४४ की वृत्ति]

* श्रुतकेवलिन आहारका ऋजुमतय उपशान्तका अपि च प्रमादात्।
हिण्डन्ति भवमनन्तं तदनन्तरमेव चतुर्गतिकाः ॥

अथ उपशमश्रेणि वाले के भवों की संख्या कहते हैं। इस संसार में बहुत भवों में चार वार उपशमश्रेणि होती है, अरु एक भव में दो वार होती है। यदाहः—

*उवसमसेणिचउक्कं, जायइ जीवस्स आभवं नूणं।
सा पुण दो एगभवे, खवगस्सेणी पुणो एगा॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ४६ की वृत्ति]

तथा उपशमश्रेणि की स्थापना इस अगले यन्त्र से जान लेनी। इस यंत्र की संवादक यह गाथा है:—

† अणदंसणपुंसित्थीवेअछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ॥

[आव. नि. गा. ११६]

अर्थ—प्रथम अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, अरु लोभ इन चारों का उपशम करता है, पीछे मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह अरु सम्यक्त्वमोह, इन तीनों का उपशम करता है, पीछे नपुंसक वेद, पीछे से स्त्रीवेद, फिर हास्य, रति

छाया:—*उपशमश्रेणिचतुष्कं जायते जीवस्याभवं नूनम्।
सा पुनर्द्वे एकभवे, क्षपकश्रेणिः पुनरेका॥
†अणदर्शनपुंसकस्त्रीवेदषट्कं च पुरुषवेदं च।
द्वौ द्वौ एकान्तरितौ सदृशे सदृशं उपशमयति॥

अथ उपशमश्रेणि वाले के भवों की संख्या कहते हैं। इस संसार में बहुत भवों में चार वार उपशमश्रेणि होती है, अरु एक भव में दो वार होती है। यदाहः—

*उवसमसेणिचउक्कं, जायइ जीवस्स आभवं नूणं।
सा पुण दो एगभवे, खवगस्सेणी पुणो एगा ॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ४६ की वृत्ति]

तथा उपशमश्रेणि की स्थापना इस अगले यन्त्र से जान लेनी। इस यंत्र की संवादक यह गाथा है:—

† अणदंसणपुंसित्थीवेअछक्कं च पुरिसवेयं च।
दो दो एगंतरिए, सरिसे सरिसं उवसमेइ ॥

[आव. नि. गा. ११६]

अर्थ—प्रथम अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, अरु लोभ इन चारों का उपशम करता है, पीछे मिथ्यात्वमोह, मिश्रमोह अरु सम्यक्त्वमोह, इन तीनों का उपशम करता है, पीछे नपुंसक वेद, पीछे से स्त्रीवेद, फिर हास्य, रति

छाया:—*उपशमश्रेणिचतुष्कं जायते जीवस्याभवं नूनम्।
सा पुनर्द्वे एकभवे, क्षपकश्रेणिः पुनरेका ॥
†अणदर्शनपुंसकस्त्रीवेदषट्कं च पुरुषवेदं च।
द्वौ द्वौ एकान्तरितौ सदृशे सदृशं उपशमयति ॥

अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितासनः ।
अभ्यासेन जितश्वासोऽभ्यासेनैवानिलत्रुटिः ॥ १ ॥
अभ्यासेन स्थिरं चित्तमभ्यासेन जितेन्द्रियः ।
अभ्यासेन परानंदोऽभ्यासेनैवात्मदर्शनम् ॥ २ ॥
अभ्यासवर्जितैर्ध्यानैः शास्त्रस्थैः फलमस्ति न ।
भवेन्न हि फलैस्तृप्तिः पानीयप्रतिबिम्बितैः ॥ ३ ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५० की वृत्ति]

इस वास्ते अभ्यास से ही विशुद्ध-निर्मल तत्त्वानुयायी बुद्धि होती है।

अथ अष्टम गुणस्थान में शुक्लध्यान का आरम्भ कहते हैं। आद्य संहनन वाला क्षपक साधु इस आठमे गुणस्थान में शुक्लसद्ध्यान—शुक्ल नामक प्रधान ध्यान का प्रथम पाद—पृथक्त्व वितर्क संप्रविचार स्वरूप का आरम्भ करता है।

अथ ध्यान करने वाले का स्वरूप लिखते हैं। योगीन्द्र—क्षपक मुनीन्द्र व्यवहार नय की अपेक्षा से

योगी का स्वरूप

निबिड-दृढ पर्यंकासन करके—निश्चल आसन करके, ध्यान करने योग्य होता है। क्योंकि आसनजय ही ध्यान का प्रथम प्राण है। यदाह—

अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितासनः ।
अभ्यासेन जितश्वासोऽभ्यासेनैवानिलत्रुटिः ॥ १ ॥
अभ्यासेन स्थिरं चित्तमभ्यासेन जितेन्द्रियः ।
अभ्यासेन परानंदोऽभ्यासेनैवात्मदर्शनम् ॥ २ ॥
अभ्यासवर्जितैर्ध्यानैः शास्त्रस्थैः फलमस्ति न ।
भवेन्न हि फलैस्तृप्तिः पानीयप्रतिबिम्बितैः ॥ ३॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५० की वृत्ति]

इस वास्ते अभ्यास से ही विशुद्ध-निर्मल तत्त्वानुयायी बुद्धि होती है।

अथ अष्टम गुणस्थान में शुक्लध्यान का आरम्भ कहते हैं। आद्य संहनन वाला क्षपक साधु इस आठमे गुणस्थान में शुक्लसद्ध्यान—शुक्ल नामक प्रधान ध्यान का प्रथम पाद—पृथक्त्व वितर्क संप्रविचार स्वरूप का आरम्भ करता है।

अथ ध्यान करने वाले का स्वरूप लिखते हैं। योगीन्द्र—क्षपक मुनीन्द्र व्यवहार नय की अपेक्षा से योगी का स्वरूप निविड-दृढ पर्यंकासन करके—निश्चल आसन करके, ध्यान करने योग्य होता है। क्योंकि आसनजय ही ध्यान का प्रथम प्राण है। यदाह—

नासावंशाग्रभागस्थितनयनयुगो मुक्तताराप्रचारः,
शेषाक्षक्षीणवृत्तिस्त्रिभुवनविवरोद्भ्रांतयोगैकचक्षुः ।
पर्यंकातंकशून्यः परिकलितघनोच्छ्वासनिःश्वासवातः,
सद्ध्यानारंभमूर्तिश्चिरमवतु जिनो जन्मसंभूतिभीतेः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा है योगीन्द्र ? किंचित् उन्मीलित—अर्धविकसित हैं नेत्र जिसके, क्योंकि योगियों के समाधि समय में अर्द्ध विकसित नेत्र होते हैं । यदाह—

गंभीरस्तंभमूर्त्तिर्व्यपगतकरणव्यापृतिर्मन्दमंदं,
प्राणायामो ललाटस्थलनिहितमना दत्तनासाग्रदृष्टिः ।
नाप्युन्मीलन्निमीलन्नयनमतितरां बद्धपर्यंकबंधो,
ध्यानं प्रध्याय शुक्लं सकलविदनवद्यः स पायाज्जिनो वः ।

[गुण. क्रमा. श्लो. ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा योगीन्द्र है ? कि जिसने अपने मानस—चित्त—अन्तःकरण को विकल्परूप वागुरा के बन्धन से दूर करा है, क्योंकि विकल्प ही दृढ कर्मबन्धन का हेतु है । यदाहः—

अशुभा वा शुभा वापि विकल्पा यस्य चेतसि ।
स स्वं बध्नात्ययःस्वर्णबंधनाभेन कर्मणा ॥ १ ॥

नासावंशाग्रभागस्थितनयनयुगो मुक्ततारामचारः,
शेषाक्षक्षीणवृत्तिस्त्रिभुवनविवरोद्भ्रांतयोगैकचक्षुः ।
पर्यंकातंकशून्यः परिकलितघनोच्छ्वासनिःश्वासवातः,
सद्ध्यानारंभमूर्तिश्चिरमवतु जिनो जन्मसंभूतिभीतेः ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा है योगीन्द्र ? किंचित् उन्मीलित—अर्धविकसित हैं नेत्र जिसके, क्योंकि योगियों के समाधि समय में अर्द्ध विकसित नेत्र होते हैं । यदाह—

गंभीरस्तंभमूर्त्तिर्व्यपगतकरणव्यापृतिर्मन्दमंदं,
प्राणायामो ललाटस्थलनिहितमना दत्तनासाग्रदृष्टिः ।
नाप्युन्मीलन्निमीलन्नयनमतितरां बद्धपर्यंकबंधो,
ध्यानं प्रध्याय शुक्लं सकलविदनवद्यः स पायाज्जिनो वः ॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ५३ की वृत्ति]

फिर कैसा योगीन्द्र है ? कि जिसने अपने मानस—चित्त—अन्तःकरण को विकल्परूप वागुरा के बन्धन से दूर करा है, क्योंकि विकल्प ही दृढ कर्मबन्धन का हेतु है । यदाहः—

अशुभा वा शुभा वापि विकल्पा यस्य चेतसि ।
स स्वं बध्नात्ययःस्वर्णबंधनाभेन कर्मणा ॥ १ ॥

संकोच्यापानरंध्रं हुतवहसदृशं तंतुवत्सूक्ष्मरूपं,
धृत्वा हृत्पद्मकोशे तदनु च गलके तालुनि प्राणशक्तिम्।
नीत्वा शून्यातिशून्यां पुनरपि खगतिं दीप्यमानां समन्ता-
ल्लोकालोकावलोकां कलयति सकलां यस्य तुष्टो जिनेशः॥

(गुण. क्रमा. श्लो. ५४ की वृत्ति)

अथ पूरक प्राणायाम कहते हैं।

द्वादशांगुलपर्यन्तं समाकृष्य समीरणम्।
पूरयत्यतियत्नेन पूरकध्यानयोगतः॥

[गुण. क्रमा. श्लो. ५५]

अर्थः—योगी पूरक ध्यान के योग से अति प्रयत्न करके सकल देहगत नाडीसमूह को पवन करके पूरता है। क्या करके? द्वादशांगुल पर्यन्त पवन को आकर्षण करके अर्थात् बारह अंगुलप्रमाण बाहिर से वायु को खैंच करके पूरता है।

प्राणायाम का स्वरूप

यहां यह तात्पर्यार्थ है कि आकाश तत्त्व के बहते हुए नासिका के अन्दर ही पवन होता है, अरु अग्नि तत्त्व के वहते हुए चार अंगुल प्रमाण बाहिर ऊर्ध्वगति में स्फुरित होता है, वायु तत्त्व के वहते हुए छ अंगुल प्रमाण बाहिर तिर्यग् में फिरता है, पृथिवी तत्त्व के वहते हुए आठ अंगुल प्रमाण बाहिर मध्यम भाग में रहता है, और जल तत्त्व के वहते

संकोच्यापानरंध्रं हुतवहसदृशं तंतुवत्सूक्ष्मरूपं,
धृत्वा हृत्पद्मकोशे तदनु च गलके तालुनि प्राणशक्तिम् ।
नीत्वा शून्यातिशून्यां पुनरपि खगतिं दीप्यमानां समन्ता-
ल्लोकालोकावलोकां कलयति सकलां यस्य तुष्टो जिनेशः ॥
(गुण. क्रमा. श्लो. ५४ की वृत्ति)

अथ पूरक प्राणायाम कहते हैं ।

द्वादशांगुलपर्यन्तं समाकृष्य समीरणम् ।
पूरयत्यतियत्नेन पूरकध्यानयोगतः ॥
[गुण. क्रमा. श्लो. ५५]

प्राणायाम का स्वरूप

अर्थः—योगी पूरक ध्यान के योग से अति प्रयत्न करके सकल देहगत नाडीसमूह को पवन करके पूरताहै । क्या करके ? द्वादशांगुल पर्यन्त पवन को आकर्पण करके अर्थात् बारह अंगुलप्रमाण बाहिर से वायु को खैंच करके पूरता है ।
यहां यह तात्पर्यार्थ है कि आकाश तत्त्व के वहते हुए नासिका के अन्दर ही पवन होता है, अरु अग्नि तत्त्व के वहते हुए चार अंगुल प्रमाण बाहिर ऊर्ध्वगति में स्फुरित होता है, वायु तत्त्व के वहते हुए छ अंगुल प्रमाण बाहिर तिर्यग् में फिरता है, पृथिवी तत्त्व के वहते हुए आठ अंगुल प्रमाण बाहिर मध्यम भाग में रहता है, और जल तत्त्व के वहते

चेतसि श्रयति कुंभकचक्रं, नाडिकासु निविडीकृतवातः।
कुंभवत्तरति यज्जलमध्ये, तद्वदन्ति किल कुंभककर्म॥
[गुण० क्रमा० श्लो० ५७ की वृत्ति]

अब पवन के जीतने से मन जीता जाता है, यह बात कहते हैं। क्योंकि जहां मन है, तहां पवन है, अरु जहां पवन है, तहां मन वर्त्तता है। यदाहः—

दुग्धांबुवत्संमिलितौ सदैव, तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि,
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यावन्मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिः।
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः,
विध्वस्तयोरिंद्रियवर्गशुद्धिस्तद्ध्वंसनान्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥
[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

इस प्रकार पूरक, रेचक और कुंभक के क्रम से पवनों के आकुंचन, निर्गमन को सिद्ध करके चित्त की एकाग्रता से समाधि विषे निश्चलपने को धारण करता है। क्योंकि पवन के जीतने से ही मन निश्चल होता है। यदाहः—

प्रचलति यदि क्षोणीचक्रं चलंत्यचला अपि,
प्रलयपवनप्रेंखालोलाश्चलंति पयोधयः।
पवनजयिनः सावष्टंभप्रकाशितशक्तयः,
स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाच्चलंति न योगिनः॥
[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

चेतसि श्रयति कुंभकचक्रं, नाडिकासु निबिडीकृतवातः।
कुंभवत्तरति यज्जलमध्ये, तद्वदन्ति किल कुंभककर्म॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५७ की वृत्ति]

अब पवन के जीतने से मन जीता जाता है, यह बात कहते हैं। क्योंकि जहां मन है, तहां पवन है, अरु जहां पवन है, तहां मन वर्त्तता है। यदाहः—

दुग्धांबुवत्संमिलितौ सदैव, तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि,
यावन्मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिर्यावन्मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिः।
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः,
विध्वस्तयोरिंद्रियवर्गशुद्धिस्तद्ध्वंसनान्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

इस प्रकार पूरक, रेचक और कुंभक के क्रम से पवनों के आकुंचन, निर्गमन को सिद्ध करके चित्त की एकाग्रता से समाधि विषे निश्चलपने को धारण करता है। क्योंकि पवन के जीतने से ही मन निश्चल होता है। यदाहः—

प्रचलति यदि क्षोणीचक्रं चलंत्यचला अपि,
प्रलयपवनप्रेंखालोलाश्चलंति पयोधयः।
पवनजयिनः सावष्टंभप्रकाशितशक्तयः,
स्थिरपरिणतेरात्मध्यानाचलंति न योगिनः॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ५८ की वृत्ति]

ओंकाराऽभ्यसनं विचित्रकरणैः प्राणस्य वायोर्जयात्,
तेजश्चिंतनमात्मकायकमले शून्यांतरालंबनम् ।
त्यक्त्वा सर्वमिदं कलेवरगतं चिंतामनोविभ्रमं,
तत्त्वं पश्यत जल्पकल्पनकलातीतं स्वभावस्थितम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ५९ की वृत्ति]

यह सर्व रूढि करके क्षपकश्रेणि के आडंबर हैं, परन्तु तत्त्व में मरुदेवादिवत् भाव ही प्रधान है ।

अथ आद्य शुक्लध्यान का नाम कहते हैं:—

सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।
त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ६०]

शुक्लध्यान और उसके भेद

अर्थः—मन, वचन अरु काया के योग वाले मुनि को प्रथम शुक्लध्यान कहा है । सो कैसा है ? वितर्क के सहित जो वर्ते सो सवितर्क, विचार के सहित जो वर्ते सो सविचार, तथा पृथक्त्व के सहित जो वर्ते सो सपृथक्त्व है । इन तीनों विशेषणों करके संयुक्त होने से सपृथक्त्व—सवितर्क—सविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है । इन तीनों विशेषणों का स्वरूप कहते हैं । यह पूर्वोक्त प्रथम शुक्लध्यान, त्रयात्मक-क्रमोत्क्रम

ओंकाराऽभ्यसनं विचित्रकरणैः प्राणस्य वायोर्जयात्,
तेजश्चिंतनमात्मकायकमले शून्यांतरालंबनम् ।
त्यक्त्वा सर्वमिदं कलेवरगतं चिंतामनोविभ्रमं,
तत्त्वं पश्यत जल्पकल्पनकलातीतं स्वभावस्थितम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ५९ की वृत्ति]

यह सर्व रूढि करके क्षपकश्रेणि के आडंबर हैं, परन्तु तत्त्व में मरुदेवादिवत् भाव ही प्रधान है ।

अथ आद्य शुक्लध्यान का नाम कहते हैं:—

सवितर्कं सविचारं सपृथक्त्वमुदाहृतम् ।
त्रियोगयोगिनः साधोराद्यं शुक्लं सुनिर्मलम् ॥

[गुण० क्रमा०, श्लो० ६०]

अर्थः—मन, वचन अरु काया के योग वाले मुनि को प्रथम शुक्लध्यान कहा है । सो कैसा है ? वितर्क के सहित जो वर्त्ते सो सवितर्क, विचार के सहित जो वर्त्ते सो सविचार, तथा पृथक्त्व के सहित जो वर्त्ते सो सपृथक्त्व है । इन तीनों विशेषणों करके संयुक्त होने से सपृथक्त्व—सवितर्क—सविचार नामक प्रथम शुक्लध्यान है । इन तीनों विशेषणों का स्वरूप कहते हैं । यह पूर्वोक्त प्रथम शुक्लध्यान, त्रयात्मक—क्रमोत्क्रम

शुक्लध्यान और उसके भेद

पीतता है, अरु जो क्रमभूत है, सो पर्याय है, जैसे सुवर्ण में मुद्रा कुंडलादिक हैं। तिन द्रव्य गुण पर्यायांतरों में जिस ध्यान में अन्यत्व—पृथक्त्व है, सो सपृथक्त्व है।

अथ आद्य शुक्लध्यान करके जो शुद्धि होती है, सो कहते हैं। ऊपर तीन भेद जिसके बतलाये हैं, ऐसा जो पृथक्त्व वितर्क विचाररूप प्रथम शुक्लध्यान है, उसको ध्याता हुआ समाधि वाला योगी परम—प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त होता है, जो शुद्धि मुक्तिरूप लक्ष्मी के मुख के दिखलाने वाली है।

अथ इस ही का विशेष स्वरूप कहते हैं। यद्यपि यह शुक्लध्यान प्रतिपाती–पतनशील उत्पन्न होता है, तो भी अति विशुद्ध—अति निर्मल होने से अगले गुणस्थान में चढ़ना चाहता है, एतावता अगले गुणस्थान को दौड़ता है, तथा अपूर्वकरण गुणस्थानस्थ जीव निद्राद्विक, देवद्विक, पचेंद्रिय जाति, प्रशस्त विहायोगति, त्रसनवक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, वैक्रियोपांग, आहारकोपांग, आद्य संस्थान, निर्माण, तीर्थंकरनाम, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, यह बत्तीस कर्म प्रकृति का व्यवच्छेद होने से छब्बीस कर्म प्रकृति का बन्ध करता है। तथा अन्तिम तीन संहनन अरु सम्यक्त्वमोह, इन चार के उदय का व्यवच्छेद होने से बहत्तर कर्म प्रकृति को वेदता है, अरु १३८ कर्म प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक अनिवृत्ति नामक नवमे गुणस्थान में आरो-

पीतता है, अरु जो क्रमभूत है, सो पर्याय है, जैसे सुवर्ण में मुद्रा कुंडलादिक हैं। तिन द्रव्य गुण पर्यायांतरों में जिस ध्यान में अन्यत्व—पृथक्त्व है, सो सपृथक्त्व है।

अथ आद्य शुक्लध्यान करके जो शुद्धि होती है, सो कहते हैं। ऊपर तीन भेद जिसके बतलाये हैं, ऐसा जो पृथक्त्व वितर्क विचाररूप प्रथम शुक्लध्यान है, उसको ध्याता हुआ समाधि वाला योगी परम—प्रकृष्ट शुद्धि को प्राप्त होता है, जो शुद्धि मुक्तिरूप लक्ष्मी के मुख के दिखलाने वाली है।

अथ इस ही का विशेष स्वरूप कहते हैं। यद्यपि यह शुक्लध्यान प्रतिपाती–पतनशील उत्पन्न होता है, तो भी अति विशुद्ध—अति निर्मल होने से अगले गुणस्थान में चढ़ना चाहता है, एतावता अगले गुणस्थान को दौड़ता है, तथा अपूर्वकरण गुणस्थानस्थ जीव निद्राद्विक, देवद्विक, पचेंद्रिय जाति, प्रशस्त विहायोगति, त्रसनवक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, कार्मण, वैक्रियोपांग, आहारकोपांग, आद्य संस्थान, निर्माण, तीर्थंकरनाम, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास, यह बत्तीस कर्म प्रकृति का व्यवच्छेद होने से छब्वीस कर्म प्रकृति का बन्ध करता है। तथा अन्तिम तीन संहनन अरु सम्यक्त्वमोह, इन चार के उदय का व्यवच्छेद होने से बहत्तर कर्म प्रकृति को वेदता है, अरु १३८ कर्म प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक अनिवृत्ति नामक नवमे गुणस्थान में आरो-

से बावीस प्रकृति का बंध करता है और हास्य षट्क के उदय का व्यवच्छेद होने से छयासठ प्रकृति को वेदता है । तथा नवमे अंश में माया पर्यंत प्रकृतियों के क्षय करने से पैंतीस प्रकृति के व्यवच्छेद होने से एक सौ तीन प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक के दशमे गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं । पूर्वोक्त नवमे गुणस्थान के अनंतर क्षपक मुनि क्षणमात्र से संज्वलन के स्थूल लोभ को सूक्ष्म करता हुआ सूक्ष्मसंपराय नामक दशमे गुणस्थान में चढ़ता है। तथा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानस्थ जीव पुरुषवेद तथा संज्वलन चतुष्क के बंध का व्यवच्छेद होने से सतरां प्रकृति का बंध करता है । अरु तीन वेद तथा तीन संज्वलन कषाय के उदय का व्यवच्छेद होने से साठ प्रकृति को वेदता है, माया की सत्ता का व्यवच्छेद होने से एक सौ दो प्रकृति की सत्ता है ।

अथ क्षपक को ग्यारहवां गुणस्थान नहीं होता है, किन्तु दशमे गुणस्थान से क्षपक सूक्ष्मलोभांशों—सूक्ष्मीकृत लोभखंडों को क्षय करता हुआ बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में जाता है। यहां क्षपकश्रेणी को समाप्त करता है । उस का क्रम यह है, कि प्रथम अनंतानुबंधी चार का क्षय करता है, फिर मिथ्यात्व मोहनीय, फिर मिश्रमोहनीय, फिर सम्यक्त्व मोहनीय, फिर अप्रत्याख्यानी चार कषाय, तथा प्रत्याख्यानी चार कषाय, एवं आठ कषाय का क्षय करता है, फिर नपुंसक वेद, फिर हास्यषट्क, फिर पुरुष वेद, फिर संज्वलन क्रोध,

से बावीस प्रकृति का बंध करता है और हास्य षट्क के उदय का व्यवच्छेद होने से छयासठ प्रकृति को वेदता है। तथा नवमे अंश में माया पर्यंत प्रकृतियों के क्षय करने से पैंतीस प्रकृति के व्यवच्छेद होने से एक सौ तीन प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक के दशमे गुणस्थान का स्वरूप लिखते हैं। पूर्वोक्त नवमे गुणस्थान के अनंतर क्षपक मुनि क्षणमात्र से संज्वलन के स्थूल लोभ को सूक्ष्म करता हुआ सूक्ष्मसंपराय नामक दशमे गुणस्थान में चढ़ता है। तथा सूक्ष्मसंपराय गुणस्थानस्थ जीव पुरुषवेद तथा संज्वलन चतुष्क के बंध का व्यवच्छेद होने से सतरां प्रकृति का बंध करता है। अरु तीन वेद तथा तीन संज्वलन कषाय के उदय का व्यवच्छेद होने से साठ प्रकृति को वेदता है, माया की सत्ता का व्यवच्छेद होने से एक सौ दो प्रकृति की सत्ता है।

अथ क्षपक को ग्यारहवां गुणस्थान नहीं होता है, किन्तु दशमे गुणस्थान से क्षपक सूक्ष्मलोभांशों—सूक्ष्मीकृत लोभखंडों को क्षय करता हुआ बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में जाता है। यहां क्षपकश्रेणी को समाप्त करता है। उस का क्रम यह है, कि प्रथम अनंतानुबंधी चार का क्षय करता है, फिर मिथ्यात्व मोहनीय, फिर मिश्रमोहनीय, फिर सम्यक्त्व मोहनीय, फिर अप्रत्याख्यानी चार कषाय, तथा प्रत्याख्यानी चार कषाय, एवं आठ कषाय का क्षय करता है, फिर नपुंसक वेद, फिर हास्यषट्क, फिर पुरुष वेद, फिर संज्वलन क्रोध,

सो क्षपक—क्षीणमोहगुणस्थानवर्त्ती दूसरे शुक्लध्यान को एक योग करके ध्याता है। यदाहः—

* एकं त्रियोगभाजामाद्यं स्यादपरमेकयोगवताम्।
तनुयोगिनां तृतीयं, निर्योगानां चतुर्थं तु॥
[गुण० क्रमा०, श्लो० ७५ की वृत्ति]

कैसा ध्यान है ? कि "अपृथक्त्वं"—पृथक्त्व वर्जित, "अविचारं"—विचार रहित, "सवितर्कगुणान्वितं"—वितर्क मात्र गुण से युक्त। इस प्रकार के दूसरे शुक्लध्यान को एक योग से ध्याता है।

अथ अपृथक्त्व का स्वरूप कहते हैंः—

निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम्।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं विदुर्बुधाः॥
[गुण० क्रमा०, श्लो० ७६]

अर्थः—तत्त्वज्ञाता एकत्व-अपृथक्त्व ध्यान उस को कहते हैं, कि जिस में निजात्मद्रव्य—विशुद्ध परमात्म द्रव्य अथवा

---

*भावार्थः—मन वचन और काया, इन तीनों के योग वाले योगी को शुक्लध्यान का प्रथम पाद होता है, इन तीन में से किसी एक के योग वाले योगी को उक्त ध्यान का दूसरा पाद होता है, केवल सूक्ष्म काययोग वाले योगी को तीसरा पाद और इन तीनों योगों से रहित हुए अर्थात् अयोगी मुनि को शुक्लध्यान का चौथा पाद होता है।

सो क्षपक—क्षीणमोहगुणस्थानवर्त्ती दूसरे शुक्लध्यान को एक योग करके ध्याता है। यदाहः—

* एकं त्रियोगभाजामाद्यं स्यादपरमेकयोगवताम्।
तनुयोगिनां तृतीयं, निर्योगानां चतुर्थं तु॥
[गुण० क्रमा०, श्लो० ७५ की वृत्ति]

कैसा ध्यान है ? कि "अपृथक्त्वं"—पृथक्त्व वर्जित, "अविचारं"—विचार रहित, "सवितर्कगुणान्वितं"—वितर्क मात्र गुण से युक्त। इस प्रकार के दूसरे शुक्लध्यान को एक योग से ध्याता है।

अथ अपृथक्त्व का स्वरूप कहते हैंः—

निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम्।
निश्चलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं विदुर्बुधाः॥
[गुण० क्रमा०, श्लो० ७६]

अर्थः—तत्त्वज्ञाता एकत्व-अपृथक्त्व ध्यान उस को कहते हैं, कि जिस में निजात्मद्रव्य—विशुद्ध परमात्म द्रव्य अथवा

---

*भावार्थः—मन वचन और काया, इन तीनों के योग वाले योगी को शुक्लध्यान का प्रथम पाद होता है, इन तीन में से किसी एक के योग वाले योगी को उक्त ध्यान का दूसरा पाद होता है, केवल सूक्ष्म काययोग वाले योगी को तीसरा पाद और इन तीनों योगों से रहित हुए अर्थात् अयोगी मुनि को शुक्लध्यान का चौथा पाद होता है।

आलंवन से अर्थात् अन्तःकरण में सूक्ष्म जल्परूप भावगत आगम श्रुत के अवलंवन मात्र से, निज विशुद्ध आत्मा में विलीन हो कर सूक्ष्म विचारणात्मक जो आत्मचिन्तन करना, उसे सवितर्क कहते हैं।

अथ शुक्लध्यानजनित समरस भाव को कहते हैं। इस प्रकार से एकत्व अविचार और सवितर्क रूप तीन विशेषण संयुक्त दूसरा शुक्लध्यान कहा। इस दूसरे शुक्लध्यान में वर्त्तता हुआ ध्यानी निरन्तर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने के कारण समरस भाव को धारण करता है। सो यह समरस भाव जो है, सो तदेकशरण माना है। कारण कि आत्मा को अपृथक्त्व रूप से जो परमात्मा में लीन करना है, सोई समरस भाव का धारण करना है।

अथ क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में योगी जो करता है, सो कहते हैं। इस पूर्वोक्त ध्यान के योग से और दूसरे शुक्लध्यान के योग से कर्मरूप इन्धन के समूह को भस्म करता हुआ क्षपक-योगीन्द्र अन्त के प्रथम समय अर्थात् बारहवें गुणस्थान के दूसरे चरम समय में निद्रा अरु प्रचला, इन दो प्रकृति का क्षय करता है।

अथ अंत समय में जो करता है, सो कहते हैं। क्षीण-मोह गुणस्थान के अन्त समय में चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, यह चार दर्शनावरणीय तथा पंचविध ज्ञानावरण, तथा पंचविध अन्तराय, इन चौदह

आलंबन से अर्थात् अन्तःकरण में सूक्ष्म जल्परूप भावगत आगम श्रुत के अवलंबन मात्र से, निज विशुद्ध आत्मा में विलीन हो कर सूक्ष्म विचारणात्मक जो आत्मचिन्तन करना, उसे सवितर्क कहते हैं।

अथ शुक्लध्यानजनित समरस भाव को कहते हैं। इस प्रकार से एकत्व अविचार और सवितर्क रूप तीन विशेषण संयुक्त दूसरा शुक्लध्यान कहा। इस दूसरे शुक्लध्यान में वर्त्तता हुआ ध्यानी निरन्तर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने के कारण समरस भाव को धारण करता है । सो यह समरस भाव जो है, सो तदेकशरण माना है । कारण कि आत्मा को अपृथक्त्व रूप से जो परमात्मा में लीन करना है, सोई समरस भाव का धारण करना है।

अथ क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में योगी जो करता है, सो कहते हैं । इस पूर्वोक्त ध्यान के योग से और दूसरे शुक्लध्यान के योग से कर्मरूप इन्धन के समूह को भस्म करता हुआ क्षपक-योगीन्द्र अन्त के प्रथम समय अर्थात् बारहवें गुणस्थान के दूसरे चरम समय में निद्रा अरु प्रचला, इन दो प्रकृति का क्षय करता है।

अथ अंत समय में जो करता है, सो कहते हैं। क्षीण-मोह गुणस्थान के अन्त समय में चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन, यह चार दर्शनावरणीय तथा पंचविध ज्ञानावरण, तथा पंचविध अन्तराय, इन चौदह

है। इस का तात्पर्य यह है, कि उपशम अरु क्षायोपशमिक यह दो भाव सयोगी केवली के नहीं होते हैं।

अथ तिस केवली के केवलज्ञान के वल को कहते हैं। तिस केवली परमात्मा केवलज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश करके चराचर जगत् हस्तामलकवत्—हाथ में रक्खे हुए आमले की तरें प्रत्यक्ष-साक्षात्कार करके भासमान होता है। यहां प्रकाशमान सूर्य की उपमा जो कही है, सो व्यवहार मात्र से कही है, निश्चय से नहीं कही। कारण कि निश्चय में तो केवल ज्ञान का अरु सूर्य का वड़ा अंतर है।

अथ जिस ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया है, तिस की विशेषता कहते हैं। विशेप करके अर्हंत की भक्ति प्रमुख वीस पुण्य स्थान विशेष का जो जीव आराधन करता है, सो तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है। सो वीस स्थान यह हैं:—

* अरिहंत सिद्ध पवयण, गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया एएसुं अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ १ ॥
दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइयारे।

---

* अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरवहुश्रुते तपस्विषु।
वात्सल्यमेतेषु अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगौ च ॥ १ ॥
दर्शनविनयौ आवश्यकानि च शीलव्रते निरतिचारता।

है। इस का तात्पर्य यह है, कि उपशम अरु क्षायोपशमिक यह दो भाव सयोगी केवली के नहीं होते हैं।

अथ तिस केवली के केवलज्ञान के वल को कहते हैं। तिस केवली परमात्मा केवलज्ञान रूप सूर्य के प्रकाश करके चराचर जगत् हस्तामलकवत्—हाथ में रक्खे हुए आमले की तरें प्रत्यक्ष-साक्षात्कार करके भासमान होता है। यहां प्रकाशमान सूर्य की उपमा जो कही है, सो व्यवहार मात्र से कही है, निश्चय से नहीं कही। कारण कि निश्चय में तो केवल ज्ञान का अरु सूर्य का वड़ा अंतर है।

अथ जिस ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया है, तिस की विशेषता कहते हैं। विशेष करके अर्हंत की भक्ति प्रमुख वीस पुण्य स्थान विशेष का जो जीव आराधन करता है, सो तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करता है। सो वीस स्थान यह हैं:—

* अरिहंत सिद्ध पवयण, गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया एएसुं अभिक्खनाणोवओगे अ ॥ १ ॥
दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइयारे।

---

* अर्हत्सिद्धप्रवचनगुरुस्थविरबहुश्रुते तपस्विषु।
वात्सल्यमेतेषु अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोगौ च ॥ १ ॥
दर्शनविनयौ आवश्यकानि च शीलव्रते निरतिचारता।

देशविरति और सर्वविरति का उपदेश करने से तीर्थंकर नामकर्म को वेदते हैं। जेकर तीर्थंकर नामकर्म का उदय न होवे, तब कृतकृत्य होने से भगवान् को उपदेश देने का क्या प्रयोजन है? इस वास्ते जो वादी भगवान् को निःशरीरी निरुपाधिक, मुखादि रहित और सर्वव्यापी मानते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि देहादि के अभाव से वह धर्म का उपदेशक नहीं हो सकता है। जेकर उपाधि रहित, सर्वव्यापी परमेश्वर भी उपदेशक होवे, तब तो अब इस काल में अस्मदादिकों को क्यों उपदेश नहीं करता है? क्योंकि पूर्वकाल में अग्नि आदिक ऋषियों को उसने प्रेरा, तथा ब्रह्मादि द्वारा चार वेद का उपदेश करा, तथा मूसा, ईसा द्वारा जगत् को उपदेश करा। तो फिर अब क्यों नहीं उपदेश करता? वह तो परोपकारी है, तो फिर देरी किस वास्ते? जेकर कहो कि इस काल में सर्व जीव उपदेश मानने के योग्य नहीं हैं, इस वास्ते उपदेश नहीं देता, तब तो पूर्व काल में भी सर्व जीवों ने परमेश्वर का उपदेश नहीं माना है। प्रथम तो कालासुर प्रमुख अनेक जीवों ने नहीं माना, दूसरा अजाजील ने नहीं माना। और यहूदियों ने तथा कितनेक इसराइलियों ने नहीं माना, इस वास्ते पूर्वकाल में भी परमेश्वर को उपदेश देना योग्य नहीं था। जेकर कहो कि उस की वोही जाने कि उस ने पहले क्योंकर उपदेश दिया अरु अब किस वास्ते नहीं देता। तो फिर तुम क्योंकर कहते हो कि परमेश्वर

देशविरति और सर्वविरति का उपदेश करने से तीर्थंकर नामकर्म को वेदते हैं। जेकर तीर्थंकर नामकर्म का उदय न होवे, तब कृतकृत्य होने से भगवान् को उपदेश देने का क्या प्रयोजन है ? इस वास्ते जो वादी भगवान् को निःशरीरी निरुपाधिक, मुखादि रहित और सर्वव्यापी मानते हैं, सो ठीक नहीं। क्योंकि देहादि के अभाव से वह धर्म का उपदेशक नहीं हो सकता है। जेकर उपाधि रहित, सर्वव्यापी परमेश्वर भी उपदेशक होवे, तब तो अब इस काल में अस्मदादिकों को क्यों उपदेश नहीं करता है ? क्योंकि पूर्वकाल में अग्नि आदिक ऋषियों को उसने प्रेरा, तथा ब्रह्मादि द्वारा चार वेद का उपदेश करा, तथा मूसा, ईसा द्वारा जगत् को उपदेश करा। तो फिर अब क्यों नहीं उपदेश करता ? वह तो परोपकारी है, तो फिर देरी किस वास्ते ? जेकर कहो कि इस काल में सर्व जीव उपदेश मानने के योग्य नहीं हैं, इस वास्ते उपदेश नहीं देता, तब तो पूर्व काल में भी सर्व जीवों ने परमेश्वर का उपदेश नहीं माना है। प्रथम तो कालासुर प्रमुख अनेक जीवों ने नहीं माना, दूसरा अजाजील ने नहीं माना। और यहूदियों ने तथा कितनेक इसराइलियों ने नहीं माना, इस वास्ते पूर्वकाल में भी परमेश्वर को उपदेश देना योग्य नहीं था। जेकर कहो कि उस की वोही जाने कि उस ने पहले क्योंकर उपदेश दिया अरु अब किस वास्ते नहीं देता। तो फिर तुम क्योंकर कहते हो कि परमेश्वर

णमन करना, तिस का नाम समुद्घात है । सो समुद्घात सात प्रकार का है—१. वेदनास०, २. कषायस०, ३. मरणस०, ४. वैक्रियस० ५. तेजःस०, ६. आहारकस०, ७. केवलिस० । इन सातों समुद्घातों में से यहां पर केवलिसमुद्घात का ग्रहण करना । तिस केवलिसमुद्घात के वास्ते केवली भगवान् आयु अरु वेदनीय कर्म को सम करने के वास्ते प्रथम समय में आत्मप्रदेशों करके ऊर्द्ध्वलोकांत तक दंडत्व—दंडाकार लंबे आत्मप्रदेश करता है, दूसरे समय में पूर्व, पश्चिम दिशा में आत्मप्रदेशों को कपाटाकार करता है, तीसरे समय में उत्तर, दक्षिण में आत्मप्रदेशों को मंथानाकार करता है, चौथे समय में अंतर पूर्ण करने से सर्व लोक व्यापी होता है । इस तरे केवली समुद्घात करता हुआ चार समयों में विश्वव्यापी होता है ।

अथ इहां से निवृत्ति कहते हैं । इस प्रकार से केवली आत्मप्रदेशों को विस्तार करने के प्रयोग से कर्मलेश को सम करता है । सम करके पीछे तिस समुद्घात से उलटा निवर्त्तता है । सो ऐसे है—केवली चार समय में जगत् पूर्ण करके पांचमे समय में पूर्ण से निवर्त्तता है, छठे समय में मंथानपना दूर करता है, सातमे समय में कपाट दूर करता है, आठमे समय में दंडत्व का उपसंहार करता हुआ स्वभावस्थ होता है । यदाहुर्वाचकमुख्याः—

णमन करना, तिस का नाम समुद्घात है । सो समुद्घात सात प्रकार का है—१. वेदनास०, २. कषायस०, ३. मरणस०, ४. वैक्रियस० ५. तेजःस०, ६. आहारकस०, ७. केवलिस० । इन सातों समुद्घातों में से यहां पर केवलिसमुद्घात का ग्रहण करना । तिस केवलिसमुद्घात के वास्ते केवली भगवान् आयु अरु वेदनीय कर्म को सम करने के वास्ते प्रथम समय में आत्मप्रदेशों करके ऊर्द्धलोकांत तक दंडत्व—दंडाकार ऊंचे आत्मप्रदेश करता है, दूसरे समय में पूर्व, पश्चिम दिशा में आत्मप्रदेशों को कपाटाकार करता है, तीसरे समय में उत्तर, दक्षिण में आत्मप्रदेशों को मंथानाकार करता है, चौथे समय में अंतर पूर्ण करने से सर्व लोक व्यापी होता है । इस तरे केवली समुद्घात करता हुआ चार समयों में विश्वव्यापी होता है ।

अथ इहां से निवृत्ति कहते हैं । इस प्रकार से केवली आत्मप्रदेशों को विस्तार करने के प्रयोग से कर्मलेश को सम करता है । सम करके पीछे तिस समुद्घात से उलटा निवर्त्तता है । सो ऐसे है—केवली चार समय में जगत् पूर्ण करके पांचमे समय में पूर्ण से निवर्त्तता है, छठे समय में मंथानपना दूर करता है, सातमे समय में कपाट दूर करता है, आठमे समय में दंडत्व का उपसंहार करता हुआ स्वभावस्थ होता है । यदाहुर्वाचकमुख्याः—

* छम्मासाऊ सेसे, उप्पन्नं जेसिं केवलं नाणं ।
ते नियमा समुग्घाया, सेसा समुग्घाय भइयव्वा ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ६४ की वृत्ति]

अथ समुद्घात से निवृत्त हो करके जो कुछ करता है, सो कहते हैं। मन, वचन अरु काय योगवान् केवली केवल समुद्घात से निवृत्त हो कर योगनिरोधन के वास्ते शुक्लध्यान का तीसरा पाद ध्याता है। सोई तीसरा शुक्लध्यान कहते हैं। तिस अवसर में तिस केवली को तीसरा सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिक नाम शुक्लध्यान होता है। सो कंपनरूप जो क्रिया है, तिस को सूक्ष्म करता है।

अथ मन, वचन, काया के योगों को जैसे सूक्ष्म करता है, सो कहते हैं। सो केवली सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक तीसरे शुक्लध्यान का ध्याता, अचिन्त्य आत्मवीर्य की शक्ति कर के बादरकाययोग में स्वभाव से स्थिति करके बादर वचन योग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करता है, तिस के अनन्तर बादरकाय योग को सूक्ष्म करता है, फिर सूक्ष्मकाययोग में क्षण मात्र रह करके तत्काल सूक्ष्म वचनयोग और मनोयोग का अपचय करता है, तिस के पीछे सूक्ष्म काययोग में क्षण मात्र रह कर सो केवली निजात्मानुभव को

*छाया:—षण्मासाद्यायुषि शेषे, उत्पन्नं येषां केवलज्ञानम् ।
ते नियमात्समुद्घातिनः शेषाः समुद्घाते भक्तव्याः ॥

* छम्मासाऊ सेसे, उप्पन्नं जेसिं केवलं नाणं ।
ते नियमा समुग्घाया, सेसा समुग्घाय भइयव्वा ॥

[गुण० क्रमा० श्लो० ६४ की वृत्ति]

अथ समुद्घात से निवृत्त हो करके जो कुछ करता है, सो कहते हैं। मन, वचन अरु काय योगवान् केवली केवल समुद्घात से निवृत्त हो कर योगनिरोधन के वास्ते शुक्लध्यान का तीसरा पाद ध्याता है । सोई तीसरा शुक्लध्यान कहते हैं। तिस अवसर में तिस केवली को तीसरा सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिक नाम शुक्लध्यान होता है । सो कंपनरूप जो क्रिया है, तिस को सूक्ष्म करता है।

अथ मन, वचन, काया के योगों को जैसे सूक्ष्म करता है, सो कहते हैं । सो केवली सूक्ष्मक्रियानिवृत्ति नामक तीसरे शुक्लध्यान का ध्याता, अचिन्त्य आत्मवीर्य की शक्ति कर के बादरकाययोग में स्वभाव से स्थिति करके बादर वचन योग और बादर मनोयोग को सूक्ष्म करता है, तिस के अनन्तर बादरकाय योग को सूक्ष्म करता है, फिर सूक्ष्मकाययोग में क्षण मात्र रह करके तत्काल सूक्ष्म वचनयोग और मनोयोग का अपचय करता है, तिस के पीछे सूक्ष्म काययोग में क्षण मात्र रह कर सो केवली निजात्मानुभव को

*छाया:—षण्मासायुषि शेषे उत्पन्नं येषां केवलज्ञानम् ।
ते नियमात्समुद्घातिनः शेषाः समुद्घाते भक्तव्याः ॥

शरीर के अंगोपांग में जो नासिकादि छिद्र हैं, तिन को पूर्ण करता है। तब स्वात्मप्रदेशों का घनरूप हो जाता है। तिस वास्ते स्वप्रदेशों का घनरूप होने से तीसरा भाग न्यून होता है। सयोगिगुणस्थानस्थ जीव, एकविध बंधक उपांत्य समय तक अरु ज्ञानांतराय, दर्शन चतुष्कोदय का व्यवच्छेद होने से बैतालीस प्रकृति को वेदता है। तथा निद्रा, प्रचला, ज्ञानांतरायदशक, दर्शनचतुष्क रूप सोलां प्रकृतियों की सत्ता का व्यवच्छेद होने से तहां पचासी प्रकृति की सत्ता है।

अथ अयोगी गुणस्थान की स्थिति कहते हैं। तेरहवें गुणस्थान के अनन्तर चौदहवें अयोगी गुणस्थान में रहते हुए जिनेंद्र की लघु पंचाक्षर उच्चारणमात्र अर्थात् "अ इ उ ऋ ऌ" इन पांच वर्णों के उच्चारण करते जितना काल लगता है, तितनी स्थिति है। इस अयोगी गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इहां अनिवृत्ति नामक चौथा ध्यान होता है। चौथे ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

अयोगिकेवली गुणस्थान

समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकाऽपि हि।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद् द्वारं मुक्तिवेश्मनः॥

[गुण० क्रमा० श्लो० १०६]

अर्थः—जिस ध्यान में सूक्ष्म काययोग रूप क्रिया भी

शरीर के अंगोपांग में जो नासिकादि छिद्र हैं, तिन को पूर्ण करता है। तब स्वात्मप्रदेशों का घनरूप हो जाता है। तिस वास्ते स्वप्रदेशों का घनरूप होने से तीसरा भाग न्यून होता है। सयोगिगुणस्थानस्थ जीव, एकविध बंधक उपांत्य समय तक अरु ज्ञानांतराय, दर्शन चतुष्कोदय का व्यवच्छेद होने से बैतालीस प्रकृति को वेदता है। तथा निद्रा, प्रचला, ज्ञानांतरायदशक, दर्शनचतुष्क रूप सोलां प्रकृतियों की सत्ता का व्यवच्छेद होने से तहां पचासी प्रकृति की सत्ता है।

अयोगिकेवली गुणस्थान

अथ अयोगी गुणस्थान की स्थिति कहते हैं। तेरहवें गुणस्थान के अनन्तर चौदहवें अयोगी गुणस्थान में रहते हुए जिनेंद्र की लघु पंचाक्षर उच्चारणमात्र अर्थात् "अ इ उ ऋ लृ" इन पांच वर्णों के उच्चारण करते जितना काल लगता है, तितनी स्थिति है। इस अयोगी गुणस्थान में ध्यान का संभव कहते हैं। इहां अनिवृत्ति नामक चौथा ध्यान होता है। चौथे ध्यान का स्वरूप कहते हैं।

समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकाऽपि हि।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद् द्वारं मुक्तिवेश्मनः॥

[गुण० क्रमा० श्लो० १०६]

अर्थः—जिस ध्यान में सूक्ष्म काययोग रूप क्रिया भी

ध्याता है, तिस से अन्य जो कुछ उपचाररूप अष्टांग योग प्रवृत्ति लक्षण, सो सर्व ही व्यवहार नय के मत से जानना ।

अथ अयोगिगुणस्थानवर्त्ती के उपांत्य समय का कृत्य कहते हैं । केवल चिद्रूपमय आत्मस्वरूप का धारक योगी अयोगिगुणस्थानवर्त्ती ही स्फुट-प्रगट उपांत्य समय में शीघ्र युगपत्-समकाल बहत्तर कर्म प्रकृति का क्षय करता है । सो यह हैं—देह पांच अर्थात् शरीर पांच, बंधन पांच, संघात पांच, अंगोपांग तीन, संस्थान छः वर्णपंचक, रस-पंचक, संहननषट्क, अस्थिरषट्क, स्पर्शाष्टक, गंध दो, नीचगोत्र, अगुरुलघुचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, खगति-द्विक, प्रत्येकत्रिक, सुस्वर, अपर्याप्तनाम, निर्माणनाम, दोनों में से कोई भी एक वेदनीय, यह सर्व बहत्तर कर्म प्रकृति मुक्तिपुरी के द्वार में अर्गलभूत हैं, सो केवली भगवान् इन का उपांत्य समय—द्विचरम समय में क्षय करता है ।

अथ अयोगी अन्त समय में जौनसी कर्मप्रकृति का क्षय करके जो कुछ करता है, सो कहते हैं । सो अयोगी अन्त समय में एकतर वेदनीय, आदेयत्व, पर्याप्तत्व, त्रसत्व, बादरत्व, मनुष्यायु, यशनाम, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, सौभाग्य, उच्चगोत्र, पचेंद्रियत्व, तीर्थंकरनाम, इन तेरां कर्म प्रकृति का क्षय करके उसी समय में सिद्ध पर्याय को प्राप्त होता है । सो सिद्ध परमेष्ठी, सनातन भगवान् शाश्वत लोकांत के पर्यंत को जाता है । तथा अयोगिगुणस्थानस्थ

ध्याता है, तिस से अन्य जो कुछ उपचाररूप अष्टांग योग प्रवृत्ति लक्षण, सो सर्व ही व्यवहार नय के मत से जानना ।

अथ अयोगिगुणस्थानवर्त्ती के उपांत्य समय का कृत्य कहते हैं । केवल चिद्रूपमय आत्मस्वरूप का धारक योगी अयोगिगुणस्थानवर्त्ती ही स्फुट-प्रगट उपांत्य समय में शीघ्र युगपत्-समकाल बहत्तर कर्म प्रकृति का क्षय करता है । सो यह हैं—देह पांच अर्थात् शरीर पांच, बंधन पांच, संघात पांच, अंगोपांग तीन, संस्थान छः वर्णपंचक, रस-पंचक, संहननषट्क, अस्थिरषट्क, स्पर्शाष्टक, गंध दो, नीचगोत्र, अगुरुलघुचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, खगति-द्विक, प्रत्येकत्रिक, सुस्वर, अपर्याप्तनाम, निर्माणनाम, दोनों में से कोई भी एक वेदनीय, यह सर्व बहत्तर कर्म प्रकृति मुक्तिपुरी के द्वार में अर्गलभूत हैं, सो केवली भगवान् इन का उपांत्य समय—द्विचरम समय में क्षय करता है ।

अथ अयोगी अन्त समय में जौनसी कर्मप्रकृति का क्षय करके जो कुछ करता है, सो कहते हैं । सो अयोगी अन्त समय में एकतर वेदनीय, आदेयत्व, पर्याप्तत्व, त्रसत्व, बादरत्व, मनुष्यायु, यशनाम, मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, सौभाग्य, उच्चगोत्र, पचेंद्रियत्व, तीर्थंकरनाम, इन तेरां कर्म प्रकृति का क्षय करके उसी समय में सिद्ध पर्याय को प्राप्त होता है । सो सिद्ध परमेष्टी, सनातन भगवान् शाश्वत लोकांत के पर्यंत को जाता है । तथा अयोगिगुणस्थानस्थ

रूप लेप की संगति से रहित धर्मास्तिकायरूप जल करके आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है । ३. जैसे एरंड का फल, बीजादि बंधनों से छुटा हुआ ऊर्ध्वगति वाला होता है, तैसे ही कर्म बंध के विच्छेद होने से सिद्ध की भी ऊर्ध्वगति होती है । ४. जैसे अग्नि का ऊर्ध्व ज्वलन स्वभाव है, तैसे ही आत्मा का भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव है ।

अथ कर्म रहित की नीची अरु तिरछी गति नहीं होती, यह बात कहते हैं । सिद्ध की आत्मा कर्मगौरव के अभाव से नीचे को नहीं जाती, तथा प्रेरक कर्म के अभाव से आत्मा तिरछी भी नहीं जाती है । तथा कर्म रहित सिद्ध लोक के ऊपर भी, धर्मास्तिकाय के न होने से नहीं जाता । क्योंकि लोक में भी जीव, पुद्गल के चलने में धर्मास्तिकाय गति का हेतु है, मत्स्यादि को जैसे जल है । सो धर्मास्तिकाय अलोक में नहीं, इस वास्ते अलोक में सिद्ध नहीं जाते ।

सिद्धशिला

अथ सिद्धों की स्थिति अर्थात् सिद्धशिला से ऊपर लोक के अंत में जैसे सिद्ध रहते हैं । सो कहते हैं । ईषत् प्राग्भारनामा भूमि—सिद्ध-शिला चौदह रज्जुलोक के मस्तक के ऊपर व्यवस्थित है । उस को सिद्धों के निकट होने करके सिद्ध शिला कहते हैं । परन्तु सिद्ध कुछ उस शिला के ऊपर बैठे हुए नहीं हैं । सिद्ध तो उस शिला से ऊंचे लोकांत में विराजमान हैं । वो शिला कैसी है ? मनोज्ञा—मनोहारिणी

रूप लेप की संगति से रहित धर्मास्तिकायरूप जल करके आत्मा की ऊर्ध्वगति होती है । ३. जैसे एरंड का फल, बीजादि बंधनों से छुटा हुआ ऊर्ध्वगति वाला होता है, तैसे ही कर्म बंध के विच्छेद होने से सिद्ध की भी ऊर्ध्वगति होती है । ४. जैसे अग्नि का ऊर्ध्व ज्वलन स्वभाव है, तैसे ही आत्मा का भी ऊर्ध्वगमन स्वभाव है ।

अथ कर्म रहित की नीची अरु तिरछी गति नहीं होती, यह बात कहते हैं । सिद्ध की आत्मा कर्मगौरव के अभाव से नीचे को नहीं जाती, तथा प्रेरक कर्म के अभाव से आत्मा तिरछी भी नहीं जाती है । तथा कर्म रहित सिद्ध लोक के ऊपर भी, धर्मास्तिकाय के न होने से नहीं जाता । क्योंकि लोक में भी जीव, पुद्गल के चलने में धर्मास्तिकाय गति का हेतु है, मत्स्यादि को जैसे जल है । सो धर्मास्तिकाय अलोक में नहीं, इस वास्ते अलोक में सिद्ध नहीं जाते ।

अथ सिद्धों की स्थिति अर्थात् सिद्धशिला से ऊपर लोक के अंत में जैसे सिद्ध रहते हैं । सो

सिद्धशिला

कहते हैं । ईषत् प्राग्भारनामा भूमि-सिद्ध-शिला चौदह रज्जुलोक के मस्तक के ऊपर व्यवस्थित है । उस को सिद्धों के निकट होने करके सिद्ध शिला कहते हैं । परन्तु सिद्ध कुछ उस शिला के ऊपर बैठे हुए नहीं हैं । सिद्ध तो उस शिला से ऊंचे लोकांत में विराजमान हैं । वो शिला कैसी है ? मनोज्ञा-मनोहारिणी

सर्व सामान्यविशेषात्मक है।

अथ सिद्धों के आठ गुण कहते हैं। १. सिद्धों को ज्ञाना-वरण कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञान प्रगट हुआ है। २. सिद्धों को दर्शनावरण कर्म के क्षय होने से अनन्त दर्शन हुआ है। ३. सिद्धों को क्षायिकरूप शुद्ध सम्यक्त्व और चारित्र दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षय होने से हुए हैं। ४. सिद्धों को अनंत-अक्षय सुख अरु ५. अनंत वीर्य। वेदनीय कर्म के क्षय होने से अनंत सुख हुआ है, और अंतराय कर्म के क्षय होने से अनंत वीर्य प्रगट हुआ है। तथा ६. सिद्धों की अक्षयगति आयुःकर्म के क्षय होने से हुई है। ७. नामकर्म के क्षय होने से अमूर्त्तपना सिद्धों को प्रगट भया है। ८. गोत्र कर्म के क्षय होने से सिद्धों की अनंत अवगाहना है।

सिद्धावस्था

अथ सिद्धों का सुख कहते हैं। जो सुख चक्रवर्त्ती की पदवी का, अरु जो सुख इन्द्रादि पदवी का है, तिस से भी सिद्धों का सुख अनंत गुणा है। वो सुख क्लेश रहित है। अर्थात् "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा"—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, यह क्लेश हैं, सो जिनमें नहीं हैं। फिर कैसा है सुख? "अव्ययं-न व्येति—स्वभाव से जो नाश नहीं होता।

अथ सिद्धों ने जो कुछ प्राप्त किया है, तिस का सार कहते हैं। आराधक जिस वस्तु का आराधन करते हैं, साधक पुरुष

सर्व सामान्यविशेषात्मक है।

अथ सिद्धों के आठ गुण कहते हैं। १. सिद्धों को ज्ञाना-वरण कर्म के क्षय होने से केवल ज्ञान प्रगट हुआ है। २. सिद्धों को दर्शनावरण कर्म के क्षय होने से अनन्त दर्शन हुआ है। ३. सिद्धों को क्षायिकरूप शुद्ध सम्यक्त्व और चरित्र दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के क्षय होने से हुए हैं। ४. सिद्धों को अनंत-अक्षय सुख अरु ५. अनंत वीर्य। वेदनीय कर्म के क्षय होने से अनंत सुख हुआ है, और अंतराय कर्म के क्षय होने से अनंत वीर्य प्रगट हुआ है। तथा ६. सिद्धों की अक्षयगति आयुःकर्म के क्षय होने से हुई है। ७. नामकर्म के क्षय होने से अमूर्त्तपना सिद्धों को प्रगट भया है। ८. गोत्र कर्म के क्षय होने से सिद्धों की अनंत अवगाहना है।

सिद्धावस्था

अथ सिद्धों का सुख कहते हैं। जो सुख चक्रवर्त्ती की पदवी का, अरु जो सुख इन्द्रादि पदवी का है, तिस से भी सिद्धों का सुख अनंत गुणा है। वो सुख क्लेश रहित है। अर्थात् "अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा"—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, यह क्लेश हैं, सो जिनमें नहीं हैं। फिर कैसा है सुख? "अव्ययं-न व्येति—स्वभाव से जो नाश नहीं होता।

अथ सिद्धों ने जो कुछ प्राप्त किया है, तिस का सार कहते हैं। आराधक जिस वस्तु का आराधन करते हैं, साधक पुरुष

जन्म लेता है, फिर पूर्ववत् सुख भोग करता है, इसी तरें अनादि अनंतकाल लगि करता रहेगा । परन्तु एक जगे स्थित न रहेगा । इस प्रकार भिन्न २ मोक्ष कहते हैं । परन्तु सर्वज्ञ अर्हंत परमेश्वर ने तो सत्रूप-ज्ञानदर्शनरूप, तथा असारभूत जो यह संसार है, तिस से भिन्न सारभूत, निस्सीम आत्यंतिक सुखरूप, अनंत, अतींद्रियानंद अनुभवस्थान, अप्रतिपाती, स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष कही है ।

प्रश्नः—हे जैन ! तुम ने सर्व वादियों की कही हुई मोक्ष को तो अनुपादेय समझा, अरु अर्हंत की कही हुई मोक्ष उपादेय समझी । इन में क्या हेतु है ?

उत्तरः—हे भव्य ! इन सर्व वादियों की मोक्ष पीछे षड्दर्शन के निरूपण में लिख आये हैं, सो जान लेनी । इन वादियों की कही मोक्ष ठीक नहीं, कारण कि जब अत्यंताऽभावरूप मोक्ष होवे, तब तो आत्मा ही का अभाव हो गया, तो फिर मोक्ष फल किस को होवेगा ? ऐसा कौन है जो आत्मा के अत्यंताभाव होने में यत्न करे ? तथा जो ज्ञानाभाव को मोक्ष मानते हैं, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब ज्ञान ही न रहा, तब तो पाषाण भी मोक्षरूप हो गया । तो ऐसा कौन प्रेक्षावान् है, जो अपनी आत्मा को जड पाषाण तुल्य बनाना चाहे ? तथा जो सर्व व्यापी आत्मा को मोक्ष मानते हैं, अर्थात् जब आत्मा की मोक्ष होती है, तब आत्मा सर्व व्यापी मोक्ष रूप होती है, यह भी कहना प्रमाणानभिज्ञ पुरुषों का

जन्म लेता है, फिर पूर्ववत् सुख भोग करता है, इसी तरें अनादि अनंतकाल लगि करता रहेगा । परन्तु एक जगे स्थित न रहेगा । इस प्रकार भिन्न २ मोक्ष कहते हैं । परन्तु सर्वज्ञ अर्हत परमेश्वर ने तो सत्रूप-ज्ञानदर्शनरूप, तथा असारभूत जो यह संसार है, तिस से भिन्न सारभूत, निस्सीम आत्यंतिक सुखरूप, अनंत, अतींद्रियानंद अनुभवस्थान, अप्रतिपाती, स्वरूपावस्थानरूप मोक्ष कही है ।

प्रश्नः—हे जैन ! तुम ने सर्व वादियों की कही हुई मोक्ष को तो अनुपादेय समझा, अरु अर्हत की कही हुई मोक्ष उपादेय समझी । इन में क्या हेतु है ?

उत्तरः—हे भव्य ! इन सर्व वादियों की मोक्ष पीछे षड्दर्शन के निरूपण में लिख आये हैं, सो जान लेनी । इन वादियों की कही मोक्ष ठीक नहीं, कारण कि जब अत्यंताऽभावरूप मोक्ष होवे, तब तो आत्मा ही का अभाव हो गया, तो फिर मोक्ष फल किस को होवेगा ? ऐसा कौन है जो आत्मा के अत्यंताभाव होने में यत्न करे ? तथा जो ज्ञानाभाव को मोक्ष मानते हैं, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि जब ज्ञान ही न रहा, तब तो पाषाण भी मोक्षरूप हो गया । तो ऐसा कौन प्रेक्षावान् है, जो अपनी आत्मा को जड पाषाण तुल्य बनाना चाहे ? तथा जो सर्व व्यापी आत्मा को मोक्ष मानते हैं, अर्थात् जब आत्मा की मोक्ष होती है, तब आत्मा सर्व व्यापी मोक्ष रूप होती है, यह भी कहना प्रमाणानभिज्ञ पुरुषों का

शब्दकोष

—:o:—

कठिन, प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

अ

अकिंचित्कर कुछ न करने वाला

अग्रगामि प्रत्यक्ष, आगे नज़र आने वाला

अचेतन जड़

अजा बकरी

अतिक्रान्त अगोचर, परे

अतिप्रसङ्ग पा० अतिव्याप्ति—अलक्ष्य में भी पाया जाना।

अदृष्ट जो दिखाई न दे; धर्म, अधर्म

अध्यवसाय परिणाम

अनवस्था पा० कार्य कारण की परम्परा का विराम न होना।

अनहोई विचित्र, असम्भव

अनहोये न पाये जाने वाले

अनागत भविष्य

अनिर्वाच्य अकथनीय, न कह सकने योग्य

अनुपहत अक्षत, सम्पूर्ण

अनुविद्ध परस्पर मिले हुए

अनुष्ठान आचरण

अनुषंग प्रसङ्ग

अनुसन्धान सम्बन्ध

अन्तर्मुहूर्त लग भग दो घड़ी

अन्तरिक्ष आकाश

अन्तरे दूरी पर

अपराह्न दिन का तीसरा पहर

अपर्यवसित अनन्त

अपवर्ग मोक्ष

शब्दकोष

—:०:—

कठिन, प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दों का अर्थ

अ

अकिंचित्कर कुछ न करने वाला

अग्रगामि प्रत्यक्ष, आगे नज़र आने वाला

अचेतन जड़

अजा बकरी

अतिक्रान्त अगोचर, परे

अतिप्रसङ्ग पा० अतिव्याप्ति—अलक्ष्य में भी पाया जाना।

अदृष्ट जो दिखाई न दे; धर्म, अधर्म

अध्यवसाय परिणाम

अनवस्था पा० कार्य कारण की परम्परा का विराम न होना।

अनहोई विचित्र, असम्भव

अनहोये न पाये जाने वाले

अनागत भविष्य

अनिर्वाच्य अकथनीय, न कह सकने योग्य

अनुपहत अक्षत, सम्पूर्ण

अनुविद्ध परस्पर मिले हुए

अनुष्ठान आचरण

अनुषंग प्रसङ्ग

अनुसन्धान सम्बन्ध

अन्तर्मुहूर्त लग भग दो घड़ी

अन्तरिक्ष आकाश

अन्तरे दूरी पर

अपराह्न दिन का तीसरा पहर

अपर्यवसित अनन्त

अपवर्ग मोक्ष

आ

आंब पं० आम

आक्रन्दन रोना

आगम पा० अरिहन्त वीतराग का कहा हुआ शास्त्र

आच्छादक ढकने वाला

आच्छादित ढका हुआ

आतप ताप, गर्मी

आत्मोकर्ष अपनी बड़ाई

आधाकर्मिक पा० साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन

आप्त यथार्थ वक्ता

आय कर पं० आ कर

आरनाल कांजी

आरोप कल्पना

आरोहण चढ़ना

आलोड्यमान इधर उधर हिलाये गये

आवने पं० आने

आवरक ढकने वाला

आवरण ढकना

आवे है आता है

इ

इतरेतरविविक्त अलग अलग

इतरेतराश्रय दूषण पा० एक दूसरे के आश्रित होना

इन्द्रियगोचर इन्द्रियों का विषय

इन्द्रियनिरोध इन्द्रियों को वश में करना

इष्टानिष्ट अच्छा बुरा

इहां यहां

उ

उच्छेद नाश

उत्कट तीव्र, अधिक

उत्कृष्ट पा० अधिक से अधिक

उत्सर्पिणी पा० बढ़ती का काल

आ

आंब पं० आम

आक्रन्दन रोना

आगम पा० अरिहन्त वीतराग का कहा हुआ शास्त्र

आच्छादक ढकने वाला

आच्छादित ढका हुआ

आतप ताप, गर्मी

आत्मोत्कर्ष अपनी बड़ाई

आधाकर्मिक पा० साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन

आप्त यथार्थ वक्ता

आय कर पं० आ कर

आरनाल कांजी

आरोप कल्पना

आरोहण चढ़ना

आलोड्यमान इधर उधर हिलाये गये

आवने पं० आने

आवरक ढकने वाला

आवरण ढकना

आवे है आता है

इ

इतरेतरविविक्त अलग अलग

इतरेतराश्रय दूषण पा० एक दूसरे के आश्रित होना

इन्द्रियगोचर इन्द्रियों का विषय

इन्द्रियनिरोध इन्द्रियों को वश में करना

इष्टानिष्ट अच्छा बुरा

इहां यहां

उ

उच्छेद नाश

उत्कट तीव्र, अधिक

उत्कृष्ट पा० अधिक से अधिक

उत्सर्पिणी पा० बढ़ती का काल

क

कंचन सोना
कंठ रहती नहीं याद नहीं रहती
कच्छु पं० कछुआ
कछुक थोडा सा, कुछ
कतरणी कैंची
कदन्न अपवित्र-खराब अन्न
कदे भी पं० कभी भी
कर्मरज कर्म रूपी धूली
करके द्वारा से
करतलामलकवत् हाथ में रहे हुए आंवले की तरह
करा किया
कराय के पं० करा कर
करिये पं० करें
करी से
करी है की है
करे है करता है
कलत्र स्त्री
कलल गर्भ की पहली अवस्था
कल्लोल वडी लहर
काढ़ना पं० निकालना
कारणे कारण से
कालात्ययापदिष्ट बाधित हेत्वाभास
काहे को किस लिये
कितनेक कई एक, कुछ
क्रियाकलाप क्रिया का समूह
किंकर दास
कीना था किया था
कुथित सडा हुआ
कुलकर प्रथम नीति चलाने वाले
कुम्भी पाक पा० नरक विशेष, जहां जीव को घड़े की तरह पकाया जाता है।
कुलिंगी बुरे आचरण वाले
कुक्षिंभर पेट भरने वाले
कोकिलावत् कोयल की तरह
कोटाकोटि पा० क्रोडों
कोथली थैली
क्रमोत्क्रम क्रम से, नम्बरवार
क्योंकर कैसे

क

कंचन सोना

कंठ रहतो नहीं याद नहीं रहतो

कच्छु पं० कछुआ

कछुक थोडा सा, कुछ

कतरणी कैंची

कदन्न अपवित्र-खराब अन्न

कदे भी पं० कभी भी

कर्मरज कर्म रूपी धूली

करके द्वारा से

करतलामलकवत् हाथ में रहे हुए आंवले की तरह

करा किया

कराय के पं० करा कर

करिये पं० करें

करी से

करी है की है

करे है करता है

कलत्र स्त्री

कलल गर्भ की पहली अवस्था

कल्लोल बडी लहर

काढ़ना पं० निकालना

कारणे कारण से

कालात्ययापदिष्ट बाधित हेत्वाभास

काहे को किस लिये

कितनेक कई एक, कुछ

क्रियाकलाप क्रिया का समूह

किंकर दास

कीना था किया था

कुथित सडा हुआ

कुलकर प्रथम नीति चलाने वाले

कुम्भी पाक पा० नरक विशेष, जहां जीव को घड़े की तरह पकाया जाता है।

कुलिंगी बुरे आचरण वाले

कुक्षिंभर पेट भरने वाले

कोकिलावत् कोयल की तरह

कोटाकोटि पा० क्रोडों

कोथली थैली

क्रमोत्क्रम क्रम से, नम्बरवार

क्योंकर कैसे

ज

जङ्गल शौच

जगा, जगे पं० जगह, स्थान

जघंन कमर

जघन्य पा० कम से कम

जनक कारण

जलांजली देना छोड देना

ज्वरोष्मवत् ज्वर की गर्मी की तरह

जाणे जानता है

जामा चोला, अङ्गरखा विशेष

जालमस्वभाव क्रूरता

जावजीव जीवन पर्यन्त

जीत्या जीता, विजय किया

जुगुप्सा घृणा

जेकर पं० यदि

जोराजोरी पं० जबरदस्ती बलपूर्वक

ट

टोला झुंड

ठ

ठोठ मूर्ख

त

तद्वस्थ उसी प्रकार

तड़के सवेरे

तपोनुष्ठान से तप करने से

तरे, तरें तरह

तलाव पं० तालाव

तहां वहां

तांई तक

ता करिके इस लिये

तातें इस लिये

तालोद्धाटिनी ताले खोलनेकी विद्या

ज

जङ्गल शौच

जगा, जगे पं० जगह, स्थान

जघन कमर

जघन्य प्रा० कम से कम

जनक कारण

जलांजली देना छोड देना

ज्वरोष्मवत् ज्वर की गर्मी की तरह

जाणे जानता है

जामा चोला, अङ्गरखा विशेष

जालमस्वभाव क्रूरता

जावजीव जीवन पर्यन्त

जीत्या जीता, विजय किया

जुगुप्सा घृणा

जेकर पं० यदि

जोराजोरी पं० जबरदस्ती बलपूर्वक

ट

टोला झुंड

ठ

ठोठ मूर्ख

त

तद्वस्थ उसी प्रकार

तड़के सवेरे

तपोनुष्ठान से तप करने से

तरे, तरें तरह

तलाव पं० तालाव

तहां वहां

तांई तक

ता करिके इस लिये

तातें इस लिये

तालोद्घाटिनी ताले खोलनेकी विद्या

प

पटल परदा
पड़ जाता है गिर जाता है
परचक्र परराष्ट्र
पर्यटन भ्रमण
पराङ्मुख विमुख
परिणति भाव, परिणाम
परिवेष्टित घिरा हुआ
परिहार त्याग
परेष्ट दूसरे का माना हुआ
पाकज पा० अग्नि के संयोग से होने वाला
पादारविंद चरणकमल
पावना प्राप्त करना
पासे ओर, तरफ
पिंगल पीला
पिछान पहचान
पीठ चौकी, पट्टा
पुरीष मल
पुरोवर्ती सामने खडा हुआ
पूंज लेना पूंछ लेना, साफ करना
पूर प्रवाह
पूरता है भरता है
पूरे पानी के सूक्ष्म जन्तु
प्रकरणसम पा० सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास
प्रणिधान भक्ति, ध्यान
प्रतिपत्ति सिद्धि
प्रतिपन्न सिद्धि
प्रतिपक्षी विरोधी
प्रतिबोध ज्ञान
प्रभृति आदि, वगैरह
प्रमाणानभिज्ञ प्रमाण को न जानने वाला
प्रमुख आदि, वगैरह
प्ररूपणा करनी कथन करना
प्ररूपे चलाये, कहे गये
प्रवर्तावे है प्रवृत्त करता है
प्रश्रवण मूत्र

प

पटल परदा
पड़ जाता है गिर जाता है
परचक्र परराष्ट्र
पर्यटन भ्रमण
पराङ्मुख विमुख
परिणति भाव, परिणाम
परिवेष्टित घिरा हुआ
परिहार त्याग
परेष्ट दूसरे का माना हुआ
पाकज पा० अग्नि के संयोग से होने वाला
पादारविंद चरणकमल
पावना प्राप्त करना
पासे ओर, तरफ़
पिंगल पीला
पिछान पहचान
पीठ चौकी, पट्टा
पुरीष मल
पुरोवर्ती सामने खडा हुआ
पूंज लेना पूंछ लेना, साफ करना
पूर प्रवाह
पूरता है भरता है
पूरे पानी के सूक्ष्म जन्तु
प्रकरणसम पा० सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास
प्रणिधान भक्ति, ध्यान
प्रतिपत्ति सिद्धि
प्रतिपन्न सिद्धि
प्रतिपक्षी विरोधी
प्रतिबोध ज्ञान
प्रभृति आदि, वगैरह
प्रमाणानभिज्ञ प्रमाण को न जानने वाला
प्रमुख आदि, वगैरह
प्ररूपणा करनी कथन करना
प्ररूपे चलाये, कहे गये
प्रवर्तावे है प्रवृत्त करता है
प्रश्रवण मूत्र

भूधर पर्वत
भूरुह वृक्ष
भेषज औषधि

म

मंगाय के मंगवा कर
मता विचार
मतान्तराय दूसरे मत वाले
मध्यांग मध्य का भाग
मध्याह्न दोपहर
मनगमता मनपसंद, रुचिकर
मने कराना हटाना
मराय के मारकर
महाज बडा वकरा
महानस रसोई
महापथ्य अति हितकारी
महोक्ष वडा वैल
माटी गु० मिट्टी
माथे मस्तक
मानसी मन की
मान्या माना
माने है मानता है
मायाजन्य माया से होने वाला
मिटाय के मिटाकर
मुदित प्रसन्न
मुनिप्रणीत मुनि का वनाया हुआ
मूक गूंगे, बेज़वान्
मूजव अनुसार
मूठीचांपी पैर आदि दवाना
मृत्तिका मिट्टी
मेहरबानगी कृपा

य

यतना सावधानता
यथारुचि इच्छानुसार
यथावस्थित यथार्थ
याग यज्ञ
युगपत् एक साथ
युगल जोड़ा
युक्तिविकल युक्ति रहित
योजन चार कोस

भूधर पर्वत

भूरुह वृक्ष

भेषज औषधि

म

मंगाय के मंगवा कर

मता विचार

मतान्तराय दूसरे मत वाले

मध्यांग मद्य का भाग

मध्याह्न दोपहर

मनगमता मनपसंद, रुचिकर

मने कराना हटाना

मराय के मारकर

महाज बडा बकरा

महानस रसोई

महापथ्य अति हितकारी

महोक्ष बडा बैल

माटी गु० मिट्टी

माथे मस्तक

मानसी मन की

मान्या माना

माने है मानता है

मायाजन्य माया से होने वाला

मिटाय के मिटाकर

मुदित प्रसन्न

मुनिप्रणीत मुनि का बनाया हुआ

मूक गूंगे, बेज़ुबान्

मूजब अनुसार

मूठीचांपी पैर आदि दबाना

मृत्तिका मिट्टी

मेहरबानगी कृपा

य

यतना सावधानता

यथारुचि इच्छानुसार

यथावस्थित यथार्थ

याग यज्ञ

युगपत् एक साथ

युगल जोड़ा

युक्तिविकल युक्ति रहित

योजन चार कोस

अस्तित्व मात्र को ग्रहण करने वाला
विधुर रहित
विपक्षी विरोधी
विप्रतारणा ठगना
विरूप बुरा
विश्रसा स्वभाव
विषाद खेद
विषे विषय, सम्बन्ध
वेदना पा० अनुभव करना
वेला समय
वेष्टित लिपटा हुआ
व्यक्तिनिष्ठ व्यक्ति में रहने वाला
व्यंजक व्यक्त करने वाला
व्यवच्छेद नाश
व्यामोह अज्ञानता
व्यावृत्त भेद
व्याहतपना विरोध

श

शश ससा, खरगोश
शालि धान, चावल
शाश्वत नित्य
शिव सुख, मोक्ष
शील चारित्र, स्वभाव
शुक्र वीर्य
शुष्क सूखा
शुश्रूषा सेवा
श्रेय कल्याण
शोषित सूखा हुआ
शौनिक हिंसक, कसाई

स

सधर्मीवत्सल–साधर्मी० समान धर्म वाले की सेवा भक्ति करना
समीचीन ठीक
सरपंच मुखिया
सरीखा समान
सहत शहद
सहकार आम
संकरता मिश्रण

अस्तित्व मात्र को ग्रहण करने वाला

विधुर रहित

विपक्षी विरोधी

विप्रतारणा ठगना

विरूप बुरा

विश्रसा स्वभाव

विषाद खेद

विषे विषय, सम्बन्ध

वेदना पा० अनुभव करना

वेला समय

वेष्टित लिपटा हुआ

व्यक्तिनिष्ठ व्यक्ति में रहने वाला

व्यंजक व्यक्त करने वाला

व्यवच्छेद नाश

व्यामोह अज्ञानता

व्यावृत्त भेद

व्याहतपना विरोध

श

शश ससा, खरगोश

शालि धान, चावल

शाश्वत नित्य

शिव सुख, मोक्ष

शील चारित्र, स्वभाव

शुक्र वीर्य

शुष्क सूखा

शुश्रूषा सेवा

श्रेय कल्याण

शोषित सूखा हुआ

शौनिक हिंसक, कसाई

स

सधर्मीवत्सल–साधर्मी० समान धर्म वाले की सेवा भक्ति करना

समीचीन ठीक

सरपंच मुखिया

सरीखा समान

सहत शहद

सहकार आम

संकरता मिश्रण

क्ष

क्षरे नष्ट होवे	**क्षुधा** भूख
क्षीर नीर दूध पानी	**क्षुर** उस्तरा

त्र

त्रयात्मक तीन स्वरूप वाला	**त्रिदिव** स्वर्ग
त्राण रक्षण, शरण	**त्रिभुवन** तीन लोक

क्ष

क्षरे नष्ट होवे

क्षीर नीर दूध पानी

क्षुधा भूख

क्षुर उस्तरा

त्र

त्रयात्मक तीन स्वरूप वाला

त्राण रक्षण, शरण

त्रिदिव स्वर्ग

त्रिभुवन तीन लोक

र

ल

व

श

स

परिशिष्ट नं० १—क

[पृ० ७]

अर्धमागधी भाषा

लौकिक भाषा दो प्रकार की है—१. संस्कृत और २. प्राकृत। इनमें पहली संस्कृत भाषा वैदिक और लौकिक भेदसे दो प्रकार की है। *और दूसरी प्राकृत—प्रकृति संस्कृत, उस से उत्पन्न होने वाली अर्थात् उसकी विकृति को प्राकृत कहते हैं। वह प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश, इन भेदों से छः प्रकार की है।

महाराष्ट्र देश से उत्पन्न होने वाली भाषा को प्राकृत कहते हैं, शूरसेन देश से उत्पन्न होने वाली भाषा को शौरसेनी कहते

---

* प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ॥ २५ ॥
षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात् ॥ २६ ॥
तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः।
शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते ॥ २७ ॥
मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं संप्रचक्षते।
पिशाचदेशनियतं पैशाचीद्वितयं भवेत् ॥ २८ ॥
अपभ्रंशस्तु भाषा स्यादाभीरादिगिरां चयः ॥ ३१ ॥
[षड्भाषाचन्द्रिका पृ० ४-५]

परिशिष्ट नं० १—क

[पृ० ७]

अर्धमागधी भाषा

लौकिक भाषा दो प्रकार की है—१. संस्कृत और २. प्राकृत। इनमें पहली संस्कृत भाषा वैदिक और लौकिक भेदसे दो प्रकार की है। *और दूसरी प्राकृत—प्रकृति संस्कृत, उस से उत्पन्न होने वाली अर्थात् उसकी विकृति को प्राकृत कहते हैं। वह प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश, इन भेदों से छः प्रकार की है।

महाराष्ट्र देश से उत्पन्न होने वाली भाषा को प्राकृत कहते हैं, शूरसेन देश से उत्पन्न होने वाली भाषा को शौरसेनी कहते

---

* प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता ॥ २५ ॥
षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिकापैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात् ॥ २६ ॥
तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः।
शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते ॥ २७ ॥
मगधोत्पन्नभाषां तां मागधीं संप्रचक्षते।
पिशाचदेशनियतं पैशाचीद्वितयं भवेत् ॥ २८ ॥
अपभ्रंशस्तु भाषा स्यादाभीरादिगिरां चयः ॥ ३१ ॥
[षड्भाषाचन्द्रिका पृ० ४-५]

४. *भाषार्य—भाषा की दृष्टि से भी वही आर्य कहला सकता है, जो कि अर्धमागधी भाषा का उपयोग करे।

इत्यादि आगम वाक्यों के पर्यालोचन से निश्चित होता है, कि अर्धमागधी सर्व श्रेष्ठ, देवप्रिय तथा आर्य भाषा है, इस लिये समस्त जैनागम इसी भाषा से अलंकृत हुए हैं।

परन्तु अर्धमागधी का सामान्य अर्थ और उसकी प्रामाणिक आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या का विचार करते हुए एक विचार शील पुरुष को जैनागमों की भाषा को अर्धमागधी कहने की अपेक्षा उसे प्राकृत भाषा कहना व स्वीकार करना कुछ अधिक सङ्गत प्रतीत होगा।

अर्धमागधी की व्याख्या—

संस्कृत के अतिरिक्त लौकिक भाषाओं के—१. प्राकृत, २. शौरसेनी, ३. मागधी, ४. पैशाची, ५. चूलिका पैशाची, और अपभ्रंश, यह छः भेद हैं।

व्यापकता की दृष्टि से औरों की अपेक्षा प्राकृत भाषा अधिक महत्त्व रखती है. अस्तु, मागधी का सामान्य अर्थ यह होता है कि जिसमें मागधी भाषा का अर्ध भाग हो, अर्थात् उस के शब्दों में अर्ध भाग मागधी का हो और अर्ध दूसरी भाषा का। तथा प्रामाणिक आचार्यों ने इस की जो व्याख्या की है, वह इस प्रकार है—

---

* भासारिया जे णं अद्धमागहीए भासाए भासेंति। [प्रज्ञा० सू०, आग० स०. पृ० ५६]।

४. *भाषार्य—भाषा की दृष्टि से भी वही आर्य कहला सकता है, जो कि अर्धमागधी भाषा का उपयोग करे।

इत्यादि आगम वाक्यों के पर्यालोचन से निश्चित होता है, कि अर्धमागधी सर्व श्रेष्ठ, देवप्रिय तथा आर्य भाषा है, इस लिये समस्त जैनागम इसी भाषा से अलंकृत हुए हैं।

परन्तु अर्धमागधी का सामान्य अर्थ और उसकी प्रामाणिक आचार्यों द्वारा की गई व्याख्या का विचार करते हुए एक विचार शील पुरुष को जैनागमों की भाषा को अर्धमागधी कहने की अपेक्षा उसे प्राकृत भाषा कहना व स्वीकार करना कुछ अधिक सङ्गत प्रतीत होगा।

अर्धमागधी की व्याख्या—

संस्कृत के अतिरिक्त लौकिक भाषाओं के—१. प्राकृत, २. शौरसेनी, ३. मागधी, ४. पैशाची, ५. चूलिका पैशाची, और अपभ्रंश, यह छः भेद हैं।

व्यापकता की दृष्टि से औरों की अपेक्षा प्राकृत भाषा अधिक महत्त्व रखती है. अस्तु, मागधी का सामान्य अर्थ यह होता है कि जिसमें मागधी भाषा का अर्ध भाग हो, अर्थात् उस के शब्दों में अर्ध भाग मागधी का हो और अर्ध दूसरी भाषा का। तथा प्रामाणिक आचार्यों ने इस की जो व्याख्या की है, वह इस प्रकार है—

---

* भासारिया जे णं अद्धमागहीए भासाए भासेंति। [प्रज्ञा० सू०, आग० स०, पृ० ५६]।

लक्षणों की स्वल्पता पाई जावे, वह अर्धमागधी भाषा है।

श्री अभयदेव सूरि आदि आचार्यों की इस पारिभाषिक व्याख्या के अनुसार तो जैन आगमों की भाषा को अर्ध-मागधी कहने अथवा स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं, क्योंकि उन में इसी नियम की व्यापकता उपलब्ध होती है। अर्थात् जैनगामों की भाषा में प्राकृत के नियमों का अधिक अनुसरण किया हुआ है, और मागधी का कहीं कहीं।

परन्तु यदि उक्त व्याख्या को पारिभाषिक न मान कर यौगिक मानें, तब तो उक्त जैन प्रवचन की भाषा को प्राकृत या आर्षप्राकृत कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। हमारी दृष्टि में तो जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी और प्राकृत दोनों ही नामों से अभिहित की जा सकती है। पूर्वाचार्यों ने इसे प्राकृत के नाम से भी उल्लेख किया है। जैसे कि आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

प्राकृतनिबन्धोऽपि बालादिसाधारणः।

उक्तं च—

बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः कृतः॥

इस लेख के द्वारा आगमों की भाषा को प्राकृत स्वीकार किया है। तथा स्वर्गीय आचार्य श्री विजयानंद सूरि जी ने

लक्षणों की स्वल्पता पाई जावे, वह अर्धमागधी भाषा है।

श्री अभयदेव सूरि आदि आचार्यों की इस पारिभाषिक व्याख्या के अनुसार तो जैन आगमों को भाषा को अर्ध-मागधी कहने अथवा स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं, क्योंकि उन में इसी नियम की व्यापकता उपलब्ध होती है। अर्थात् जैनगामों की भाषा में प्राकृत के नियमों का अधिक अनुसरण किया हुआ है, और मागधी का कहीं कहीं।

परन्तु यदि उक्त व्याख्या को पारिभाषिक न मान कर यौगिक मानें, तब तो उक्त जैन प्रवचन की भाषा को प्राकृत या आर्षप्राकृत कहना अधिक युक्तियुक्त होगा। हमारी दृष्टि में तो जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी और प्राकृत दोनों ही नामों से अभिहित की जा सकती है। पूर्वाचार्यों ने इसे प्राकृत के नाम से भी उल्लेख किया है। जैसे कि आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक सूत्र की वृत्ति में लिखा है—

प्राकृतनिबन्धोऽपि बालादिसाधारणः।

उक्तं च—

बालस्त्रीमूढमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धांतः प्राकृतः कृतः॥

इस लेख के द्वारा आगमों की भाषा को प्राकृत स्वीकार किया है। तथा स्वर्गीय आचार्य श्री विजयानंद सूरि जी ने

गर्भित मानते थे। इस लिये जिनप्रवचन की भाषा के अर्धमागधी और प्राकृत ये दोनों ही नाम शिष्टजन को सम्मत हैं।

परिशिष्ट नं० १—ख

[पृ० ८,९]

तीर्थंकर और जीवन मुक्त

जैन सिद्धान्त के अनुसार जिस समय तीर्थंकर भगवान् को कर्मजन्य समस्त आवरणों के सर्वथा दूर हो जाने से केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस समय उन को संसार के सारे पदार्थों का करामलकवत् पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष भान होने लगता है। तथा उन में कई एक अतिशय उत्पन्न हो जाते हैं, जिन के प्रभाव से ऋद्धिसम्पन्न अनेक देवता हर समय उन की सेवा में उपस्थित रहते हैं।

वैदिक वाङ्मय में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। जीवन मुक्त के ज्ञान और ऐश्वर्य के वर्णन में उपनिषदों के निम्न लिखित कतिपय वाक्य उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये पर्याप्त प्रतीत होते हैं। जिस आत्मा को ब्रह्म अथवा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे वीतराग आत्मा की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

गर्भित मानते थे। इस लिये जिनप्रवचन की भाषा के अर्धमागधी और प्राकृत ये दोनों ही नाम शिष्टजन को सम्मत हैं।

परिशिष्ट नं० १—ख

[पृ० ८,६]

तीर्थंकर और जीवन मुक्त

जैन सिद्धान्त के अनुसार जिस समय तीर्थंकर भगवान् को कर्मजन्य समस्त आवरणों के सर्वथा दूर हो जाने से केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस समय उन को संसार के सारे पदार्थों का करामलकवत् पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष भान होने लगता है। तथा उन में कई एक अतिशय उत्पन्न हो जाते हैं, जिन के प्रभाव से ऋद्धिसम्पन्न अनेक देवता हर समय उन की सेवा में उपस्थित रहते हैं।

वैदिक वाङ्मय में भी इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। जीवन मुक्त के ज्ञान और ऐश्वर्य के वर्णन में उपनिषदों के निम्न लिखित कतिपय वाक्य उक्त सिद्धान्त की पुष्टि के लिये पर्याप्त प्रतीत होते हैं। जिस आत्मा को ब्रह्म अथवा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, ऐसे वीतराग आत्मा की अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है—

और सर्वाधिष्ठातृत्व की प्राप्ति हो जाती है। उपर्युक्त उदाहरणों से उक्त जैन सिद्धांत का कितने अंश में समर्थन होता है, इस का निर्णय विचारशील पाठक स्वयं कर लेवें।

परिशिष्ट नं० १--ग

[पृ० २१]

परिषह

आस्रव के निरोध का नाम संवर है, वह यद्यपि सामान्य रूप से एक ही प्रकार का है तथापि उपाय के भेद से उस के अनेक भेद वर्णन किये गये हैं, परन्तु संक्षेप से उस के सात भेद हैं। इन्हीं सात में से परिषह भी एक है।

परिषह का लक्षण—

+ अंगीकार किये हुए धर्ममार्ग में दृढ़ रह कर कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिये, उपस्थित होने वाली विकट स्थिति को भी समभाव पूर्वक सहन करने का नाम परिषह है।

संख्या—परिषह बावीस हैं, उन के नाम और अर्थ का निर्देश इसी ग्रन्थ के पृ० ४५६ से ४६१ में विस्तार पूर्वक किया गया है।

+ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः।

[तत्त्वा० ९—८]

और सर्वाधिष्ठातृत्व की प्राप्ति हो जाती है । उपर्युक्त उदाहरणों से उक्त जैन सिद्धांत का कितने अंश में समर्थन होता है, इस का निर्णय विचारशील पाठक स्वयं कर लेवें ।

परिशिष्ट नं० १--ग

[पृ० २१]

परिषह

आस्रव के निरोध का नाम संवर है, वह यद्यपि सामान्य रूप से एक ही प्रकार का है तथापि उपाय के भेद से उस के अनेक भेद वर्णन किये गये हैं, परन्तु संक्षेप से उस के सात भेद हैं । इन्हीं सात में से परिषह भी एक है ।

परिषह का लक्षण—

+ अंगीकार किये हुए धर्ममार्ग में दृढ़ रह कर कर्मबन्धनों को तोड़ने के लिये, उपस्थित होने वाली विकट स्थिति को भी समभाव पूर्वक सहन करने का नाम परिषह है ।

संख्या—परिषह बावीस हैं, उन के नाम और अर्थ का निर्देश इसी ग्रन्थ के पृ० ४५६ से ४६१ में विस्तार पूर्वक किया गया है ।

+ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः ।

[तत्त्वा० ९—८]

(ग) *बादरसम्पराय नाम के नवमे गुणस्थान में विचरने वाले जीव के तो २२ परिषहों की संभवता है। क्योंकि परिषहों के कारण कर्मों की सत्ता वहां पर मौजूद है। इस के अतिरिक्त यह बात तो अर्थतः सिद्ध है कि जब नवमे गुणस्थानवर्ती जीव में ये बावीस ही परिषह विद्यमान हैं तो इस के पूर्ववर्ती छठे आदि गुणस्थानों में तो उन की पूर्ण रूप से विद्यमानता है ही।

परिषहों के कारण का निर्देश—

जैन सिद्धान्त के अनुसार अनुभव में आने वाले प्राकृतिक सुख दुःख की व्यवस्था अध्यवसायानुसार बान्धे हुए शुभाशुभ कर्मों पर ही अवलम्बित है। इसी के अनुसार उक्त बावीस परिषहों का कारण अथवा निमित्त भी ज्ञानावरणीय, मोहनीय, वेदनीय और अन्तराय यह चार कर्म हैं। ×इन में ज्ञानावरण तो प्रज्ञा और अज्ञान परिषह का कारण है। ‡दर्शन मोहनीय और अन्तराय यह क्रमशः अदर्शन और अलाभ परिषह के कारण हैं। एवं चारित्र मोहनीय से अचेलकत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार ये

* बादर सम्पराये सर्वे। [तत्त्वा० ९—१२]

× ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने। [तत्त्वा० ९—१३]

‡ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ। [तत्त्वा० ९—१४]

(ग) *बादरसम्पराय नाम के नवमे गुणस्थान में विचरने वाले जीव के तो २२ परिषहों की संभवता है। क्योंकि परिषहों के कारण कर्मों की सत्ता वहां पर मौजूद है। इस के अतिरिक्त यह बात तो अर्थतः सिद्ध है कि जब नवमे गुणस्थानवर्ती जीव में ये बावीस ही परिषह विद्यमान हैं तो इस के पूर्ववर्ती छठे आदि गुणस्थानों में तो उन की पूर्ण रूप से विद्यमानता है ही।

परिषहों के कारण का निर्देश—

जैन सिद्धान्त के अनुसार अनुभव में आने वाले प्राकृतिक सुख दुःख की व्यवस्था अध्यवसायानुसार बान्धे हुए शुभाशुभ कर्मों पर ही अवलम्बित है। इसी के अनुसार उक्त बावीस परिषहों का कारण अथवा निमित्त भी ज्ञानावरणीय, मोहनीय, वेदनीय और अन्तराय यह चार कर्म हैं। ×इन में ज्ञानावरण तो प्रज्ञा और अज्ञान परिषह का कारण है।‡दर्शन मोहनीय और अन्तराय यह क्रमशः अदर्शन और अलाभ परिषह के कारण हैं। एवं चारित्र मोहनीय से अचेलकत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, और सत्कार ये

* बादर सम्पराये सर्वे। [तत्त्वा० ९—१२]

× ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने। [तत्त्वा० ९—१३]

‡ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ। [तत्त्वा० ९—१४]

परिशिष्ट नं० १—घ

[पृ० ८२]

नयवाद

प्रमाणनयैरधिगमः । [तत्त्वा० १—६]

जैनधर्म के सुप्रसिद्ध तार्किकशिरोमणि आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि *"जितने भी बोलने के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय अर्थात् अन्य सिद्धांत हैं"। वस्तु तत्त्व का विवेचन केवल एक ही दृष्टि से नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही दृष्टि से किया गया पदार्थ का विवेचन अधूरा होता है। जो विचार एक दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है, उस का विरोधी विचार भी दूसरी दृष्टि से सत्य ठहरता है, इस लिये विविध दृष्टियों से ही पदार्थ के स्वरूप का पर्यालोचन करना सिद्धांत की दृष्टि से सम्पूर्ण एवं सत्य ठहरता है, इसी का नाम प्रमाण है।

वस्तुमें सत्त्व, असत्त्व नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्वादि अनेकविध विरोधी धर्मों का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है। इन सम्पूर्ण धर्मों का एक ही समय में निर्वचन नहीं किया

---

* जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।

जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥ [सं० त० ३–४७]

परिशिष्ट नं० १—घ

[पृ० ८२]

नयवाद

प्रमाणनयैरधिगमः । [तत्त्वा० १—६]

जैनधर्म के सुप्रसिद्ध तार्किकशिरोमणि आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर कहते हैं कि *"जितने भी बोलने के मार्ग हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय अर्थात् अन्य सिद्धांत हैं" । वस्तु तत्त्व का विवेचन केवल एक ही दृष्टि से नहीं हो सकता, क्योंकि एक ही दृष्टि से किया गया पदार्थ का विवेचन अधूरा होता है । जो विचार एक दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है, उस का विरोधी विचार भी दूसरी दृष्टि से सत्य ठहरता है, इस लिये विविध दृष्टियों से ही पदार्थ के स्वरूप का पर्यालोचन करना सिद्धांत की दृष्टि से सम्पूर्ण एवं सत्य ठहरता है, इसी का नाम प्रमाण है ।

वस्तुमें सत्त्व, असत्त्व नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व और अनेकत्वादि अनेकविध विरोधी धर्मों का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है । इन सम्पूर्ण धर्मों का एक ही समय में निर्वचन नहीं किया

* जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ॥ [सं० त० ३-४७]

समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार भेद हैं । इस प्रकार समस्त नयों का इन सातों में समावेश किया गया है। नय के इन सात प्रकारों का कुछ अधिक विवेचन किया जावे, इस से प्रथम पदार्थ में रहने वाले सामान्य तथा विशेष धर्म का ज्ञान कर लेना आवश्यक है ।

'सामान्य'—जाति आदि को कहते हैं, और 'विशेष' भिन्न भिन्न व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है । सामान्य धर्म भिन्न भिन्न व्यक्तियों में जातिरूप एकत्व बुद्धि का उत्पादक है, जैसे सैंकड़ों मनुष्य व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न भिन्न है, परंतु हर एक में मनुष्यत्व जातिरूप समान्य धर्म एक है, अर्थात् मनुष्यत्वरूप से वे सब एक हैं; इस लिये सामान्य धर्म विभिन्न व्यक्तियों में एकता का उत्पादक है। और विशेष धर्म से प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे से भेद बोधित है। क्योंकि व्यक्ति स्वयं विशेषरूप-भेदरूप है, और उस में रहा हुआ व्यक्तिगत गुण भी विशेष रूप है, इस लिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्नरूप है । जैसे मनुष्यत्व रूप सामान्य धर्म से सभी मनुष्य व्यक्तियें एक हैं, तथापि व्यक्तिगत विशेष धर्म को ले कर एक दूसरे से भिन्न हैं, कारण कि प्रत्येक व्यक्ति में रहे हुए विशिष्ट गुण उस की पारस्परिक विभिन्नताओं के नियामक हैं, इस लिये वस्तुगत सामान्य और विशेषधर्म की अपेक्षा उस को—वस्तु को सामान्य और विशेष उभयरूप माना गया है । इस

समभिरूढ़ और एवंभूत ये चार भेद हैं। इस प्रकार समस्त नयों का इन सातों में समावेश किया गया है। नय के इन सात प्रकारों का कुछ अधिक विवेचन किया जावे, इस से प्रथम पदार्थ में रहने वाले सामान्य तथा विशेष धर्म का ज्ञान कर लेना आवश्यक है।

'सामान्य'—जाति आदि को कहते हैं, और 'विशेष' भिन्न भिन्न व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है। सामान्य धर्म भिन्न भिन्न व्यक्तियों में जातिरूप एकत्व बुद्धि का उत्पादक है, जैसे सैंकड़ों मनुष्य व्यक्ति की अपेक्षा भिन्न भिन्न है, परंतु हर एक में मनुष्यत्व जातिरूप समान्य धर्म एक है, अर्थात् मनुष्यत्वरूप से वे सब एक हैं; इस लिये सामान्य धर्म विभिन्न व्यक्तियों में एकता का उत्पादक है। और विशेष धर्म से प्रत्येक व्यक्ति का एक दूसरे से भेद बोधित है। क्योंकि व्यक्ति स्वयं विशेषरूप-भेदरूप है, और उस में रहा हुआ व्यक्तिगत गुण भी विशेष रूप है, इस लिये एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्नरूप है। जैसे मनुष्यत्व रूप सामान्य धर्म से सभी मनुष्य व्यक्तियें एक हैं, तथापि व्यक्तिगत विशेष धर्म को ले कर एक दूसरे से भिन्न हैं, कारण कि प्रत्येक व्यक्ति में रहे हुए विशिष्ट गुण उस की पारस्परिक विभिन्नताओं के नियामक हैं, इस लिये वस्तुगत सामान्य और विशेषधर्म की अपेक्षा उस को—वस्तु को सामान्य और विशेष उभयरूप माना गया है। इस

२. संग्रह—अनेक पदार्थों में एकत्व बुद्धि का समर्थक संग्रह नय है, संग्रह नय वस्तु के केवल सामान्यधर्म—सत्ता को ही स्वीकार करता है, उस के मत में सामान्य से अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की सत्ता स्वीकृत नहीं। आम नीम आदि भिन्न भिन्न सभी प्रकार के वृक्षों का जैसे वनस्पति शब्द से ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेष धर्मों का सामान्य—सत्तारूप से यह नय संग्रह करता है। अतः इस नय के अनुसार सामान्य से अतिरिक्त विशेष नाम का कोई धर्म नहीं है। वेदांत और सांख्य दर्शन ने इसी नय को स्वीकार किया है।

३. व्यवहार नय—वस्तु में रहे हुए सामान्य और विशेष इन दो में से केवल विशेष धर्म को ही मानता है, उस के मत में विशेष से अतिरिक्त सामान्य कोई वस्तु नहीं। जैसे कि वनस्पति के ग्रहण का आदेश होने पर भी उस के आम नीम आदि किसी विशेषरूप का ही ग्रहण किया जाता है, वनस्पति सामान्य का नहीं। अतः सामान्य रूप में भी विशेष का ही ग्रहण शक्य है और इष्ट है। चार्वाक दर्शन ने इसी नय को अंगीकार किया है।

४. ऋजुसूत्र नय—वस्तु के केवल पर्याय को ही मानता है, अतीत और अनागत को नहीं, उस के मत में वस्तु के अतीत पर्याय का नाश होने से वर्तमान में उस का अभाव है, और भविष्यत् काल के पर्याय की अभी तक उत्पत्ति ही

२. संग्रह—अनेक पदार्थों में एकत्व बुद्धि का समर्थक संग्रह नय है, संग्रह नय वस्तु के केवल सामान्यधर्म—सत्ता को ही स्वीकार करता है, उस के मत में सामान्य से अतिरिक्त किसी विशेष धर्म की सत्ता स्वीकृत नहीं। आम नीम आदि भिन्न भिन्न सभी प्रकार के वृक्षों का जैसे वनस्पति शब्द से ग्रहण होता है, उसी प्रकार विशेष धर्मों का सामान्य—सत्तारूप से यह नय संग्रह करता है। अतः इस नय के अनुसार सामान्य से अतिरिक्त विशेष नाम का कोई धर्म नहीं है। वेदांत और सांख्य दर्शन ने इसी नय को स्वीकार किया है।

३. व्यवहार नय—वस्तु में रहे हुए सामान्य और विशेष इन दो में से केवल विशेष धर्म को ही मानता है, उस के मत में विशेष से अतिरिक्त सामान्य कोई वस्तु नहीं। जैसे कि वनस्पति के ग्रहण का आदेश होने पर भी उस के आम नीम आदि किसी विशेषरूप का ही ग्रहण किया जाता है, वनस्पति सामान्य का नहीं। अतः सामान्य रूप में भी विशेष का ही ग्रहण शक्य है और इष्ट है। चार्वाक दर्शन ने इसी नय को अंगीकार किया है।

४. ऋजुसूत्र नय—वस्तु के केवल पर्याय को ही मानता है, अतीत और अनागत को नहीं, उस के मत में वस्तु के अतीत पर्याय का नाश होने से वर्तमान में उस का अभाव है, और भविष्यत् काल के पर्याय की अभी तक उत्पत्ति ही

वैयाकरणों को यही नय मान्य है।

६. समभिरूढ़—पर्यायवाचक शब्दों के भेद से वाच्यार्थ में भी भेद कल्पना करने की पद्धति को समभिरूढ़ कहते हैं। इस नय के मत में घट शब्द के वाच्यार्थ घटरूप पदार्थ से कुम्भ शब्द के वाच्यरूप कुंभ पदार्थ में भेद है, अतः घट, कुम्भ और कलश में जहां शब्द नय के अनुसार अभेद है, वहां समभिरूढ़ नय के मत में भिन्नता है, क्योंकि इन में व्युत्पत्ति के द्वारा जो अर्थ ध्वनित होता है, वह इन के सहज भेद का नियामक है। वैयाकरणों ने इसी नय का अनुसरण किया है।

७. एवंभूत—व्युत्पत्ति द्वारा उपलब्ध होने वाला अर्थ जिस समय वाच्य पदार्थ में घट रहा हो, उसी समय उस का शब्द के द्वारा निर्देश करना एवंभूत नय है। जैसे घट को उसी समय पर घट कहना चाहिये, जब कि उस में जल भरा हो, और किसी व्यक्ति द्वारा मस्तक पर उठाया हुआ घट घट शब्द करे। यह नय केवल विशुद्ध भाव को लेकर प्रवृत्त होता है।

परिशिष्ट नं० २—क

[पृ० १०३]

ख्यातिवाद

जहां पर रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत—चांदी का भ्रम होता है; वहां पर दार्शनिकों के भिन्न २ मत हैं, जो कि

वैयाकरणों को यही नय मान्य है।

६. समभिरूढ़—पर्यायवाचक शब्दों के भेद से वाच्यार्थ में भी भेद कल्पना करने की पद्धति को समभिरूढ़ कहते हैं। इस नय के मत में घट शब्द के वाच्यार्थ घटरूप पदार्थ से कुम्भ शब्द के वाच्यरूप कुंभ पदार्थ में भेद है, अतः घट, कुम्भ और कलश में जहां शब्द नय के अनुसार अभेद है, वहां समभिरूढ़ नय के मत में भिन्नता है, क्योंकि इन में व्युत्पत्ति के द्वारा जो अर्थ ध्वनित होता है, वह इन के सहज भेद का नियामक है। वैयाकरणों ने इसी नय का अनुसरण किया है।

७. एवंभूत—व्युत्पत्ति द्वारा उपलब्ध होने वाला अर्थ जिस समय वाच्य पदार्थ में घट रहा हो, उसी समय उस का शब्द के द्वारा निर्देश करना एवंभूत नय है। जैसे घट को उसी समय पर घट कहना चाहिये, जब कि उस में जल भरा हो, और किसी व्यक्ति द्वारा मस्तक पर उठाया हुआ घट घट शब्द करे। यह नय केवल विशुद्ध भाव को लेकर प्रवृत्त होता है।

परिशिष्ट नं० २—क

[पृ० १०३]

ख्यातिवाद

जहां पर रज्जु में सर्प और शुक्ति में रजत—चांदी का भ्रम होता है; वहां पर दार्शनिकों के भिन्न २ मत हैं, जो कि

में बुद्धि से अतिरिक्त रजत कोई नहीं, किन्तु बुद्धि ही सर्व पदार्थ के आकार को धारण करती है। और वह बुद्धि क्षणिक विज्ञान स्वरूप है, जो कि क्षण क्षण में उत्पन्न और विनष्ट होता है, इस लिये क्षणिक विज्ञान ही सर्व रूप से सर्वत्र प्रतीत होता है, इसी का नाम आत्मख्याति है, आत्मा-क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि, उस की सर्वरूप से ख्याति-भान अथवा कथन, आत्मख्याति है।

४. अन्यथाख्याति—यह नैयायिकों और वैशेषिकों का मत है। उन के सिद्धान्त में सराफ की दुकान पर देखी गई सत्य रजत का नेत्रगत दोष के प्रभाव से शुक्ति के स्थान में प्रतीति होना अर्थात् दुकान पर पडी हुई चांदी का, अन्यथा—सन्मुख में भान होना, इस का नाम अन्यथा-ख्याति है। और चिन्तामणिकार का कथन है कि दुकान पर पडी हुई चांदी का सन्मुख में भान नहीं होता, किन्तु नेत्रगत दोष से शुक्ति का ही अन्यथा-अन्यप्रकार से-रजत के आकार से प्रतीत होना अन्यथाख्याति है।

५. अख्याति—इस मत का समर्थक सांख्य और प्रभाकर को माना गया है। इन के विचार से शुक्ति में जहां रजत का भ्रम होता है, वहां पर दो ज्ञान हैं-एक प्रत्यक्ष, दूसरा स्मृति रूप। शुक्ति का ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और रजत की स्मृति होती है, परन्तु नेत्र के दोष से वह भिन्न २ ज्ञान एक हो कर भासता है, इसी का नाम अख्याति अथवा भ्रम है।

में बुद्धि से अतिरिक्त रजत कोई नहीं, किन्तु बुद्धि ही सर्व पदार्थ के आकार को धारण करती है। और वह बुद्धि क्षणिक विज्ञान स्वरूप है, जो कि क्षण क्षण में उत्पन्न और विनष्ट होता है, इस लिये क्षणिक विज्ञान ही सर्व रूप से सर्वत्र प्रतीत होता है, इसी का नाम आत्मख्याति है, आत्मा-क्षणिक विज्ञानरूप बुद्धि, उस की सर्वरूप से ख्याति-भान अथवा कथन, आत्मख्याति है।

४. अन्यथाख्याति—यह नैयायिकों और वैशेषिकों का मत है। उन के सिद्धान्त में सराफ की दुकान पर देखी गई सत्य रजत का नेत्रगत दोष के प्रभाव से शुक्ति के स्थान में प्रतीति होना अर्थात् दुकान पर पड़ी हुई चांदी का, अन्यथा—सन्मुख में भान होना, इस का नाम अन्यथा-ख्याति है। और चिन्तामणिकार का कथन है कि दुकान पर पड़ी हुई चांदी का सन्मुख में भान नहीं होता, किन्तु नेत्रगत दोष से शुक्ति का ही अन्यथा-अन्यप्रकार से-रजत के आकार से प्रतीत होना अन्यथाख्याति है।

५. अख्याति—इस मत का समर्थक सांख्य और प्रभाकर को माना गया है। इन के विचार से शुक्ति में जहां रजत का भ्रम होता है, वहां पर दो ज्ञान हैं-एक प्रत्यक्ष, दूसरा स्मृति रूप। शुक्ति का ज्ञान तो प्रत्यक्ष है और रजत की स्मृति होती है, परन्तु नेत्र के दोष से वह भिन्न २ ज्ञान एक हो कर भासता है, इसी का नाम अख्याति अथवा भ्रम है।

अनिर्वचनीय रजत आदि की जो ख्याति अर्थात् भान होना उस का नाम अनिर्वचनीय ख्याति है। इस प्रकार भ्रमस्थल में दार्शनिकों के छः मत हैं, जिन का अति संक्षेप से वर्णन किया गया है।

परिशिष्ट नं० २--ख

[पृ० ३६६]

वैध हिंसा निषेधक वचन

वैधयज्ञों—जिन में हिंसा की प्रचुरता देखने में आती है-को जैनों के अतिरिक्त उपनिषद् और महाभारत आदि में भी गर्हित बतलाया है। यथा—

१.-(क) प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनंदन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यंति ॥७॥

(ख) इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं,
नान्यच्छ्रेयो वेदयंते प्रमूढाः।

अनिर्वचनीय रजत आदि की जो ख्याति अर्थात् भान होना उस का नाम अनिर्वचनीय ख्याति है। इस प्रकार भ्रमस्थल में दार्शनिकों के छः मत हैं, जिन का अति संक्षेप से वर्णन किया गया है।

परिशिष्ट नं० २–ख

[पृ० ३६९]

वैध हिंसा निषेधक वचन

वैधयज्ञों—जिन में हिंसा की प्रचुरता देखने में आती है—को जैनों के अतिरिक्त उपनिषद् और महाभारत आदि में भी गर्हित बतलाया है। यथा—

१.– (क) प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनंदन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यंति ॥७॥

(ख) इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं,
नान्यच्छ्रेयो वेदयंते प्रमूढाः।

* अव्यवस्थितमर्यादैर्मूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैः हिंसा समनुवर्णिता ॥६॥
† सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥७॥
तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा एव सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥८॥
[शां० प० अ० २७१]

इन श्लोकों का भावार्थ यह है कि मर्यादा रहित, मूढ़ और नास्तिक पुरुषों ने तथा जिन को आत्मा के विषय में संशय है और यज्ञादि अनुष्ठान से प्रसिद्धि की इच्छा रखते हैं, उन्होंने ही यज्ञों में पशुओं की हिंसा को श्रेष्ठ कहा अथवा माना है। जिस प्रकार अन्यत्र, लोग अपनी इच्छा से पशुओं का वध करते हैं, उसी प्रकार ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में भी

* नास्तिकैः—नास्ति ब्रह्मेति वदद्भिः संशयात्मभि.—आत्मा देहोऽन्यो वा, अव्यक्तैः—यज्ञादिद्वारैव ख्यातिमिच्छद्भिः, हिंसा—क्रतौ पश्वालंभः श्रेष्ठः कृतः ॥६॥

† बहिर्वेद्यामिव ज्योतिष्टोमादिष्वपि नराः कामकारादेव पशून् हिंसंति न तु शास्त्रात् यतो धर्मात्मा मनुः सर्ववेदार्थतत्त्ववित् अहिंसामेवाब्रवीत्-प्रशशंस [टीकायां नीलकण्ठाचार्यैः]

* अव्यवस्थितमर्यादैर्मूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तै हिंसा समनुवर्णिता ॥६॥
† सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥७॥
तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा एव सर्वेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥८॥

[शां० प० अ० २७१]

इन श्लोकों का भावार्थ यह है कि मर्यादा रहित, मूढ़ और नास्तिक पुरुषों ने तथा जिन को आत्मा के विषय में संशय है और यज्ञादि अनुष्ठान से प्रसिद्धि की इच्छा रखते हैं, उन्होंने ही यज्ञों में पशुओं की हिंसा को श्रेष्ठ कहा अथवा माना है । जिस प्रकार अन्यत्र, लोग अपनी इच्छा से पशुओं का वध करते हैं, उसी प्रकार ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में भी

* नास्तिकैः—नास्ति ब्रह्मेति वदद्भिः संशयात्मभि.—आत्मा देहोऽन्यो वा, अव्यक्तैः—यज्ञादिद्वारैव ख्यातिमिच्छद्भिः, हिंसा—क्रतौ पश्वालंभः श्रेष्ठः कृतः ॥६॥

† बहिर्वेद्यामिव ज्योतिष्टोमादिष्वपि नराः कामकारादेव पशून् हिंसंति न तु शास्त्रात् यतो धर्मात्मा मनुः सर्ववेदार्थतत्त्वज्ञित अहिंसामेवाब्रवीत्-प्रशशंस [टीकायां नीलकण्ठाचार्यः]

यज्ञानुष्ठान के लिये पिता का आदेश होने पर पुत्र कहता है कि मेरे जैसा धर्मात्मा पुरुष पिशाच की तरह इन हिंसक यज्ञों का अनुष्ठान किस प्रकार कर सकता है। इत्यादि अनेक स्थानों पर वैध यज्ञों को गर्हित ठहराया गया है। इस के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी इन यज्ञों की अवगणना की गई है परन्तु विज्ञजनों के लिये इतना ही पर्याप्त है।

यज्ञानुष्ठान के लिये पिता का आदेश होने पर पुत्र कहता है कि मेरे जैसा धर्मात्मा पुरुष पिशाच की तरह इन हिंसक यज्ञों का अनुष्ठान किस प्रकार कर सकता है। इत्यादि अनेक स्थानों पर वैध यज्ञों को गर्हित ठहराया गया है। इस के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी इन यज्ञों की अवगणना की गई है परन्तु विज्ञजनों के लिये इतना ही पर्याप्त है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	३	अदश्य	अदृश्य
१४०	२	प्रबृत्त	प्रवृत्त
१४३	१८	अग्नि में ल	अग्नि में जल
१५४	११	विश्वता बाहु	विश्वतो बाहु
,,	१५	च्यापक	व्यापक
१५७	१७	ईश्वर चर्चा	ईश्वर चर्चा
१५८	१६	ह,	है,
१६६	१८	जीब	जीव
१६९	११	सा	सो
१७१	१	पथ्यकारा	पथ्यकारी
१७६	३	पूवक	पूर्वक
१८४	१७	शाद	शब्द
१९६	१५	पलक	फलक
१९७	१६	तथा स्त्रा	तथा स्त्री
२०८	१५	सद्गति	सद्गति
२०९	१	नहां हैं	नहीं हैं
२०९	१९	जी जीव	जो जीव
२१२	२१	पांचां	पांचों
२१६	११	अरु जी	अरु जो
२२४	१७	सुहसीला	सुहसीलो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३६	३	अदश्य	अदृश्य
१४०	२	प्रबृत्त	प्रवृत्त
१४३	१८	अग्नि में ल	अग्नि में जल
१५४	११	विश्वता बाहु	विश्वतो बाहु
,,	१५	व्यापक	व्यापक
१५७	१७	ईश्वर चर्चा	ईश्वर चर्चा
१५८	१६	ह,	है,
१६६	१८	जीब	जीव
१६९	११	सा	सो
१७१	१	पथ्यकारा	पथ्यकारी
१७६	३	पूवक	पूर्वक
१८४	१७	शद्	शब्द
१९६	१५	पलक	फलक
१९७	१६	तथा स्त्रा	तथा स्त्री
२०८	१५	सद्गति	सद्गति
२०९	१	नहां हैं	नहीं हैं
२०९	१९	जी जीव	जो जीव
२१२	२१	पांचां	पांचों
२१६	११	अरु जी	अरु जो
२२४	१७	सुहसीला	सुहसीलो

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	१०	तोन रूप	तीन रूप
३१४	१०	तृष्ण	तृष्णा
३२३	२	अतातानागत	अतीतानागत
,,	५	मेघान्नति	मेघोन्नति
३२६	१६	द्वि० द्वा०	द्वा० द्वा०
३३५	१६	का भी	को भी
३५१	११	संगृहति	संगृहीन
३६०	१२	वंध्या भ है	वंध्या भी है
३६१	११	वो जी	वो जीव
३७२	६	अंधेतमासि	अंधेतमसि
३७४	४	नहिं	नहीं
३८१	४	आर	और
३८३	८	प्राति	प्रीति
३६०	२२	शा० स०स्तु०	शा० स० स्त०
३६४	८	उत्पन्न	उत्पन्न
३६७	२	ज्ञन	ज्ञान
४०३	१६	यस्यक्	सम्यक्
४३३	१६	शोव	शोच
४३८	८	तीनों के	तिनों के
४८०	६	जोव के	जीव के

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	१०	तोन रूप	तीन रूप
३१४	१०	तृष्ण	तृष्णा
३२३	२	अतातानागत	अतीतानागत
,,	५	मेघान्नति	मेघोन्नति
३२६	१६	द्वि० द्वा०	द्वा० द्वा०
३३५	१६	का भी	को भी
३५१	११	संगृहति	संगृहीत
३६०	१२	वंध्या भ है	वंध्या भी है
३६१	११	वो जी	वो जीव
३७२	६	अंधेतमासि	अंधेतमसि
३७४	४	नाहिं	नहीं
३८१	४	आर	और
३८३	८	प्राति	प्रीति
३६०	२२	शा० स०स्तु०	शा० स० स्त०
३६४	८	उत्पन्न	उत्पन्न
३६७	२	ज्ञन	ज्ञान
४०३	१६	यस्यक्	सम्यक्
४३३	१६	शोव	शोच
४३८	८	तीनों के	तिनों के
४८०	६	जोव के	जीव के